

समयसार प्रवचन

छठा भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।

चक्षुरुन्मीलित येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

प्रत्येक संसारी जीव सुखको चाहता है और दुःखसे डरता है और उपाय भी सुख पाने व दुःखसे दूर हटनेके ख्यालसे करता है, किन्तु न अब तक यह सुख पा सका और न दुःख दूर कर सका। आचार्य देव कहते हैं कि सुख पानेके लिए शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूपकी उपलब्धि करना चाहिए और दुःखसे हटनेके लिये भ्रमभावसे, मिथ्यात्वभावोंसे हटना चाहिये।

जीवके भ्रमका सहयोगी—जीवके अज्ञानका सम्बन्ध मुख्तया २ प्रसंगोंमें होता है। एक तो अपनेको परपदार्थों का स्वामी माना और दूसरे परपदार्थोंका कर्ता माना। ये दो भ्रम ऐसे हैं कि जीवके स्वरूपपर ये यथार्थतया दृष्टि नहीं डालने देते। इस भ्रमके होनेका कुछ सम्बन्ध इसलिए भी हो गया है कि पदार्थके विकार परिणमनमें दूसरे पदार्थका विकार परिणमन निमित्त होता है। कुछ भी बात न हो और कोई एकदम भ्रम कर बैठे ऐसा तो है नहीं। जीवके विकारका कर्मोदयके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। इस निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धमें उपादानकी एक विशेषता है कि वह किसी अन्य पदार्थका निमित्त पाकर स्वयं विकृत परिणम जाता है। वह भी निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। इस आधारपर कर्ता कर्मका भाव बन गया। कर्ताकर्मभावके भ्रमपर ही यह कर्मबन्धकी प्रगति चल रही है।

ऐसा इस समयसार में एक पृथक् कर्तृ-कर्म भावका अधिकार देकर स्पष्ट किया है कि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ कर्ता कर्म सम्बन्ध नहीं है। सभी द्रव्य अपना-अपना अस्तित्व रखते हैं। यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका करने वाला हो जाय तो उसपर क्या आपत्ति है इस बातको अब इस गाथामें कहते हैं।

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज ।

जम्हा णा तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥ ९९ ॥

अन्तर्बाह्य दोनों दृष्टियोंसे कर्तव्यका निषेध—यदि यह आत्मा पर द्रव्योंको करने लगे तो यह आत्मा परद्रव्यमय हो जावेगा, परन्तु परद्रव्यमय आत्मा होता नहीं, क्योंकि आज भी यह आत्मा अपने ही द्रव्य स्वरूप है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह आत्मा पर द्रव्यका कर्ता नहीं है। आत्माके कर्तृत्वका निषेध दो दृष्टियोंसे किया जा रहा है। एक तो यह कि यह आत्मा उपादानसे परका कर्ता

नहीं है और अगली गाथा में यह बताया जायगा कि निमित्त नैमित्तिक भावसे भी आत्मा परका कर्ता नहीं है। उपादान दृष्टिसे कर्तृत्वके निषेधके मायने यह है कि यह आत्मा अपनी ही परिणतिको परमें सौंपकर परका परिणमाने वाला होता हो ऐसा नहीं है। जैसे किसी पुरुषने गाली दिया और दूसरा पुरुष क्रोधमें आ गया तो गाली देनेवाले पुरुषने अपना परिणमन गुस्से वालेमें डाला हो ऐसा नहीं दिखता है। गाली देने वाला अपनी ही जगहपर खड़ा हुआ, अपने ही शरीर में, प्रदेश में रहता हुआ मात्र अपना परिणमन कर पाता है। इससे आगे गाली देनेवालेने और कुछ नहीं किया। यह सुननेवाला उस गाली देनेवालेके शब्दोंका ज्ञान करके और साथ ही अपने बारेमें विकल्प मचा करके कि इसने मेरा अपमान किया है, चार आदमियोंमें इस तरह बोल रहा है अपने ही बारेमें अपना विकल्प बनाकर गुस्सा करता है। एक द्रव्यने अपना परिणमन दूसरे द्रव्यमें डालकर कुछ किया हो ऐसा न तो आज तक हुआ, न हो रहा है और न होगा।

आत्माकी अतिसूक्ष्मता—भैया! यह आत्मा अमूर्तिक है, रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित है, ज्ञानानन्दगुणमय है। भावात्मक यह पदार्थ है। यह भावात्मक चेतन पदार्थ कुछ कर पाता है तो मात्र भावात्मक परिणमन करता है। इसका आकार नहीं, कोई पिण्ड नहीं, इसकीकोई टक्कर किसीसे नहीं होती। किसी अन्य पदार्थसे इसका सम्बन्ध नहीं होता। यह तो एक भावात्मक चीज है। यह भावात्मक आत्मा मात्र अपना भाव कर सकता है, किसी परद्रव्यको तो छू भी नहीं सकता। जैसे कोई चीज बादलों से पार हो जाय तो बादलसे टक्कर नहीं होती, क्योंकि वह बादल कठिन पिण्डरूप नहीं है, वह भापरूप है, उससे भी सूक्ष्म धुवां है। धुवांसे कोई चीज निकल जाय तो टक्कर नहीं लगती। धुवांसे भी सूक्ष्म चीज हवा है। हवासे कोई घन चीज निकल जाये तो उससे मुठभेड़ नहीं होती। उससे भी सूक्ष्म अन्य पौद्गलिक तत्व है, उनसे भी ठोस चीज निकल जाये तो कोई आक्रमण नहीं होता है। जगतमें जितने भी सूक्ष्म मैटर हैं उनसे भी कई गुणा अत्यन्त सूक्ष्म जीव है। यह जीव रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित है ऐसा अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञानानन्दमय आत्मा है। यह न शरीरको छूता है न कर्मोंको छूता है, न कुटुम्बको न घरको, न पैसोंको, किसीको छू नहीं सकता।

आत्माकी भावमयता—भैया! यह आत्मा तो सर्वत्र भावात्मक रूप रह रहा है। यह भावात्मक चेतन अपनी ही परिणतिसे परिणमय अपनेमें अपना परिणमन समाप्त कर लेता है। इससे बाहर इसकी गति नहीं है। यह पर द्रव्योंको कभी नहीं कर सकता। फिर भी कोई हठसे परद्रव्योंका कर्ता आत्माको माने तो उसका अर्थ यह है इस उपादान प्रसंगका कि आत्मा परमय हो गया। जो पदार्थ जिस कार्य को करता है, जिस पदार्थका करता है वह उसमें तन्मय होता है। अंगुली सीधी है तो अंगुली सीधीमें तन्मय है। ऐसा नहीं है कि सीधापन अलग पड़ा हो और अंगुली अलग रखी हो। अंगुली-अंगुलीको टेढ़ी करदे तो अंगुली टेढ़ीमें तन्मय है। ऐसा नहीं कि वह टेढ़ी अगल रखी हुई हो और यह अंगुली अगल रखी हो। अंगुली ही टेढ़ी अवस्थामें परिणत होती है। अतः अंगुली टेढ़ी है। अंगुलीको अंगुलीने टेढ़ी किया इसका अर्थ यह है कि समस्त अंगुली इस समय टेढ़मय है।

आत्माकी परद्रव्यमयताका निषेध—जो जिसकी करता है वह उसमें तन्मय होता है। यदि यह जीव किसी परद्रव्यको, कर्मोंको अन्य पदार्थोंको करे तो इसका अर्थ है कि यह आत्मा परद्रव्यमय हो गया। पर कहीं दिखता भी है कि कोई आत्मा परद्रव्यमय हो गया हो। जब आत्मा परद्रव्यमय नहीं होता है तो इससे सिद्ध होता है कि आत्मा परद्रव्योंका कर्ता नहीं है। यदि यह आत्मा परद्रव्यमय कर्मोंको करता होता तो एक नियम है कि परिणाम और परिणामी भाव भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें नहीं हुआ करते। अथवा आत्मा परद्रव्योंको करने लगे तो परिणाम और परिणामी भावका अभाव ही हो जाएगा। इस कारण दुःखरूप तो परिणाम नहीं, खुद बन बैठा दूसरे रूप, किन्तु ऐसा होता नहीं। प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है, अपने आपके प्रदेशमें, अपने आपकी शक्ति से ही परिणमता है। इस कारण यह सिद्ध है कि यदि यह आत्मा परद्रव्यात्मक कार्योंको करे तो उसको परद्रव्यमय हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा कभी होता नहीं।

परद्रव्यमयतामें स्वका उच्छेद—भैया! कोई कहे कि हो जाए परद्रव्यमय आत्मा हमारा क्या जाता, बात तो रह जायगी। कहते हैं कि कोई पदार्थ परद्रव्यमय है तो उस पदार्थका ही विनाश हो गया। इस कारण आत्मा व्यापक भावसे परद्रव्योंका कर्ता नहीं है, परिणाम परिणामी भावसे परद्रव्योंका कर्ता नहीं है, आत्मा अपने आपको ही करता है, चाहे जिस रूपसे करे, परद्रव्य, परद्रव्यको ही करता है चाहे किसी भी रूप में करे। आत्मा परद्रव्योंका कर्ता कदाचित् भी नहीं है। यह निश्चय दृष्टिका कथन चल रहा है। निश्चय दृष्टिमें द्रव्य केवल दिख जाया करते हैं केवल एक पदार्थको देखा तो वह एक दीख रहा है और यह भी दीख रहा है कि यह निरन्तर परिणमता जाता है। जो परिणमता है वह तो उसका कार्य और जो परिणम गया वह है कर्ता।

अन्योन्यकर्तृत्वका निषेध—कर्ताकर्मभाव एकका दूसरे पदार्थ में नहीं होता, परन्तु संसारमें रुलाने का कारण यह है कि बुद्धिमें यह बैठा हुआ है कि मैं किसी परद्रव्यको कर देता हूँ, मैं मकान बनवाता हूँ, मैं दूकान चलाता हूँ, मैं घरके इतने आदमियोंको पालता पोषता हूँ, मैं इतने गरीबोंकी रक्षा किया करता हूँ इत्यादि नाना प्रकार की परद्रव्योंमें कर्तृव्य बुद्धि लगी है। किन्तु जैसे तुम भगवत्स्वरूप हो इसी प्रकार ये गरीब लोग भी, व्यवहार में आश्रय लेने वाले लोग भी भगवत्स्वरूप हैं। और इतना ही नहीं है, ये कीड़े-मकोड़ोंके भवमें रहने वाले जीव भी भगवत्स्वरूप हैं। ये पेड़-पौधे जो खड़े हैं, जो अत्यंत लाचार हैं इन्हें कोई तोड़ ले, काटले, बनाले, छेदले, अपनी ओरसे ये जरा भी हरकत नहीं कर सकते हैं, ये भी भगवत्स्वरूप हैं। पर इन जीवोंकी अपनी अपनी भ्रांति और करतूतका यह फल है कि कोई किसी हीन अवस्था में, कोई किसी हीन अवस्था में रहकर क्लेश भोग रहा है।

स्वभावकी अपरिणामिता—कोई भी जीव हो हीन अवस्था में आत्मा किन्तु स्वभाव कभी नहीं बदला जा सकता है। स्वभाव स्वभाव ही रहेगा। यह ज्ञायक स्वभाव यह चैतन्य भाव उनका यह वही है जो सिद्ध प्रभुका है। अन्तर केवल विकाशमें है। कहो आज जो पेड़के रूपमें खड़ा है

२० साल बाद यह मोक्ष में पहुँच जाये। कोई आश्चर्य नहीं है। मनुष्य भव पाये और २० साल तो बहुत अधिक हैं, ८ वर्ष बाद कही मोक्षमार्ग में लग जाये और थोड़े ही दिनों बाद केवली बन जाय। हम किस जीवको हीन समझें और संसारके नातेसे हम किसको बड़ा समझें। आज जिसे बहुत बड़ा माना जाता है कही दो मिनट बाद उसे नरकमें पड़ा हुआ जान सकते हैं। तो यहाँ किसे छोटा माना जाय और किसे बड़ा माना जाय।

सर्वजीवोंमें शक्तिकी समानता—भैया! शक्तिकी सर्वजीवों में समानता है। असंख्य जीवोंमें भी केवल ज्ञानकी शक्ति पड़ी हुई है। यदि अभव्यमें केवलज्ञानकी शक्ति न हो तो तो द्रव्य ६ तरहके न होकर ७ तरहके बन जाते। यों जीवके तो दो हिस्से हो जाते और पदार्थ ६ की जगहपर ७ तरहके हो जाते। केवलज्ञानकी शक्ति से अभावसे ये अभव्य नहीं कहलाते, किन्तु शक्तिकी व्यक्ति कभी भी न हो सकनेसे, शक्तिकी व्यक्तिकी शक्ति न होनेसे इनको अभव्य कहा जाता है। जैसे केवलज्ञानावरण कर्म भव्य जीवोंपर लगे हुए हैं, इसी प्रकार केवलज्ञानावरण अभव्य जीवोंपर भी लगे हुए हैं। यदि अभव्य जीवों में केवलज्ञानकी शक्ति न हो तो जीवमें ज्ञानावरणके लदनेकी क्या आवश्यकता थी। वहाँ डर ही न था कि यह केवली बन जायेगा। तो केवल ज्ञानावरण कर्म क्यों बंधते। जगतके सर्व जीवोंमें एक ही स्वभाव है चित्स्वभाव।

जीवका स्वरूप—भैया! चित्स्वभावको जब निरखा जाता है तो वहाँ संसार और मोक्ष भी नहीं देखा जाता है। जीवके स्वरूपको यदि देखो तो वहाँ न संसार है, न मोक्ष है। संसार और मोक्ष तो एक प्रक्रियाएं हैं, स्वरूप नहीं है। स्वरूप तो अपना जीवका चित्स्वभाव है निश्चयक सीमामें। व्यवहारसे भी देखो तो यह जीव अपने आपका ही कर्ता है, किसी अन्य पदार्थका कर्ता नहीं है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपके ही परिणमनका कर्ता होता है, किसी भी परद्रव्यका कर्ता नहीं होता। इसी प्रकार चूँकि यह जीव सहज शुद्ध स्वाभाविक ज्ञानानन्दस्वरूपको छोड़कर परद्रव्योंके साथ तन्मय नहीं होता, इस कारण यह आत्मा उन परद्रव्योंका उपादानरूप से कर्ता नहीं होता। अब यह बतलाते हैं कि आत्मा परद्रव्योंका उपादान रूपसे तो कर्ता है ही नहीं, किन्तु निमित्त नैमित्तिक भावसे भी आत्मा परद्रव्यका कर्ता नहीं है।

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।

जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥

यह जीव घटपट और मकान आदि अनके द्रव्यों, सभी परद्रव्योंका कर्ता नहीं है, परद्रव्योंको निमित्त रूपसे भी जीवका योग और उपयोग करता है, जीव करता नहीं है।

दृष्टान्तपूर्वक आत्माके परविविवक्ताकी सिद्धि—जैसे लोग कहने लगते हैं कि पापीसे घृणा मत करो, पापसे घृणा करो क्योंकि पापीका अपराध नहीं है, अपराध पापका है। इसी प्रकार घड़ा वस्त्र या पेंच पुर्जा जो कुछ भी बनाये जाते हैं वहाँ पर कारीगर का आत्मा कर्ता नहीं है, किन्तु

कारीगरके आत्मामें जो योग और उपयोग हुआ है, इच्छा हुई है, प्रदेशपरिस्पंद हुआ है वह निमित्त नैमित्तिक रूपसे कर्ता है, उपादान रूपसे तो न कारीगर का आत्मा कर्ता है, न शरीर कर्ता है, न इच्छा कर्ता है, न ज्ञान कर्ता है। उपादान रूपसे तो कुछ भी कर्ता नहीं है। क्या पेंच पुर्जा बनानेपर कारीगर उसका कर्ता हो गया? नहीं। कारीगर अपनेमें अपना श्रम कर रहा है, पेंच पुर्जे अपने आपमें घट बढ़ रहे हैं। कोई किसीमें तन्मय नहीं होता। तो व्यापनेकी दृष्टिसे तो यह कर्ता है ही नहीं, किन्तु निमित्त नैमित्तिक भावों से भी आत्मा कर्ता नहीं है। जीवके स्वरूपका निमित्त पाकर ये घटपट मकान नहीं बने, किन्तु जीवमें इच्छा हुई, ज्ञान हुआ प्रदेश परिस्पंद हुआ, भावना हुई, विकार हुआ उसका निमित्त पाकर धीरे-धीरे परम्परामें वह कार्य होने लगा।

निमित्त दृष्टिसे योग व उपायोगमें कर्तृत्व—निमित्तकी दृष्टिसे भी जीव कर्ता नहीं है, किन्तु वहाँ जीवका योग और उपयोग कर्ता है। यह जीवद्रव्य न कर्मोंका निमित्तरूपसे कर्ता है, न पुद्गलका न शरीरका, न किसी बाह्य वस्तुका। केवल उनका योग और उपयोग ही उत्पादक है। योग और उपयोग तो अवस्थ है और जीव स्वयं द्रव्य है। स्वयं यदि निमित्त रूपसे परका कर्ता बन जाय तो निरन्तर परका कर्ता रहना चाहिये, क्योंकि स्वरूप सदा है, किन्तु योग उपयोग सदा नहीं रहते अतः किसी वस्तुके करने विषयक योग और उपयोग हो तब वह वस्तु बनी रहती है और योग उपयोग मिट गया तो वह नहीं बनती है। वही चाक पड़ा है वहीं गीली मिट्टी पड़ी है, चाकपर मिट्टी रख दिया। घड़ा बन हो रहा था इतनेमें घड़ा वालेसे और उसके बापसे लड़ाई होगई, बस वह उठकर चला गया और खाटपर पैर पसारकर सो गया। कुम्हार यदि घड़ेको बनाता होता तो कुम्हार तो अब भी है, घड़े क्यों नहीं बनते? घड़ेके बनानेमें कुम्हार निमित्त नहीं है, कुम्हारकी क्रिया निमित्त है। अब उसकी क्रिया नहीं हो रही है, वह खाटपर सो रहा है घड़े नहीं बन रहे हैं। इसी प्रकार कर्म नोकर्मकी रचनामें जीव निमित्त नहीं है, किन्तु जीव का योग और उपयोग निमित्त है।

ज्ञानी सन्तकी भद्र दृष्टि—इसी प्रकार निमित्तरूपसे देखा जाय तो जीव कर्ता नहीं है, उपादानसे भी देखो कर्ता नहीं है। यह ज्ञानी संतपुरुष निज जीवद्रव्यको सर्वथा अकर्ता देखता रहता है। निज जीवको चित्स्वभावमय निर्णय करके इसको अकर्ता तक रहा है। यह अनादि अनन्त अहेतुक शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व किसी भी पर द्रव्यका न तो उपादानसे कर्ता है और न निमित्तरूपसे कर्ता है। जो ये घट आदिक क्रोधादिक परद्रव्यात्मक कर्म है उनका यह आत्मा व्याप्यव्यापक भावसे करता है ही नहीं, क्योंकि यदि व्याप्यव्यापक भावसे अर्थात् उपादानरूपसे या यों कहिए परिणाम परिणामी भावसे कर्ता बन जाय तो आत्माको परपदार्थमय बनना पड़ेगा। सो यह आत्मा घट आदिकका, और क्रोधादिकका उपादानसे तो कर्ता है ही नहीं, पर यह जीव निमित्त नैमित्तिक भावसे परभावका कर्ता बन जाय तो सदा कार्य है ही नहीं, पर यह जीव निमित्त नैमित्तिक भावसे परभावका कर्ता बन जाय तो सदा कार्य होते रहना चाहिये और परद्रव्योंका सदा कर्ता बना

रहना चाहिये। सो ऐसा देखा नहीं जाता। इससे सिद्ध है कि यह आत्मा परद्रव्यों का निमित्त नैमित्तिक भावसे भी कर्ता नहीं है। तब कौन कर्ता है इस बातको इस ही गाथाको दूसरी पंक्तिमें कहा जाता है।

विकारका विकारमें निमित्तत्व—द्रव्य द्रव्यका कर्ता नहीं होता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका उपादानसे भी कर्ता नहीं है और निमित्तसे भी कर्ता नहीं है, किन्तु एक द्रव्यका विकारी परिणमन दूसरे द्रव्यके विकारी परिणमनका निमित्त होता है। जीवद्रव्य कर्मप्रकृतिका निमित्त भी नहीं है। किन्तु जीवद्रव्यका योग और उपयोग कर्मबंधका निमित्त होता है तो निमित्तदृष्टिसे योग और उपयोग ही कर्ता होता है और उपयोग योग जो है वे हैं आत्माके विकल्प और व्यापार। योग तो है आत्माका व्यापार, आत्माकी चेष्टा, प्रदेशपरिस्पंद, क्रिया और उपयोग है आत्माका विकल्प, सो इनका यह अज्ञानसे ही विधाता होता है, कर्ता होता है, अतः यह जब योग और उपयोग है उनके तब तो जीवको कर्ता कह सकते हैं उपादान दृष्टिसे, क्योंकि एक ही द्रव्य में विकल्प और व्यापार होते हैं। सो इस आत्माको योग और उपयोगका करनेवाला तो कदाचित् कहा जा सकता है, किन्तु परद्रव्यात्मक कार्यको करनेवाला आत्माको नहीं कहा जा सकता।

द्रव्यके कर्तृत्वका निषेध—यहाँ द्रव्य और पर्यायका विश्लेषण करके कथन है। द्रव्यकी क्रियाका नाम जीवद्रव्य नहीं है, किन्तु वह जीवद्रव्यका योग और उपयोग है। हां योग और उपयोगका जीवद्रव्य कदाचित् कर्ता होता है। नित्य कर्ता तो वह भी नहीं है। जीवके योग और उपयोग होनेमें उपादान कर्ता तो जीव है और निमित्त है कर्मप्रकृतिका अवस्था। कर्मोंमें जो पुद्गल द्रव्य है वह पुद्गल द्रव्य जीवके योग और उपयोगका निमित्त रूपसे कर्ता नहीं है, क्योंकि कोई भी द्रव्य किसी भी अन्य द्रव्यका या उनके गुणों का या उनकी पर्यायोंका कर्ता नहीं होता। परिणति ही परिणतिका निमित्त हुआ करती है। द्रव्य स्वयं निमित्त नहीं होता है अभेद विवक्षामें यह कहा जा सकता है कि विकार परिणति से परिणत द्रव्य अन्य द्रव्योंके विकारपरिणतिका निमित्त होता है। इस प्रकार यह जीव द्रव्य घटपट आदिका, क्रोधादिकका याने कर्मप्रकृतिका न निमित्तसे कर्ता है और न उपादानसे कर्ता है।

जीवके कर्तृत्वका विषय—भैया! जब दोनों दृष्टियोंसे कर्तृत्वका निषेध किया है तब यहाँ प्रश्न होता है कि तो फिर जीव किसे कहते हैं? उत्तर यहाँ जीवमें दो प्रकार हैं एक ज्ञानी जीव और दूसरा अज्ञानी जीव। अज्ञानी जीव किसका कर्ता है और ज्ञानी जीव किसका कर्ता है इन दोनों बातोंको क्रमसे दो गाथाओंमें बतायेंगे। जिसमें यहाँ प्रथम तो यह प्रश्न किया जा रहा है कि ज्ञानी जीव किसका कर्ता है। उत्तर दिया जा रहा है कि ज्ञानी जीव ज्ञानका ही कर्ता होता है।

जे पुग्गलदब्बाणं पिरणामा होंति णाणआवरणा।

ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥ १०१ ॥

उपादान और निमित्तका विवरण—उपादान कहलाता है वह जो परिणमि रहा है अर्थात्

परिणमयिता द्रव्य और जो वर्तमान परिणमन है वह कर्म है तथा जो परिणति है वह क्रिया कहलाती है। तो इस प्रसंगमें देखो जीवके विकार हो रहे हैं और कर्म प्रकृति बननेका उपादान कार्माणवर्गणयें हैं और रागदिक विकार होनेका उपादान जीवपदार्थ है। ज्ञानी जीव इस प्रसंगमें यों देखता है कि जो ज्ञानावरणादिक पुद्गल द्रव्यके परिणमन होते हैं उनको आत्मा नहीं करता है। इस प्रकार विविक्त जो देखता है वह ज्ञानी होता है। इस ज्ञानी संतने पदार्थोंके स्वरूपास्तित्व को निरखा है कि प्रदत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूपसे है बाहर न उस पदार्थका गुण है न पर्याय है, न प्रभाव है।

उपादानके प्रभावका निमित्तमें उपचार किये जानेका कारण उपादानके प्रभावका उपचार निमित्तमें यों किया जाता है कि वस्तुस्थिति तो यह है कि उपादान पर निमित्तको पाकर स्वयं अपने आपमें होने वाली पर्यारूप असरको करता है, किन्तु जिस पदार्थको निमित्त पाकर उपादानने अपना परिणमन किया उस परिणमनरूप असरको निमित्त की ओरसे कहा जाता है तो निमित्तका प्रभाव बताया जाता है। निमित्तका गुण, निमित्तका प्रभाव निमित्तका परिणमन सब कुछ उस निमित्तभूतमें ही होकर समाप्त होता है। पर विश्व व्यवस्था ऐसी है कि निमित्तनैमित्तिकसम्बन्धपरम्परा अनादिसे चली आ रही है कि पर निमित्तको पाकर विकृत परिणम सकने वाली उपादान स्वरूप की परिणतिमें विकार होता है, ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। फिर भी स्वरूपचतुष्टयसे देखो तो कोई भी द्रव्य अपने चतुष्टयको छोड़कर किसी परके चतुष्टयमें नहीं आते। स्वरूपदृष्टिसे यह निर्णय होता है कि पुद्गल द्रव्यका जो ज्ञानावरणादिक रूप परिणमन होता है उस परिणमनको आत्मा नहीं करता है। यों जो जानता है वह ज्ञानी कहलाता है।

परके अकर्तृत्वका दृष्टांत परके अकर्तृत्वके विषयमें एक दृष्टांत है। जैसे कोई ग्वाला दूध निकालता है और उस दूधमें जामन डालता है, दूध दही बन जाता है, तो यह जो दूध दही बना है तो उस पुद्गल द्रव्यमें ही बना है। दूध पुद्गलमें ही व्याप्त है ग्वाला उसमें व्याप्त नहीं हुआ। दूधका दही रूप परिणमन हो गया तो यह परिणमन भी पुद्गल में व्याप्त है। इन सब बातोंको ग्वाला जानता हुआ रहता है, पर करनेवाला नहीं हो रहा है। दूध में जामन डाल दिया गया, अब वह अपने समयपर अपने विधानसे कैसा बनता है, कितना खट्टा जामन है, कितनी मात्रामें जामन है, उस ही विधानसे निमित्त पाकर यह दूध दही रूप में परिणम जाता है। उसमें ग्वाला क्या करेगा। दूधमें जामन डाल दिया। अब वह १२ घंटोंमें दही बनेगा। ग्वाला सोचनेसे और कहींसे वह दूध दही रूप नहीं बन जायेगा। वहाँ जैसा विधान है उस प्रकारसे वह परिणम जायेगा। ग्वाला तो एक दर्शक है जाननहार है, वह करनेवाला नहीं है। ग्वालाने दूध दुहा। दूध दुहनेके समयमें भी ग्वाला दूधका कर्ता नहीं है वह तो क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर हुआ। निमित्त उसमें ग्वालाकी क्रिया है चेष्टा है, परन्तु चेष्टाके होते हुए, अज्ञानमें ग्वाला तो यह विकल्प करता है कि मैं दूध बनाता हूँ, पर दूध न्यारी चीज है, सम्भव है कि वह भी विकल्प ऐसा न करता होगा। वहतो यों ही कहेगा कि मैं दूध निकालता हूँ, दूध उत्पन्न करता हूँ ऐसा विकल्प वह नहीं करता। क्या ग्वाला वहाँ दूध पैदा करता है? नहीं तो। मैं दूधको

पैदा करता हूँ ऐसा आशय उस ग्वालेके भी नहीं हैं। वह तो जानता है कि जो दूध गाय भैंसके थैलेमें है उसको निकालता हूँ। और यह तो निकालनेका भी कर्ता नहीं है ग्वालाका जीव। वह जीव ज्ञान इच्छा और योग इन तीनोंका कर्ता है। उस समय जो ज्ञान किया जा रहा वह, जो इच्छा की जा रही है, वह जो स्वयंके प्रदेशमें श्रम योग परिस्यंद किया जा रहा है वह यों तीन भावों का कर्ता है। इस प्रकार ग्वाला तो अपनी इच्छा ज्ञान इन प्रयत्नों का ही करने वाला हो रहा है, दूधका करनेवाला रचनेवाला नहीं हो रहा है। फिर तो आत्माके योगका निमित्त पाकर शरीरमें वायुका संचरण हुआ, वायुके संचरणका निमित्त पाकर उसके अनुरूप हाथ चले और हाथके सम्बन्धसे ये जो सब थन थे उनसे फिर दूध झरा। इस प्रकार निमित्तनैमित्तिक परम्परामें वह कार्य हुआ। ग्वालाने दूध दही आदिको नहीं किया। वह तो तटस्थ है, मात्र कषायानुकूल पास बैठा हुआ है।

परका अकर्तृत्व—सो भैया! जैसे तटस्थ गोरसका मालिक ग्वाला दूध दही आदि परिणामोंका व्यापक होकर कर्ता नहीं बनता है, वह जाननहार रहता है और अपनी क्रियाओंका करनेवाला रहता है। इसी प्रकार पुद्गल द्रव्यके जो ज्ञानावरणादिक परिणमन होते हैं उन परिणमनोंको यह ज्ञानी जीव नहीं करता है, किन्तु पुद्गल द्रव्यके परिणमनका निमित्त पाकर उन पुद्गल द्रव्यके परिणामोंका जिस प्रकार यह निमित्त होता है ऐसी अपनी चेष्टाको अपने ज्ञानसे अपने विक्लपोसे आत्मामें व्याप्यरूपसे बनता हुआ, उसे व्यापकर यह ज्ञान जानता है। सो यह ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता है। जैसे दूध में मीठा डाल दिया अब वहाँ दो बर्तनोंमें एक दूसरेसे निकाल कर उड़ेल देनेकी क्रियामें यह दूध देने वाला व्यक्ति उस सबको देख रहा है, जान रहा है, अब यह ठण्डा हो गया, अब इसमें बहुत सा फसूकर निकलेगा, मीठा भी बहुत अच्छा हो रहा होगा, इनसब बातोंको वह जानता रहता है, पर कर्ता नहीं है। यह गोरसाध्यक्ष ग्वाला उस दूध दहीके परिणमनके निमित्त जो कुछ भी ज्ञान बनाए विकल्प बनाए उससे ही आत्मामें व्यापकरके वह उन सबको देखता रहता है इसी तरह ज्ञानी पुद्गलपरिणमन और आत्मपरिणमन इनमें परस्पर निमित्त नैमित्तिक भावोंसे जो कुछ अवस्था बन रही है उस अवस्थाको यह ज्ञानी जीव जानता है सो ज्ञानी उस प्रसंगके ज्ञानका ही कर्ता होता है, किन्तु परद्रव्योंका कर्ता कदाचित् भी नहीं होता।

कर्तृत्व, कर्मत्व व करोतिका परमें अभाव—भैया! जो परिणमता है उसको कर्ता कहते हैं, जो परिणमन है उसे कर्म कहते हैं और जो परिणति है उसे क्रिया कहते हैं। ये तीनों कुछ जुदा-जुदा नहीं मालूम पड़ते, एक ही पदार्थ हैं, ये अपनी परिणमनशीलता के कारण अन्य-अन्यरूप, परिणमन रूप, परिणमते चले जाते हैं। यह ज्ञानी इस प्रकार ज्ञानका ही कर्ता होता है। जैसे ज्ञानावरणादिक कर्मोंको इस प्रसंगमें घटित किया गया है। कि इन पुद्गल द्रव्यके परिणमनोंको ज्ञानावरण प्रक्रियाओंको जीव नहीं करता है किन्तु जीव तो उनके निमित्त जो कुछ भी विकल्प बनाता है, ज्ञानका परिणमन है उस परिणमनको ही अपनेमें व्यापकर उस परिणमनका ही कर्ता होता है और अपने उस ज्ञानविकल्पका ही कर्ता होता है इसी प्रकार सब धर्मोंमें बात समझो। यह ज्ञानी पुरुष

यों देख रहा है कि पुद्गल द्रव्यके जो पुद्गल दर्शनावरण वेदनीय आदि कर्म प हो रहा है उसका करने वाला यह आत्मा नहीं है। यह आत्मा अपनी ही परिणतिमें अपने ही क्षेत्रमें परिणत होकर समाप्त हो जाता है, अपनी पर्यायको समाप्त कर देता है। यों जाननेवाला आत्मा ज्ञानी आत्मा कहलाता है। दर्शनावरणके परिणमनको यह आत्मा नहीं करता, वेदनीय, मोहनीय, आयुकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म, अन्तरायकर्म इन सबको यह आत्मा नहीं करता। ऐसा जो जानता है वह ज्ञानी कहलाता है।

परभावका अकर्तृत्व भैया! यह तो बताई गई है निमित्तरूप परद्रव्योंके कर्तृत्वके निषेधकी बात। अब परभावोंके कर्तृत्वके निषेधकी बात देखो। मोह रागद्वेष क्रोध, मान, माया, लोभ ये परभाव कहलाते हैं। द्रव्यरूप तो ये है नहीं, क्योंकि स्वयं इनकी सत्ता नहीं है। द्रव्य उसे कहते हैं जो गुणोंका आश्रयभूत हो, और प्रदेशवान हो। ये रागदिक न तो प्रदेशवान है और न गुणसहित है, ये तो परिणमन हैं और परिणमन भी विकारी अध्रुव परिणमन है। ये पर द्रव्योंका निमित्त पाकर होते हैं इसलिए इनका नाम परभाव है। ज्ञानावरणादिक परद्रव्य हैं रागद्वेष मोहादिक परभाव है, इनका भी तो आत्माकर्ता नहीं है, ऐसा जो जानता है उसे ज्ञानी कहते हैं।

शेष समस्त परद्रव्योंका अकर्तृत्व अब और भी कुछ परद्रव्योंकी बात कह रहे हैं कि इस प्रकार कर्म नोकर्म, मन, वचन, काय श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन इन सब परद्रव्योंका भी यह आत्मा कर्ता नहीं है। ये सब द्रव्यरूप और भावरूप दो दो प्रकारके होते हैं जो भावरूप हैं वे सब परभाव हैं और जो द्रव्यरूप हैं वे सब पर द्रव्य हैं। इन सबका यह जीव निमित्त रूपसे भी कर्ता नहीं है। ऐसी ही दृष्टि से और भी बातोंकी तर्कणा कर लेना चाहिए। यह ज्ञानी जीव पर द्रव्योंका और परभावोंका कर्ता नहीं है। जीवके अज्ञानकी प्रगतिका सम्बन्ध परमें कर्तृत्वबुद्धिसे है और परमें स्वामित्वबुद्धिसे है। दो ही महा रोग संसारी जीवोंके लगे हुए हैं। एक अपनेको परका स्वामी मानना और दूसरा अपनेको परका कर्ता मानना। देखो कर्तापनकी बात को अपने मुंहसे कहते हुए भी संकोच होता है। भरी सभामें कोई स्कूल बनवा देनेवाला या धर्मशाला बनवा देनेवाला व्यक्ति सबके बीच खड़ा होता है, उससे पहिले लोगोंने उसकी तारीफ की हो कि इन्होंने बड़े-बड़े काम किए हैं, मंदिर बनवाया, धर्मशाला बनवाया इत्यादि बातें कह चुके हों पूर्ववक्ता, तो बनवाने वाला खड़ा होकर यदि यह कहदे कि यह सब मैंने बनवाया है तो उसकी इज्जत खत्म हो जाती है। वह निषेध करता है भैया मैंने क्या बनवाया। आप लोगों की कृपा हुई है और ये बन गये हैं या बनने थे सो बन गये हैं। कुछ भी कहकर अपने में कर्तृत्वकी बात न लाये तब तो उसकी शोभा है और जो कर्तृत्वकी बात ला दी तो उसका अपमान है कोई कहे तो सभामें खड़े होकर कि मैं ये यह किया है, मैंने यह बनवाया है आप लोग इसे देखिये। ऐसी कर्तृत्वकी बात कहने में भी एक विवेकी पुरुषको लाज आती है।

कर्तृ वाच्य, कर्मवाच्य व भाववाच्यमें अन्तर भैया! कर्तृत्वकी बात कहने में अहंकार पुष्ट

होता है। और प्रयोग करके भी देख लो। किसी भी बातको यदि कर्तृवाच्यमें बोलेंगे तो उसमें व्यक्त अहंकार जचता है, यदि उसी बात को कर्म वाक्य में बोलेंगे तो उसमें कुछ विनय टपकती है और भाववाच्यमें बोला जाय तो वहाँ अहंकार का कुछ सवाल ही नहीं है। जैसे कुछ पढ़कर कोई कहे कि मैंने इसे पढ़ा और इसी बातको यों बोले कि मेरे द्वारा यह सब पढ़ा गया है और इसी बातकों यों बोले कि यह सब तो पढ़ लिया गया है। यद्यपि पढ़ लिया गया है यह भाववाच्यका प्रयोग नहीं है, छुपा हुआ कर्मवाच्य है फिर भी मेरे द्वारा या इस प्रकार भी जो कुछ नहीं बोला गया है इससे भाववाच्य होनेकी सकलमें बन गया। इस पुस्तकको मैंने पढ़ा है यह मेरे द्वारा पढ़ी गई है यह पुस्तक पढ़ ली गई है तीनों प्रकारमें उत्तरोत्तर विनय बढ़ती जा रही है, अहंकार घटता जा रहा है। देखो लाज आती है अपनेका कर्तारूपसे उपस्थित करने में, क्योंकि जीवका स्वभाव कर्तापन नहीं है। जीव तो अपने स्वभावमें परिणमता रहता है इस को अन्य पदार्थों के करनेका स्वभाव नहीं मिला है। फिर जो बात असम्भव है उस बातको कहनेमें एक बार तो संकोच आ ही जाता है।

जीवद्रव्यमें परके कर्तृत्वकी असम्भवता—यह जीवन इन कर्म नोकर्म, वचन, काय, और इन्द्रियका भी कर्ता नहीं है न उपादान रूपसे कर्ता है और न निमित्तरूप कर्ता है। निमित्तकर्ता भी किसी पर्यायके लिए कोई पर्याय होती है। यद्यपि पर्याय द्रव्यसे अलग नहीं है पर्याय अलग मिल जाये और द्रव्य अलग मिल जाये ऐसा वहाँ होता नहीं है फिर भी पर्यायस्वरूप और द्रव्यस्वरूप ज्ञानी जीवके द्वारा अलग-अलग पहिचाना जा सकता है। अपने स्वरूपसे देखा गया शुद्ध द्रव्य किसी पर द्रव्यके कार्यका निमित्त होता है, द्रव्यकी पर्याय शुद्ध द्रव्यका जहाँ शुद्ध परिणमन है वहाँ भी काल द्रव्य धर्मादिक द्रव्यों के परिणमनका निमित्त नहीं है, किन्तु काल द्रव्यकी वर्तना नामक परिणति पर द्रव्यके परिणमनका निमित्त है इस दिशासे अन्य-अन्य कार्य भी विचार लेना चाहिये। किसी भी पर कार्यको यह जीव न निमित्तरूप से करता है और न उपादान से, करता है, किन्तु जीवकी विकार अवस्थाका निमित्त पाकर पौद्गलिक कर्मवर्गणावोंमें कर्मत्वरूप परिणमन होता है और कर्मोदयका निमित्त पाकर जीवविकार होता है ऐसा परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु कर्ता कोई किसी दूसरेका नहीं है। इस प्रकार ज्ञानी जीव ज्ञानका ही कर्ता है यह बताया गया है।

परमें अव्यापी होनेसे जीवमें परका अकर्तृत्व—जीव पर द्रव्यका न तो उपादनरूपसे कर्ता है और न निमित्तभावसे भी कर्ता है। अच्छा तब फिर जीव किसका कर्ता है इसके उत्तरमें ये गाथायें चल रही हैं। जीव दो प्रकार के हैं—एक शुद्ध उपादानवाला जीव, अशुद्ध उपादानवाला जीव। जो मिथ्यात्व विषय कषायका त्याग करके निर्विकल्प समाधि में स्थित हुआ जीव है वह शुद्ध उपादानवाला है ऐसा वीतराग सम्सम्वेदनज्ञानी जीव शुद्धनयसे अर्थात्! शुद्ध उपादानरूप से शुद्ध ज्ञानका ही कर्ता है। वह जानता है कि कामाणिबर्गणाके योग्य पुद्गल परमाणु ज्ञानावरणादिक द्रव्य कार्यरूप होते हैं पर जीव उनमें व्यापता नहीं है। जैसे मिट्टीसे घड़ा बनता है तो घड़ामें मिट्टी व्याप्त है उसी प्रकार उन कर्मोंमें आत्मा व्याप्ता नहीं है। और जैसे दूध दही बनाने वाला ग्वाला केवल

तटस्थ है जानन देखन हार है, वह दूध दहीमें कुछ करता नहीं है, ऐसा जो जानता है और जानता ही नहीं, ऐसा जानकर परसे उपेक्षाभाव करके विषय कषायके त्यागपूर्वक निज निर्विकल्प समता परिणाम में रहता है, वह शुद्ध उपादानरूपसे शुद्ध ज्ञान परिणामका ही कर्ता है।

दृष्टान्तपूर्वक ज्ञानीके शुद्धभावकर्तृत्वकी सिद्धि—जैसे कि स्वर्ण किसका कर्ता है? क्या स्वर्ण स्वर्ण पहिनेवाले पुरुषके हर्ष परिणामका भी कर्ता है? स्वर्ण तो अपने ही कलेवरमें रहनेवाले तत्व आदिका ही कर्ता है। अग्नि किसका कर्ता है? क्या अग्नि भोजन कराकर मौज बनानेका कर्ता है? अग्नि अपनेमें उष्ण आदिक गुणोंरूप बनी रहे, परिणमती रहे इतनी मात्र अग्निकी करतूत है। सिद्ध परमेष्ठी किसके कर्ता है? अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त मुख, अनन्त शक्ति रूपसे परिणमते रहें इसके ही कर्ता है। इसीप्रकार यहाँ का यह ज्ञानी पुरुष भी सब ज्ञानस्वरूपको ज्ञानमें ले रहा है उस समय वह ज्ञान शुद्ध आदि भावोंका कर्ता है, पर रागादिकरूप अज्ञानभानका कर्ता नहीं है। अपने अपने परिणमनरूपसे परिणमना इसहीका नाम कर्तृत्व है और इस ही का नाम भोक्तृत्व है। इसप्रकार ज्ञानी ज्ञानभावका ही कर्ता है यह सिद्ध किया गया है। अब दूसरे प्रकारका जीव जो कि अज्ञानी है उसके सम्बन्धमें प्रश्न होता है, कि अज्ञानी तो परका कर्ता होगा ना? उसका निषेध करते हुए कहते हैं कि परका अज्ञानी भी कर्ता नहीं है।

जं भावं सुहमसुंह करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।

तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥ १०२ ॥

पदार्थोंका अपने परिणमनशीलता का स्वभाव—आत्मा जिस शुभ अशुभ भावको करता है वह उस भावका कर्ता होता है वह भाव उसका कर्म होता है और यही आत्मा उस भावका भोक्ता होता है। सर्व अर्थ अपने-अपने स्वरूपास्तित्वको लिये हुये हैं और अपने ही रूप से वे हैं पर रूपसे नहीं हैं यदि पररूपसे कोई होजाता तो उसका उच्छेद हो जाता, अभाव हो जाता। तो पदार्थ सब हैं, अपने-अपने स्वरूपसे हैं, परके स्वरूपसे नहीं हैं और निरन्तर परिणमते रहते हैं। सत् का स्वभाव ही यह है कि निरन्तर परिणमते रहना। परिणमन न हो और कोई पदार्थ हो, ऐसा जगतमें कुछ नहीं है। चाहे उसको परिणमन, परिवर्तन अवस्थासे अवस्थाका विलक्षणतायें होना विदित हो या न हो अथवा कोई पदार्थ विलक्षण न परिणमे, सदृश ही परिणमता रहे फिर भी वह प्रतिसमय नई-नई शक्तिके परिणमनरूप परिणमता रहता है। अर्थक्रिया होना उस वस्तुका काल होना यह परिणमते रहते बिना नहीं हो सकता। इस कारण प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिणमते रहते हैं और वे अपने ही स्वभावकी सीमामें परिणमते रहते हैं, अपने ही गुणोंके परिणमनसे परिणमते हैं, किन्हीं अन्यके पर्यायोरूपसे नहीं परिणमते। और, इतना सब कुछ होते हुयेभी प्रत्येक द्रव्य अपनेही प्रदेशोंमें रहता है, अपने प्रदेशोंसे बाहर नहीं रहता। जब ऐसी बात सभी पदार्थोंकी है तो किस पदार्थका स्वामी बताया जाये? अन्य कोई स्वामी है ही नहीं।

जानन वैभवका दुरुपयोग—भैया! अपन चेतन है, जानकार है इसलिये इन अजीब पदार्थोंपर

सभी डींग मारते हैं और बोलते रहते हैं कि मैं मकान मालिक हूँ। यह अपना बडप्पन बताया जाता है और जिसका मालिक कहा जाय उसकी लघुता बताई जाती है मैं मकानका मालिक हूँ मायने मकान न कुछ चीज हो, किसी चेतनका मालिक बताते तो वह भी बताता। ये अचेतन बेचारे तो जड़ है, गरीब है, ये क्या कर सकते हैं। ये बेचारे अजीब बोलते-चालते भी नहीं हैं इसलिये कहते जावो कि मैं मकान का मालिक हूँ, यदि मकान भी कुछ जानदार होते तो इसकी खबर ले लेते और कहते कि जा हट, तेरा मालिक मैं हूँ, तो अज्ञान से परका यह अपनेको स्वामी समझता है। पर अस्तित्व और अर्थ क्रिया परिणमन अपने आपमें ही हो सकता है अन्यथा वस्तु का उच्छेद होगा। वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है फिर कहाँ है गुञ्जाइस कि एक परमाणु दूसरे परमाणुका मालिक बन सके। एक परमाणु का किसी परमाणु मात्रको मालिक बताया जा सके ऐसी कहाँ गुञ्जाइस है पर वस्तुस्वरूपसे, अज्ञान का क्या मतलब है। वह तो अपना कल्पित मौज मानना चाहता है। वस्तु के स्वरूपके विरुद्ध जो चाहे अपराध किया जाय उसे अज्ञानी जीव अपराध तो जानता ही नहीं है। इस अज्ञानी जीवने अनादिकालसे अज्ञानभावसे पर पदार्थोंमें और आत्मा में एकत्वका निश्चय किया है यहाँ मैं हूँ-सा यद्यपि इस विज्ञानघन अचलित स्वरूपवाले आनन्दमय आत्माका स्वाद एक है। नराकुल रूप है, किन्तु जहाँ परके साथ सम्बन्ध जोड़ा कि भेदवासनायें उठने लगीं।

स्वादभेदकी भूमिका—भैया! परका परिणमन अपने अधीन नहीं संयोग वियोग अपने अधीन नहीं पुद्गल कर्मके उनके विपाक दशायें चलती हैं, कभी उदय मंद हो कभी तीव्र हो कभी अनुभव ज्यादा किया, कभी कम किया, इस तरह आत्मा के स्वाद में यह अज्ञानी जीव भेद डाल देता है। थालीमें एक ही चीज खाने को हो तो बड़ सुखसे खा लगे। जहाँ तीन चीजें धर ली तो कल्पना होगी स्वादभेदकी, यह बढ़िया चीज है इसे पहिले खाना चाहिये। इस शुद्ध आत्मस्वरूपकी दृष्टि में एक प्रकारका स्वाद है वह है सत्य और निराकुलतारूप। पर जहाँ परपदार्थोंमें सम्बन्ध जोड़ा इष्ट-अनिष्टकी बुद्धि उत्पन्न हुई बस स्वादमें भेद आने लगा। कभी कम मौज माना कभी ज्यादा मौज माना। इस प्रकार शुभ अशुभ भावसे जिसको यह जीव करता है उस शुभ अशुभ काम यह आत्मा तन्मय है उसही भावमें व्यापक हो रहा है सो यह आत्मा उस भावका कर्ता होता। वह भाव भी उस समय तन्मयता के कारण आत्माका कर्म होता है।

दृष्टान्तपूर्वक आत्मामें निजके ही कर्तव्यकी सिद्धि—सीधी अंगुली टेढ़ी कर दी तो अंगुलीने किसे टेढ़ी किया? अपनी अवस्थाको। कर्ता कौन हुआ? अंगुली, कर्म कौन हुआ? अंगुलीकी अवस्था। इसी प्रकार आत्मा जिस शुभ अशुभ भावको करता है वहाँ कर्ता कौन हुआ? आत्मा हुआ? कर्म कौन हुआ? वे शुभ अथवा अशुभ भाव। सो यह आत्मा अपने ही भावोंका कर्ता है और उस कालमें उस भावमें ही भावक है इसीलिये वहाँ अनुभव करने वाला है और वहाँ भाव अनुभवमें आने वाला है। अज्ञानी जीवन कोई विरुद्ध कल्पना का, रस्सीको, वह सांप मान बैठा तो उस अज्ञानीने क्या किया? सांप नहीं किया, किन्तु एक भ्रमपूर्ण जानकारी बताई। और उसके साथ

घबड़ाहटको ही उसने भोगा। कोई महिला अपने श्रृंगारसे ठन बनकर आभूषण पहिनकर या आज कलके फैसनमें पाउडर या लाली लगाकर ऐनामें देखकर एक अपनी ठसक मानती है, तो वह महिला किसका भोग कर रही है? गहना पाउडर या लालीका? नहीं। कल्पनामें आई हुई उसका और मौज भावका ही भोग कर रही है। पर वस्तुका भोग कोई नहीं कर सकता। आत्मा केवल भावोंका ही कर्ता है। इससे आगे किसाके सुधार बिगाड़का कर्ता नहीं है। यह शुद्ध ज्ञान निकट भव्य ज्ञानी पुरुषोंके हुआ ही करता है।

भावोंमें उत्कृष्टता लानेका अनुरोध—भैया! अपना महत्व बढ़ानेके लिये क्या धन वैभव आदिमें परिवर्तन करना है? जब भावोंके अतिरिक्त और कुछ कर ही नहीं सकते तो अशुभ भावोंको छोड़ो और शुभ भावा ही होने दो। बस यही उत्तम इस समयका व्यवसाय है। बच्चे लोग जब बच्चोंकी पंगत करते हैं तो झूठ मूठ के लिये बड़े पत्ते ले आये, उनको थाली बना दी और छोटे पत्ते ले आये उनको रोटी मान ली। छोटे कंकड़ बीन लाये उनको गूड़ का ढेला मान लिया। इस तरहसे बच्चे लोग वहाँ केवल भावोंकी ही पंगत कर रहे हैं। वहाँ न पेट भरनेकी रोटी है, न स्वाद लेनेको गुड़ है। पर कुछ बुद्धिमान और प्रगतिशील बच्चे हों तो छोटे पत्तोंको रोटी न कहकर परोसते समय कचौड़ी कहकर परोसते। अथवा छोटे कंकड़ोंको गुड़ की डली न कहकर उन्हें लड्डू कहकर परोसते। जब भावोंकी ही बात है तो भावोंकी उत्कृष्टता लावो। कर तो कुछ सकते नहीं बाहरी पदार्थोंमें, भाव ही करते हैं और भावोंकी करनीमें ऐसा रोजिगार फैल जाता है कि शुभभावहों, अशुभ भावहों, पुण्य बन्ध हो, वैभव सम्पदा मिले। ये सारे काम होने लगते हैं।

अज्ञानीके भी परका अकर्तव्य—भैया! अज्ञानी जीवको देख लो यह भी परभावोंका कर्ता नहीं है, यह अपने विकल्पोंको ही किया करता है परकाभाव किसी भी परके द्वारा किया हो नहीं जा सकता है इस बातको एक इस गाथा में स्पष्ट करते हैं

जो जह्नि गुणे दब्बे सो अण्णह्नि दुण संकमदि दब्बे।

सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दब्बं ॥ १०३ ॥

किसी भी वस्तुका परमें संक्रमणका प्रभाव—जो जिस द्रव्यस्वभावको अथवा जिस गुणको वतता है वह अन्य द्रव्योंमें अथवा अन्य गुणोंमें संक्रमणको प्राप्त नहीं होता अर्थात् अपना द्रव्य अपना स्वरूप छोड़कर पर पदार्थोंमें नहीं मिल जाता। जब कोई अर्थ अन्य द्रव्यमें मिल नहीं सकता तो उस अन्य द्रव्यको यह कैसे परिणामा सकता है। दूध और पानी एक गिलासमें मिला दिया तब भी दूध पानीरूप में नहीं बदल जाता, पानी दूधरूप नहीं बदल जाता और ये चाहे बदल जायें क्योंकि पुद्गल पुद्गल है, पर जीव पुद्गल रूप चिरकालमें भी नहीं होसकता। पुद्गल-पुद्गलकी पर्यायमें अन्योन्याभाव कहा गया है और जीव और पुद्गलमें अत्यन्ताभाव कहा गया है। पुद्गल एक द्रव्यमें और पुद्गल व दूसरे द्रव्यमें भी अत्यन्ताभ व कहा गया है। अर्थात् मोटे रूपसे कोई पुद्गल जिस पर्याय में इस समय है वह दूसरा कोई विरोधी पर्याय जच रहे हैं उस पर्यायस्वरूप कदाचित्

हो सकता है। भोजनके परमाणु मलरूप हो सकते हैं और मल कभी कभी भोजनरूप बन सकता है। तो पुद्गलेमें पुद्गलकी पलटना हो सकती है, परन्तु जीव और पुद्गलकी पलटना तो त्रिकाल भी नहीं सम्भव है।

पदार्थकी अपने स्वरूपमें अचलितता—जो कुछ भी वस्तु विशेष है वह किसीमें चिदात्मक है या अचिदात्मक है द्रव्यमें उस गुणमें अपने ही रससे, अपने ही स्वभावसे अनादिकालसे चला आया है, वहाँ चूँकि वस्तुस्थितिकी सीमा अचलित है, उसको कोई भेद नहीं सकता सो उसको अपने द्रव्यने गुणोंमें वर्तता है परन्तु, अन्य गुणरूप नहीं परिणम सकता है। जैसे स्वर्ण कीचड़में पड़ा होकर भी कीचड़ रूप नहीं बन गया। ५०० वर्ष बादभी निकालें तो ज्योंका त्यों स्वर्ण निकलता है। उसी तरह यह जीव पुद्गलमें कर्म नोकर्ममें अनादि कालसे पड़ा आया है फिरभी यह न कर्मरूप हुआ और न नोकर्मरूप हुआ।

पुद्गल पुद्गलोंकी जातिकी एकता—सोचा कीचड़ बन सकता है, पर यह एक मोटा दृष्टांत दिया है। क्या सोना कभी कीचड़ नहीं बन सकता है? हां अपनी जिंदगीमें नहीं बन सकता, पर दो-चार हजार वर्ष में न जाने कितने परिणमन बनें। इसी कारण इस पौद्गलिक तत्वको जैन सिद्धान्तने एक जातिमें माना है। अन्य लोग पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चारों रूपमें मानते हैं कि ये चारों अलग-अलग जातियाँ हैं, पर जैन सिद्धान्त कहता है कि ये चार जातियाँ नहीं हैं, ये सब एक हैं। पुद्गल पुद्गलमें जातियाँ भिन्न-भिन्न कैसे होती है। जो कभी एक दूसरेके स्वरूपके समान नहीं हो सकता उसकी जाति पृथक्-पृथक् हैं एक दूसरे का स्वरूप समान हो वह सब एक जाति ही कहलाती है। जितनी ये पिण्डरूप चीज हैं ये सब पृथ्वी कहलाती है। उस भूतचतुष्टयके सिद्धान्तसे पत्थर हो, मिट्टी हो, अनाज हो, फल हो फूल हो, पौधा हो ये सर्व ही पृथ्वी हैं। भोजन भी पृथ्वी है। भेदचतुष्टयमें तो यह पृथ्वी कभी हवा बन सकती है या नहीं? बन सकती है। वर्गणायें बदल जायेंगी। और देखिये-जौ, चना, मटर ये पृथ्वी हैं कि नहीं? और इन्हें जब खा लो तो हवा बनकर पेटमें गुड़गुड़ाते हैं। पृथ्वी हवा बन गई लो देख लो, पृथ्वी पानी बन सकती है या नहीं? चन्द्रकांत मणि का उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है इस विषय मे। पृथ्वी बन सकती है। पृथ्वी पानी बन सकती है। पृथ्वी अग्नि बन सकती है या नहीं? बन सकती है। ये चारों परस्पर में अदल-बदल करते हैं। ऐसी ये चार जातियाँ नहीं हैं। जाति एक है उसका नाम है पुद्गल।

पुद्गल शब्दका व्यापक महत्त्व—पुद्गल शब्द जैन सिद्धान्तमें ही मिलता है और कहीं नहीं मिलता। पुद्गल कहते उसे हैं जो पुद् और गल हैं। अर्थात् जो पूरे और गले। जो जुड़े और बिछुड़े उसका नाम पुद्गल है। यह है पुद्गलका सीधा अर्थ। ऐसे कौन से पदार्थ हैं जो जुड़ते हैं और बिछुड़ते हैं? जीव-जीव जुड़ नहीं सकते। चाहे जीवोंमें कितना ही परस्परमें प्रेम हो। और वे चाहें कि एक हो जायें तो एक त्रिकाल भी नहीं हो सकते हैं, पिंड नहीं बन सकते हैं। धर्म-अधर्म भी न्यारे हैं। ये ही हैं पुद्गल, जो जुड़ते हैं और बिछुड़ते हैं। पेड़ पौधे वगैरह जो दीखते हैं ये जीव नहीं हैं ये पृथ्वी है। हम आप जितने बैठे हैं ये

सब पुद्गल हैं जीव नहीं हैं। जीव तो ज्ञानानन्द स्वरूप है। अमूर्त है। तो जब कोई पदार्थ किसी अन्य द्रव्यको या अन्य गुणको नहीं बदलता है अन्यरूप नहीं परिणमता है तो फिर यह कैसे कहा जाए कि अमुक पदार्थने अमुक दूसरे पदार्थको कुछ कर दिया। इस तरह सर्व पदार्थोंके स्वरूप को निहार लो। किसी भी पदार्थके भावको अन्य पर द्रव्य नहीं करते। जीव तो अपने अपने अनुभवसे ही देख लो, यह शरीर से भी पृथक है ज्ञानानन्द मात्र है। तो यह तो अपनेमें ज्ञान और आनन्द उत्पन्न करके अपना काम समाप्त कर लेता है। इसके आगे इसका काम नहीं है।

लोकदृष्टान्तपूर्वक परमें अकर्तृत्वकी सिद्धि—जैसे बारातों में फटाका घाले जाते हैं, तो आदमी केवल आग छुवा देता है इसके बाद उसका कुछ काम नहीं है। वह स्वयं ही सुर्र देकर उड़ जाएगा और फूट जायगा। इसी प्रकार वह जीव अपने आपमें केवल भाव और विकल्प करता है इसके बाद जो बनता है वह खुद बनता है। सारा काम खुद होता है। जीव उनका कर्ता नहीं है। जीवका कार्य केवल योग, ज्ञान और इच्छा करना तक ही है। पर अज्ञानी जीवको इस निमित्त नमित्तिक भावका पता नहीं है। वह परस्पर कर्तृकर्मभावमें फंस कर यह मानता है कि मैंने ही तो यह सब किया, और कौन कर गया। अच्छा नहीं किया तो देखो बिना किये तो न हो जाएगा। रोटी मैंने बनायी ऐसी दलील देते हैं। बात तो ठीक है, बिना निमित्तके उपादानमें कार्य हो तो जाय अर्थ यह लेना चाहिए पर अर्थ यह लेते हैं कि मैं ही तो करने वाला हूँ। यह आत्मा करने वाला नहीं है, किन्तु परके कार्यमें निमित्त मात्र है। इस तरह अज्ञानी जीव भी परभावको नहीं करता। परका भाव किसी भी पर द्रव्यके भाव कदाचित् भी करनेमें आ ही नहीं सकते। ऐसा सम्यक् निर्णय जिन ज्ञानी संतोंके हैं वे अपनेमें निराकुल रहते हैं। किसी भी पर द्रव्यका भाव किसी भी परद्रव्यके द्वारा नहीं किया जाता है इसी कारण यह आत्मा न तो उपादान रूपसे पुद्गल कर्मका कर्ता है और न निमित्त रूपसे पुद्गल कर्मका कर्ता है। इसी बातको अब अगली गाथा में कहते हैं।

द्व्वगुणस्स य आदा ण कुर्णाद पुग्गलमर्याह्य कम्महाह्य ।

तं उभयमकुव्वंतो त्ताह्य कहं तस्त सो कत्ता ॥ १०४ ॥

आत्माका परमें अकर्तृत्व—आत्मा पुद्गल कर्मोंमें अपने द्रव्यको अथवा द्रव्यके गुणोंको नहीं करता है। उनमें उन दोनोंका नहीं करता हुआ उसका वह कर्ता कैसे हो सकता है। जैसे घड़ा बनता है वह मिट्टीसे बना करता है तो उस मिट्टीके घड़ेमें मिट्टीके गुण आदि स्वभावसे मौजूद हैं। इसमें कुम्हार अपने गुण नहीं रख देता है, न कुम्हारका शरीर उसमें पहुँच जाता है न कुम्हारीकी आत्मा, न कुम्हारका गुण, न कुम्हारकी पर्याय कुछ भी तो उस मिट्टीमें नहीं पहुँचती, क्योंकि कोई भी पदार्थ किसी अन्य द्रव्यको नहीं बदल सकता है। जब कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थको नहीं बदल सकता है तो यह कुम्हार भी अन्य वस्तुमें परिणमानेमें समर्थ हो सो नहीं है। वह अपने गुण, अपना स्वरूप, अपनी पर्याय कुछ भी कलशको नहीं देता है इस कारण कलशका वास्वतमें यह कुम्हार कर्ता नहीं होता है। यह एक दृष्टान्त है। कोई भी चीज किसी दूसरी वस्तुरूप नहीं बदल जाती है इसी प्रकार

पुद्गलमय ज्ञानावर्णादिक कर्मोंमें पुद्गल द्रव्य और पुद्गलके गुण अपने ही स्वभाव में मौजूद हैं उसमें आत्मा अपना द्रव्य अथवा गुण नहीं रख सकता, क्योंकि कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्यके गुणका संक्रमण करनेमें असमर्थ है तब यह आत्मा अन्य द्रव्यके गुणरूप नहीं बदल सकता अन्य वस्तुको नहीं परिणम सकता। अपने द्रव्य और अपने गुणोंको दूसरे पदार्थों में नहीं धारण करता तो उसे वास्तवमें परका कर्ता नहीं कहा जा सकता है। इसी कारण यह सिद्ध है कि आत्मा पुद्गल कर्मोंका कर्ता नहीं है।

परके अकर्तृत्वका उदाहरण—जैसे स्फटिकर्मणि निर्मल है, किन्तु उसमें हरा-पीला किसी प्रकारका डंक लग जाय तो अपने आपमें हरा-पीला आदि रूपोंमें परिणमता है। वहाँ पर भी उपाधिने स्फटिकको परिणमाया नहीं। उपाधि उपाधिकी जगह है और यह स्फटिक अपनेमें ही परिणमा। जैसे दर्पणको आगे रखकर अपन देखते हैं तो दर्पणमें मुँह की छाया प्रतिभात होती है। अब उसमें यह बताओ कि मुँहका आकार, मुँहका रूप, रंग, मुँहका प्रदेश कुछ भी गया है क्या दर्पणमें मुँहमें मुँह है और दर्पणमें दर्पण है पर ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि समक्षगत वस्तु का निमित्त पाकर वह दर्पण छायारूप परिणम जाता है। परकी उपाधिने दर्पणको नहीं परिणमाया। कोई वस्तु किसी पर वस्तुको नहीं परिणमाता। इसी प्रकार पौद्गलिक कर्मोदयका निमित्त पाकर जीवमें भावकर्म होता और जीवके भावकर्मका निमित्त पाकर पौद्गलिक कर्मत्व होता है तो भी एक दूसरे में अपना स्वरूप, गुण या परिणमन नहीं रखता है।

अशुद्धद्रव्यके अशुद्ध परिणमनकी सम्भवता—कोई यह माने कि कोई ऐसा मुक्त आत्मा है जो सदासे ही मुक्त है, ईश्वर है वह पर उपाधिसे परिणम-परिणम कर जगतको बनाता है तो यह बात नहीं बन सकती है क्योंकि स्फटिक तो मूर्तिक है, उनके साथ तो उपाधिका सम्बन्ध घटित होता है पर जो मुक्त है, ईश्वर है वह तो अमूर्तिक है। वह सर्वथा अमूर्तिकके रूपसे उपाधिका कैसे सम्बन्ध कर सकता है। लेकिन प्रकृतिमें, संसारी जीवोंमें जो कि अनादिसे कर्मोंमें बंधा है, शक्तिरूपसे तो अमूर्तिक है पर उसकी जो व्यक्ति बन रही है, व्यवहार दृष्टिसे देखो तो वह मूर्तिक होती है। उसके साथ मूर्त उपाधिका सम्बन्ध घटित हो सकता है। अशुद्ध जीवोंमें तो पर उपाधिका निमित्त पाकर विकार परिणमन हो सकता है, किन्तु शुद्ध जीवों में कभी भी विकार परिणमन नहीं हो सकता। यह यद्यपि संसारी जीव द्रव्यकर्मके निर्माणमें निमित्त बनता है। निमित्त बनो, किन्तु यह कर्ता नहीं होता है। कर्ता उसे कहते हैं जो कि उस पर्यायरूप स्वयं परिणम जाय। सो यह आत्मा पुद्गल कर्मरूप नहीं परिणमता। सो यह पुद्गल कर्मोंका आत्मा कर्ता नहीं है। फिर जो अन्य प्रकारकी बातें कही जाती हैं कि जीव कर्मोंका कर्ता है ये सब उपचारकी बातें हैं।

जीर्वाह्य हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।

जावेण कदं कम्मं मण्णदि उवरायारमत्तेण ॥ १०५ ॥

निमित्त रूप जीवों के होनेपर कर्मबंधका परिणाम होता है, उसे देखकर लोग उपचार से ऐसा कहते हैं कि जीवने कर्मको किया है।

भ्रमीके भ्रमकी सहायक बातें—एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं होता है मगर लोगों को जो भ्रम हो गया है कि कोई द्रव्य किसी परका कर्ता है इस भ्रमका कारण निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। कुछ तो बात है एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ सम्बन्ध की, वह है केवल निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध वाली बात तो इस आधारसे और आगे उछलकूदकर अज्ञानी जीव यह निर्णय कर लेता है कि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका कर्ता है। मैं कर्मका कर्ता हूँ, मैं शरीर को पुष्ट करता हूँ। मैं दूकान मकान बनाता हूँ, मैं परिवारका पोषण करता हूँ आदिक नाना कर्तृत्वको लाद लेता है। यह अज्ञानी जीव तो सर्वत्र केवल अपने परिणाम भरकर पाता है, इससे आगे और कुछ नहीं करता पर अज्ञान अवस्था ऐसी बड़ी विपत्ति है कि इस तथ्यका औंधा परिणामकर देता है और विपरीत कल्पनाएं बना डालता है।

जीवद्रव्यके निमित्तत्वका अभाव—यह जीव स्वभाव से पुद्गलकर्मके निर्माणका निमित्तभूत नहीं है। पर आत्मामें अनादि कालसे अज्ञान लगा हुआ है उस निमित्त भूत अज्ञानसे परिणामने के कारण यह पुद्गलकर्मके बनाने में निमित्त भूत हो जाता है यहमें जीवद्रव्य स्वरसतः कर्मबंधका निमित्त नहीं होता पर चला आया हूँ अनादिसे अज्ञानमय सो अज्ञानमय परिणामके कारण मैं पुद्गलकर्मके बंधका निमित्तभूत बन गया हूँ। मुझमें यह अज्ञान कबसे चला आया है। तो कोई समय नहीं नियत किया जा सकता है। मानलो कोई दिन नियत किया कि अमुक दिनसे मुझमें अज्ञान बसा है तो उस दिनसे पहिले तो ज्ञानी हो गया, शुद्ध हो गया। जो शुद्ध हो उसके फिर अशुद्ध बननेका क्या कारण है? सो कर्मोदय, कर्मका बंध और जीवका विभाव ये तीनों अनादि से हैं।

द्रव्यकर्म व भावकर्मकी आनदिसन्तति—अच्छा सोचो जरा, पहिले कर्म मानते हो या विकार मानते हो? अगर कर्म पहिले मानतेहो कि जीवके साथ कर्म पहिले लगे पीछे विकार हुए, उससे पहिले विकार नहीं थे तो जो अविकारी आत्मद्रव्य है उसमें कर्म क्यों लग गए? अगर कहो कि पहले विकार थे विकार होने से इस जीवके साथ कर्म लग गए। तो विकारसे पहिले कर्म न थे, तो विकार हो कैसे गए? स्वरसतः जीवमें विकार नहीं है। न कर्महै, न कर्मका यह निमित्त बनता है। पर यह परम्परा अनादि से चली आई है। इसमें तर्क नहीं उत्पन्न हो सकती कि पहिले विकार थे या कर्म थे बीज और वृक्षमें पहिले बीज था या वृक्ष था। अगर कहो कि पहिले बीज ही था वृक्ष न था तो वह बीज वृक्षके बिना आया कहाँ से? और कहोकि पहिले वृक्ष था तो वह वृक्ष बीजके बिना आया कहाँ से। तो बीज और वृक्षमें प्रारम्भमें क्या मानोगे। किसी एककी प्रथम मानने में बुद्धि कुछ काम देती है क्या? हां कदाचित् कोई ऐसा मान बैठे कि ईश्वरने पहिले बीज पटक दिया फिर वृक्ष हुआ, फिर बीज हुआ। तो ईश्वरको पटकने के लिए बीज मिला कहाँ से? बीज बिना वृक्षके हो जाय यह नहीं हो सकता है। और मानो हो गया हो तो उस बीजका उपादान कुछ पहिले था ही नहीं कि ऐसा ही बीज रूप परिणम गया। बहुत युक्तियों से भी सिद्ध आगमप्रसिद्ध यह अनादि संतान बीज वृक्षवत् जीव और कर्ममें चली आ रही है। सो यह कर्म अज्ञान घावमय जीव का निमित्त पाकर

अनेक प्रकारकी प्रकृति स्थिति और अनुभागों रूप परिणम जाता है। सो भैया! जीव और कर्ममें मात्र निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। इतना मात्र आधार पाकर धीरे-धीरे भूल भटक कर लिया, यह मान लिया है कि आत्मा ने पौद्गालिक कर्म किया। सो ऐसा विकल्प जो ज्ञानभ्रष्ट है, जिन्हें निर्विकल्प स्वरूपका अनुभव नहीं हुआ है ऐसे विकल्प परायण अज्ञानी जीव के हो होता है। वह सब उपचार ही है, किन्तु परमार्थ नहीं। कोई सम्बन्ध देख कर बात बढ़ा दी गई। जैसे डिब्बे में घी रखा जाता है सो घीका एक वाह्य आधार है इतने मात्र सम्बन्धको देखकर लोग यह कह बैठते हैं कि घीका डिब्बा लावो। और घीका डिब्बा कैसे लाया जा सकता है। वह तो टीन का डिब्बा है। उसमें घी रखा है। पर आधार-आधेय सम्बन्ध मात्र तक कर लोग कह बैठते हैं कि घी का डिब्बा है पानी का लोटा है। जिस घर में शौच जाने का लोटा अलग होता है और खाने-पीने के बर्तन अलग होते हैं तो वहाँ कहने लगते हैं कि यह पानी का लोटा है और यह टूटीका लोटा है तो वह है तो धातुका लोटा, पर कुछ से कुछ कह बैठते हैं। जो भंगी लोग महल मकानोंकी टट्टियाँ साफ करते हैं वे यों कहने लगते हैं कि मेरे १० मकान हैं। और सम्बन्ध मात्र इतना है कि वे १० मकानों का मैला साफ करते हैं। पर इतने ही सम्बन्ध से कह बैठते हैं कि मेरे १० मकान हैं। और वे समय पाकर गिरवी भी रख देते हैं। अब बड़े सेठ की हवेली गिरवी में रख दो, कितने में? १५ रुपये में। कुछ काम पड़ा था सो कहा कि १५ रुपये में यह हवेली गिरवी रख दी। उसका प्रयोजन इतना है कि १५ रुपये बिना ब्याज के तुम्हारे जब तक न दे दें तब तक तुम उस हवेली की टट्टी साफ करो। और उसके पैसोंसे खावो-पियो। तो कोई सम्बन्ध पाकर लोग उसके स्वामीपनकी बात करने लगते हैं। और कर्तापनकी बात करने लगते हैं। पर परमार्थ दृष्टिसे यथार्थ दृष्टिसे विचारा जाय तो वे सब उपचार की बातें हैं। कैसे हैं ये उपचार तो इसके लिए दृष्टान्त देते हैं।

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदंति जंपये लोगो।

तह ववहहारेण कदं गाणावरणादि जीवेण ॥ १०६ ॥

जीवमें कर्मकर्तृत्व के उपचारका उदाहरण—जैसे योद्धावों के द्वारा युद्ध किया जाने पर लोग ऐसा कहते हैं कि राजाने युद्ध किया। सो यह व्यवहारका कथन है। राजा तो महलों में अब भी अपनी सोसाइटी में बैठा हुआ है। मर रही है सेना युद्ध कर रहे हैं सैनिक पर यह कहा जाता है कि राजा युद्ध कर रहा है। इसी प्रकार आत्मामें तो हो रहे हैं ज्ञानावणादिक रूपसे परिणत पुद्गलकर्म स्कन्ध पर व्यवहारसे कहा यों जाता है कि जीवने ज्ञानावरणादिक कर्मोंको किया। युद्धमें युद्धरूप परिणम कौन रहा। वे योद्धा लोग। युद्ध रूप परिणमनसे स्वयं परिणमने वाले योद्धावों ने तो युद्ध किया और राजा जो स्वयं युद्ध रूपसे नहीं परिणम रहा है उसे लोग क्या कहते हैं कि राजा युद्ध कर रहा है। तो यह बात उपचारसे है परमार्थ से नहीं है। उसका अर्थ यों लगे कि इस राजा को सेनायुद्ध कर रही है, राजा के हुक्म से कर रही है, उस हुक्म के जय पराजयका फल राजा को मिलेगा। सेना हार गई तो राजा हार गया ऐसा लोग कहेंगे। और उसका विषाद राजा को होगा।

इसलिए कहा जाता है कि राजा ने युद्ध किया।

जीवमें कर्मतृत्व के उपचारका विवरण—इसी प्रकार ज्ञानावर्णादिक कर्म आत्मा से स्वयं परिणमने वाले पुद्गल द्रव्यों के द्वारा ज्ञानावर्णादिक कर्म किए गए हैं अथवा पुद्गल कर्मों में ही ज्ञानावर्णादिक कर्मरूपसे परिणमन होता है और यह आत्मा स्वयं तो ज्ञानावर्णादिक कर्मरूप से नहीं परिणम रहा है पर लोग क्या कहते हैं कि आत्माने ज्ञानावर्णादिक कर्म किया। सो यह कहना केवल उपचार कथन है, वस्तुतः यह आत्मा कर्मों को नहीं करता है। कर्ता कर्म और क्रिया तीनों एक द्रव्यमें होते हैं। भिन्न-भिन्न द्रव्योंमें कर्ता कर्म क्रियाएं नहीं होती है इसीलिए तो लोग हैरान हैं कि पर वस्तुके परिणमन का कोई अधिकारी तो है नहीं और मानते है ये अज्ञानी जीव अधिकारी, जैसा परिणमन चाहते हैं वैसा परिणमन होता है नहीं और मानता है यह अज्ञानी कि मैं इनका स्वामी हूँ अधिकारी हूँ, जो मैं चाहूँ सो इनका होगा। मान रहे हैं ये ऐसा और होता है बिल्कुल विपरीत तो ये दुःखी होते रहते हैं। और सही मानलें, जो जैसा परिणमता है वह अपने उपादानसे परिणमता है, कोई किसीका क्या कर सकता है तो विषाद समाप्त हो जाए।

इच्छानुसार परिणमन न हो सकनेका एक पौराणिक उदाहरण—सीताजी का रामचन्द्र जी पर व्यवहार दृष्टि से कितना अधिकार था और रामका सीता पर कितना अधिकार था। पर जब रामचन्द्र जी ने सीता जी को जंगलमें छोड़ दिया तो सीता यदि यह सोचे कि मैं जो चाहूँ सो कर सकती हूँ पर यह क्यों नहीं हो रहा है, सो वह दुःखी होती होगी। पर अपना ज्ञान यथार्थ रखती है कि वह राम एक पर चेतन है उनका परिणमन उनमें है, वे परके अधिकारी नहीं हैं, तो इतना सोचकर वह सीता शांत हो जाती है। जब अग्नि परीक्षा हो गई और सीता विरक्त होकर नगर छोड़कर जाने लगी तो रामचन्द्र जी ने कितना चाहा कि यह सीता अब घरमें रहे भारी निवेदन किया, क्षमा याचना की, विह्वल हो गए मगर कुछ वश न चला। सीता को मोह रहा नहीं वह आत्मस्थ हो गई। जब सीताका जीव प्रतीन्द्र बन गया तब अवधि ज्ञानसे सोचा कि मेरे पूर्व भव के पति श्री रामचन्द्र अब मुक्त होने वाले हैं सो ऐसा करें कि अभी मुक्त न होने पायें, कुछ और संसारमें रह जायें फिर हम और वे दोनों एक साथ मुक्त होंगे। इस आशयसे कितने विघ्न किए उस प्रतीन्द्रने, पर श्री रामचन्द्रजी पर कुछ वश न चला?

अन्तःश्रद्धा व कृत्या—किसी जीवका किस किसी अन्य जीव पर वश नहीं चलता। आसानीसे कुछ बात होता हो, हो जाय न होती हो तो बिहल न हो किसी परिणमन बिना इस जीवका कुछ अटका है क्या? पर वस्तु यों परिणमा तो क्या अन्य प्रकार परिणमे तो क्या। उससे कुछ मेरा अटका नहीं है। ऐसा जो जानता है वह ज्ञानी पुरुष पर द्रव्योंमें प्रति निवद्ध नहीं होता, आधीन नहीं होता। और यह तो सब व्यवहार की भाषा है। ज्ञानी पुरुष भी व्यवहारकी भाषा बोलता है पर उसके संस्कारमें यथार्थ बात तब भी बनी रहती है। सिर में दर्द हो जाय तो क्या ज्ञानी यह नहीं कहता है कि और सिर में दर्द है दवा लावो पर श्रद्धामें यह बात बसी है कि मेरे तो सिर ही नहीं है मैं

तो ज्ञानानन्द मात्र अमूर्तिक पदार्थ हूँ। श्रद्धामें तो इतनी विविक्तता बसी है और व्यवहारमें, चर्यामें सिर दर्द होने पर कहता ही है कि मेरे सिर में दर्द है। तो कहनेमें तो ज्ञानी भी उसी भाषा में बोलता है और अज्ञानीभी उसी भाषा में बोलता है पर ज्ञानीके यथार्थ बोध बना रहता है और अज्ञानी जो भाषा बोलता है उसीको यथार्थ समझता है। व्यवहार भाषाके प्रयोग बिना समझने और समझानेका भी काम नहीं चलता, लेकिन यथार्थ ज्ञानमें वस्तुका यथार्थ स्वरूप स्वतंत्र दृष्ट होता हो है। यह जीव ज्ञानानन्दमात्र भाषात्मक केवल भावोंका होकर सकने वाला है यह अपने परिणामोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं करता अपने प्रदेशों से बाहर तो इसकी गति है ही नहीं, तो करेगा क्या यह दूसरों में। ऐसा पर द्रव्योंके साथ आत्माको अकर्तृत्व जान लेने पर पर द्रव्योंसे मोह छूटता है न भैया! मोह और अज्ञान बढ़ने के कारण २ ही हैं। एक तो परका स्वामी मानना। वैसेतो दोनोंका एक ही मतलब है। जो परका कर्ता मानता है उसमें स्वामित्वका आशय गर्भित है और जहाँ परका स्वामित्व मानना है वहाँ परका कर्तृत्व गर्भित है। पर स्पष्ट रूपसे जानने के लिए समझियेगा कि अज्ञानमें दो प्रकार से नाच होता है-एक परका कर्ता समझनेका ओर दूसरा परका स्वामी समझनेका। यह जीव निजजीवातिरिक्त अन्यसमस्त द्रव्योंका न तो कर्ता और औन न अधिकारी है कर्ता समझना या अधिकारी समझना यह केवल उपचारका कथन है। वस्तुमें क्या बात सिद्ध होती है इस बातको इस गाथा में कहते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ परिणमन नहीं करता। जब यह बात भली प्रकार सिद्ध हो चुकी तो अब इस निष्कर्ष रूपमें यह सिद्धान्त स्थापित किया जा रहा है।

उप्यादेदि करेति य वंधदि परिणामएदिगिणहदि य।

आदा पुग्बलदव्वं बवहारणयस्स वत्तव्वं ॥ १०७ ॥

जीव और कर्मके सम्बन्ध में सिद्धान्त—आत्मा पुद्गल द्रव्योंको उत्पन्न करता है और करता है, बाँधता है परिणमाता है तथा ग्रहण करता है यह सब व्यवहारनय का वक्तव्य है परमार्थसे आत्मा पुद्गल द्रव्यात्मक कर्मको नहीं ग्रहण करता, न परिणमाता, न उत्पन्न करता है न कुछ करता है, न बाँधता है, क्योंकि आत्माका और कर्मका व्याप्यव्यापक भाव नहीं है। आत्मा कर्मों से तन्मय नहीं है। वह पुद्गल द्रव्यात्मक पुद्गल द्रव्यद्वाराही पाया गया है पुद्गलका ही विकार है पुद्गलके स्वरूपसे रचा गया है, सो पुद्गलद्रव्यात्मक कर्मोंका इस आत्मासे सम्बन्ध नहीं है।

प्राप्य कर्मका कर्तृत्व—जो पाया जाय जो विकारमें आए और जो रचा जाय उसे कर्म कहते हैं। क्यापुद्गल कर्मको आत्मा प्राप्त करता है नहीं। पुद्गलकर्म को पुद्गलही प्राप्त करता है। यहाँ प्राप्त करने से मतलब भिन्न क्षेत्रमें लानेका नहीं है, किन्तु एक परिणति छोड़कर दूसरी परिणतिको ग्रहण करना यही पानेका मतलब है। जैसे आम पहिले हरे रंग का था अब बदलकर लाल रंग में आया तो आम अब लाल रंगमें आ गया। यहाँ यह बात नहीं है कि आम दूसरी जगह था और लाल रंग दूसरी जगह था। फिर आमने उस लाल रंगको पकड़ा हो, यह अर्थ नहीं है, किन्तु नवीन परिणति बनानेका ही नाम परिणमन करना है। जैसे आम हरे रंगको बदलकर पीले रंगमें आ गया

तो वह रंग आममें ही तन्मय है। वास्तवमें जो प्राप्त करता है और जो प्राप्त किया जाता है वह तन्मय ही होता है। यहाँ परमार्थ प्राप्तिकी बात कही जा रही है। व्यवहारमें तो प्राप्त करना कहते हैं कि उसे जो बाहर रखीहो और अपने पास करलें, किन्तु परमार्थ से प्राप्त करना उसे कहते हैं कि अभी तो न हुआ और अब हो गया। तो ऐसे प्राप्य कर्म पुद्गलके द्वारा पुद्गल ही हैं।

विकार्य कर्मका कर्तृत्व—विकार्य कर्म उसमें कुछ विकार आ गया हो सो विकार्य है। विकार भी विकारीमें तन्मय होता है। पौद्गलिक कार्माणवर्गणाएँ जो अकर्म रूप थी, तब विकार न था अब पुद्गल कर्मोंपर विकार आ गया तो कर्मरूप विकार आने पर कर्माणद्रव्य वही है विकारकी अवस्था नई आई है। विकारी जो कर्म करता है उसका कर्ता विकारी पुद्गल कार्माण वर्गणा है।

निर्वर्त्य कर्मका कर्तृत्व—एक कर्म होता है निर्वर्त्य जैसे लोहे की तलवार बनाई तो रचना हुई है लोहे से। लोहेमें ही वह तलवार तन्मय हुई। यों ही उम्मीदवार पुद्गलकार्माणवर्गणाओं में जो कर्मत्व की रचना हुई है वह उन कार्माणवर्गणाओंमें हुई है। तो कर्मों में यह तीन प्रकार का सम्बन्ध पुद्गलकर्मोंके साथ है, पुद्गल द्रव्यके साथ है—प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ये आत्माके साथ नहीं है। कर्म पुद्गलसे ही व्याप्यव्यापक भाव रखता है आत्मामें आत्मा है व कर्मोंका उदय जुदा है। स्वरूपास्तित्वके देखने पर यह बात स्पष्ट होती है। यह आत्मा पुद्गलद्रव्यात्मक कर्मोंको ने ग्रहण करता, न परिणमाता है, न उत्पन्न करता है, न और कुछ करता है, न बंधता है।

जीवमें कर्मकर्तृत्वके व्यवहारका कारण—यद्यपि आत्माका और पुद्गल कर्मोंका व्याप्य व्यापक भाव नहीं है, तब भी आत्मा पुद्गल द्रव्यात्मक कर्मोंको ग्रहण करता है, परिणमाता है, उत्पन्न करता है, बाँधता है आदिक विकल्प करना वह व्यवहार का कथन है व्यवहार की नींव है निमित्त। किसी तिमित्त से नैमित्तिक कार्यके करनेका आरोप करना वह सब व्यवहार कहलाता है इसलिए आत्मा पुद्गल कर्मोंका अकर्ता ही समझिए। यहाँ व्यवहार रुचि वाले पुरुषोंका प्रयोजन यह था कि आत्मा पुद्गल कर्मोंको उत्पन्न करता है अर्थात् पुद्गल कर्मोंको प्रकृतिरूप करता है। कर्ममें ४ बंध होते हैं। प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग और प्रदेश बंध यह चल रहा है निश्चय दृष्टिका कथन। निश्चय दृष्टिसे घड़ीको हाथसे उठाया और हिलाया पर पूछा जाए कि घड़ी को किसने हिलाया? तो निश्चय दृष्टि से उत्तर होगा कि घड़ी ने घड़ीको हिलाया और व्यवहार दृष्टिसे उत्तर होगा कि घड़ीको हाथने हिलाया।

निश्चय और व्यवहार दृष्टिके भेदका स्रोत—निश्चयदृष्टि कहते उसको हैं जहाँ केवल एक चीज देखी जाय दूसरी चीज साथ में न देखी जाय उसे कहते हैं निश्चय दृष्टि जब हम केवल हिलती हुई घड़ी को देख रहे हैं, हाथ को नहीं देख रहे हैं, ज्ञानसे नहीं जान रहे हैं तो ऐसी स्थितिमें घड़ीकी हालतका कर्ता दूसरेको नहीं कह सकते। अगर दूसरे को देखते हैं तो उसका नाम है व्यवहारदृष्टि व्यवहारसे घड़ीभी देखी जा रही है ओर हाथभी देखा जा रहा है। तब यों कहा जायगा कि हाथने घड़ी को हिलाया। जहाँ केवल घड़ीको देखा जा रहा है, हाथको नहीं देखा जा रहा है उस समय हिलती हुई घड़ीको कैसे बतायेंगे, उस दृष्टिसे घड़ीके हिलानेका कर्ता घड़ीही है। जैसे एक दर्पण

सामने रखा है और दर्पणके पीछे दो चार पुरुष खड़े हैं उन दो चार पुरुषोंकी छाया दर्पणमें आ गई अब हम जब उन दो चार पुरुषोंको जानते ही नहीं अथवा ऐसा कोई दर्शक पुरुष जो इन बातोंको समझता ही न हो कि दर्पणमें दूसरे पुरुषकी छाया पड़ रही है ऐसा पुरुष उस दर्पण मात्रको देखे और दर्पणमें हो रही है दौड़ धूप को। और उस पुरुषसे पूछा जाय कि यह छाया किसकी है? तो वह उत्तर देगा कि यह छाया दर्पण ही कर रहा है। और जिसे विदिल हो कि वाह्य पदार्थों के निमित्तसे दर्पणमें छाया प्रतिबिम्बित होती है और उन दो चार पुरुषोंकी छाया इस दर्पणमें पड़ रही है तो यह उनकी ही छाया है, यह व्यवहार दृष्टि का कथन है और यह दर्पणका ही परिणमन है ऐसा कहना निश्चयदृष्टिका कथन है। भैया! बताओ यह जीव शरीरमें बंधा है कि नहीं? आपका जीव शरीर से बंधा है या नहीं? तो निश्चय दृष्टिसे देखेंगे कि शरीरसे जीव बंधा नहीं है और व्यवहार दृष्टि से शरीर और जीव दोनोंके देखने पर जीव बंधा है। तो निश्चयदृष्टि से ही जीवको देखा गया है। जहाँ केवल आप अपना जीव तक रहे हो उस समय आपको शरीर का पता ही नहीं है, शरीरका भान ही नहीं है। केवल आप अपने जीवको देख रहे हैं उस समय आप का जीव क्या किसीसे बंधा है। किसीसे नहीं बंधा है। वह अपने प्रदेशोंसे ही बंधा है। और जब शरीर और जीव दोनों एक साथ देखने लगे तो आप यह कहेंगे कि यह जीव शरीर से बंधा है। इसी प्रकार पुद्गल कर्ममें जो कर्मत्व आता है उसके सम्बन्धमें यदि निश्चय दृष्टि से देखे तो पुद्गल कर्म ही देखा जा रहा है, अब सोचों कि इन कर्मोंमें कर्मत्व लाने वाले कौन हैं? तो उत्तर होगा कि कर्मोंमें कर्मत्व लाने वाले ये कर्मही हैं। और जब व्यवहार दृष्टिसे देखेंगे तो यह विदिन हो जाता है कि यदि जीव रागद्वेष नहीं करता तो पुद्गल कर्म नहीं बनता यहाँ जीव को देखा जा रहा है और पुद्गल कर्मोंकी हरकत हो रही है उसे भी देख रहे हैं तब यह कहा जायेगा कि आत्मा पुद्गल कर्मोंको करता है। तो व्यवहार दृष्टि से आत्मा पुद्गल कर्मोंका कर्ता है और निश्चय दृष्टिसे पुद्गल कर्मोंका कर्ता वही पुद्गल है।

गाथामें चतुर्विधि बन्धका संकेत— भैया! चार बंध जो आगममें बताए हैं उनका यहाँ संकेत है कि आत्मा पुद्गल कर्मोंको उत्पन्न करता है। इसका अर्थ लेना है कि पुद्गल कर्ममें प्रकृतिको करता है यानि प्रकृतिबन्ध करता है। आत्मा पुद्गलकर्मको बाँधता है स्थितिबंध करता है, यानि पुद्गलमें कर्मकी डिग्रियाँ बनाता है। स्थिति बंध बनाता है कि कितने दिन तक ये कर्म आत्मामें मिलेंगे? आत्मा पुद्गलको ग्रहण करता है इसका यर्थ लेना कि यह आत्मा अपने सर्व प्रदेशोंके द्वारा इस पुद्गल कर्म समूहको इस तरह जकड़ता है जैसे तपा हुआ लोहा जलको अपने सर्व प्रदेशोंमें खींचता है। इतनी बातका जानना व्यवहारनय से होता है। निश्चयनयसे तो आत्मा केवल अपने परिणमन की करता है अन्य को नहीं करता है।

उदाहरणपूर्वक व्यावहारिक दर्शन— जैसे २० हाथ दूर खड़ा लड़का दूसरे लड़केको देख कर जीभ मटकाता है और अंगूठा हिलाकर चिढ़ाता है तो चिढ़ने वाला लड़का उसको देखकर दुःखी होता है यहाँ केवल उस चिढ़ने वाले लड़केको देखो और पूछो कि तुमको दुःखी कौन कर रहा है? केवल

एक ही लड़केको देखकर पूछा जाय कि तुमको दुःखी कौन कर रहा है? तो उत्तर आएगा कि इसको यह अपने आप स्वयं दुःखी कर रहा है। और जहाँ दोनों पर निगाह हुई कि इसने यो जीभ मटकाया, अंगूठा हिलाया तो उसको देखकर यह कहा जायेगा कि यह दूसरा लड़का इसको चिढ़ाकर दुःखी का रहा है। तो व्यवहार दृष्टिमें दो का सम्बन्ध बताया जाता है।

निश्चयकी दृष्टियाँ—निश्चय दृष्टिमें एक को देखा जाता है। यदि उस एकको स्वभावरूपसे देखते हैं तो उसका नाम होता है परम शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि, उस एकको अशुद्ध परिणमनसे परिणमते हुए देखते हैं तो उसका नाम होता है अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि। उस एकको यदि शुद्ध परिणमनसे परिणमते देखते हैं तो उसका नाम है शुद्धनिश्चयनय दृष्टि। यह आत्मा अपने आपमें रागपरिणति बना रहा है ऐसा देखने का नाम है अशुद्ध निश्चय दृष्टि। यह सिद्ध प्रभु अपने आपको अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्यरूप परिणमता है। ऐसा देखने का नाम है। शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि। यह जीवन संसारी है, न मुक्त है, न शरीरसे बंधा है, न शरीरसे मुक्त है। यह तो केवल चैतन्यस्वभाव मात्र है। अपने आपके स्वरूपमें जो कुछ स्वतः पाया जाता है उसको देखे तो इसको कहते हैं परमशुद्ध निश्चयनय दृष्टि।

एकत्वदर्शनकी असुलभता—इस जगतने अब तक केवल व्यवहार दृष्टिका आलम्बन लिया। निश्चयका इसे पता नहीं है, सो व्यवहार दृष्टिसे रहकर यह सर्व सम्बन्ध मान रहा है। प्रत्येक पदार्थ असम्बद्ध है, जुदा है और अपने स्वरूपसे परिणमनेका स्वभाव रखता है। इस बातको जब तक नहीं पहिचानता तब तक यह जीव अज्ञानी है, संसार में रुलता फिरता है। कभी धर्मका काम करे तो वहाँ भी सम्बन्ध ही माना। स्वयं भी मैं कुछ हूँ ऐसा समझने में न आने दिया ऐसी स्थितिको परमार्थसे तो धर्म नहीं कहते हैं। पर ऐसा ही ऐसा करने वाले जब पचासों लोग हैं तो वे आपसमें धर्मात्मा कहने मात्रसे तो कर्मबंधमें फर्क नहीं आता। जब आत्मत्व कर्मबंधके योग्य न रहे तब ही कर्मबंधमें फर्क आता है। धर्म करने के लिए वस्तुका स्वयं सहज स्वरूप जानना अत्यावश्यक है। वस्तुके एकत्वस्वरूपके ज्ञान बिना मोह नहीं हटता है।

अन्तरङ्ग आशयके अनुसार धर्म-अधर्म की स्थिति—कितने ही लोग मोहको पुष्ट करनेके लिए धर्म करते हैं तेरे घरके लोग खुश रहें मेरा जीवन बड़ा अच्छा बीते, हमारी जिन्दगी अच्छी तरह कट जाय ऐसी आशा रखकर पूजा करें तो वह वास्तविक पूजा नहीं है। जो पूजा, जो भक्ति, जो चिन्तन, जो स्वरूप दर्शन मोहके विनाशके लिए आचार्यों ने बताया है उसमें से कितनी ही बातें मोहको पुष्ट करने के लक्ष से भी की जा सकती है मोह को पुष्ट करे वह अधर्म है और जो मोहको दूर करे वह धर्म है। धर्म ज्ञाता दृष्टा रूप परिणतिका नाम है और अधर्म मोह रागद्वेष परिणतिका नाम है। सो जगत के जीवों में हम कुछ अपने को कहलवा लें इसकी तो रंच भी आवश्यकता नहीं है। जो जहाँ है वहाँ बना रहे, जो जैसा है बना रहे, कोई मुझे जानता नहीं है, उनसे मेरा कोई सुधार बिगाड़ नहीं है, किन्तु अपनेको अज्ञान बुद्धिमें रखें तो हिंसा है और अपने को ज्ञानपरिणतिमें रखा तो उसमें अहिंसा है।

निजी बात—यहाँ वस्तुस्वरूपका दिग्दर्शन कराया जा रहा है। यह चर्चा कठिन नहीं है। ऐसा नहीं है कि समझमें न आए। यह खुदकी ही बात है। खुदकी बात खुदकी समझमें तब तक नहीं आती जब तक कि खुद को ओर आना न चाहें। हम बाहरी पदार्थों की ओर तब तक झुकते हैं जब तक निजकी बात समझमें नहीं आती। बाह्य पदार्थोंका झुकाव न हो और निजके हितकी बुद्धिसे कुछ परखें तो अपनी ही बात अपनी समझमें न आवे ऐसा नहीं हो सकता है। यह आत्मा स्वभावतः ज्ञान भाव और आनन्द भाव रूप है।

रसना इन्द्रियका ऊधम—इन ५ इन्द्रियोंमें सबसे अधिक विकट दो इन्द्रियाँ हैं एक जीभ और एक आँख बहुत ऊधम मचाती है। जीभका ऊधम बड़ा ही विकट है, कितना ही पेट भरा हो फिरभी अगर इमलीके पानी की खटाई मिले तो पेटमें जगह निकल ही आती है। अरे इमलीके चाटकी क्या कीमत है? चाटमें और बनता क्या है? पकौड़ी मकौड़ी ही तो बनती है। अगर चाटवाला दिख जाय तो चाट खानेका मनकर ही जाता है। खड़े है बाजार में, खड़े हो खड़े झट दुअन्नी निकाली और चाट खा रहे हैं। यह रसना भी बड़ा ऊधम मचाती है। अच्छा भोजन न बने तो घरमें लड़ाई हो जाय। इस रसनासे सब मोही लोग परेशान है। कहते हैं कि बड़ा विकट जमाना है। अरे जमाना क्या विकट है। इस रसनाने तो खर्च अधिक बढ़ा दिया है। खर्च ५०० रु० महाका और आमदनी ४०० रु० माह है तो परेशानी तो है ही। अरे ५०० की जगह पर ३०० रु० का ही माहवार कर लो। बनावट, सजावट पोजीशनकी बातें कम कर दो तो सुखी तो अब भी हो। दुःख तो यहाँ विषय वासनावोंके बढ़ने का है। तो एक तो रसना दुःख देने वाली चीज है। इस रसनाने तो दुतर्फी आक्रमण कर लिया-एक तो स्वाद लेनेका आक्रमण और दूसरा किसी को बुरा बोल देने का आक्रमण। इस जीभ को हिला दो, कड़ुवे वचन बोल दो तो झगड़ा बढ़ गया। और इसी जीभसे बढ़िया वचन दूसरों से बोल दिया लो सुखी हो गए। तो इस जीभने जगतके लोगों पर आफत डाल रखी है।

नेत्र इन्द्रियका ऊधम—दूसरी विकट इन्द्रिय है आँख आफत मचाने वाली। कमाते तो १ रुपया है रिक्शा तांगा चलाकर और सिनेमा देखने जानेको तैयार बैठे हैं। ओर नहीं तो यहाँ बैठे हैं और सड़कसे कोई चीज उई तो बिना प्रयोजन ही उस चीजको देखे बिना नहीं रहा जाता है। यह क्या है? सारे दिन जहाँ हवाई जहाज चलते हैं जैसे आगरा में कलकत्ता में, जानते हैं कि उड़ते हैं फिर भी लोगोंकी निगाह उन पर पहुँच ही जाती है। हालाँकि चीज वही है जो रोज-रोज देखने में आती है, वे शरीर के सुन्दर रूप आखिर इस रूप में धरा क्या है? मांस, हड्डी, पीप इनसे ही तो यह आकार बना हुआ है। आकार को बनावट कमजोर हो गयी शरीरका रंग पीला हो गया। वहाँ कुछ सार नहीं मगर उसको ही सुन्दर मानकर देखने लगते हैं। तो जीभ और आँख इन दोनों ने इस मनुष्य पर बड़े संकट डाले हैं।

विकट इन्द्रियोके संकटसे बचनेकी सुविधा—यद्यपि रसना और नेत्र इन दोनोंने ऊधम

मचाया है फिर भी कितनी भली बात है कि पांचों इन्द्रियों में से तीन इन्द्रियों पर ढक्कन दोनों होंठ और आँखका ढक्कन दोनों पलकें। दोनों होंठ और दोनों पलक बंद कर लो बस संकट खत्म। कितनी अच्छी सुविधा मिल गई है कि संकट न आने पाये। पर इन दोनों इन्द्रियोंने ऊधम मचा रखा है। जरा होंठ और पलक बंद करके कुछ अन्तरमें निरखो तो सही। ये तीन इन्द्रियाँ कान, नाक और यह शरीर ध्यानकी गति में बाधा नहीं डाल रहे हैं, बाधक तो विशेष ये आंखें हैं। आंखोंको बंद करके और मन भी बहुत विचित्र बाधक है। यह मन कोसों मील दूर क्षण-क्षणमें दौड़ता रहता है सो इसे मनको भी समझाकर कि कहाँ बाहरमें दौड़ते हो सार कुछ रखा नहीं है, फिर भटककर यहीं विश्राम पावोगे, इसलिये भटकोही मत यों अपनी इन्द्रियों को संयत करके अपने आपको निरखो तो एक ज्ञान और आत्मा मिलेगा। इसके सिवाय आत्मामें और कुछ न पा सकोगे। यह आत्मा स्वभावसे ज्ञानानन्द मात्र है। यह ज्ञानानन्द मात्र आत्मा दिखने में आ जाय इसके लिए निश्चय दृष्टि करो।

निश्चय दृष्टिका अनुग्रह—निश्चय दृष्टिसे वस्तुगत सब कुछ यथार्थ समझमें आता है। कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यको नहीं परिणमाता है न ग्रहण करता है, न कर्मोंको बाँधता है। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें प्रवेश ही नहीं है। फिर भी यह कहना की आत्मा कर्मोंको बाँधता है, आत्मा दूकान करता है, आत्मा भोजन बनाता है, आत्मा अमुक व्यवहार करता है यह सब उपचार कथन हैं। सम्बन्ध मानकर कथन है। अन्य निमित्तको पाकर उपादानमें होने वाली स्वयंका परिणतिको निरखर दोनोंका सम्बन्ध जुटाता है इसको कहते है उपचार वर्णन। तो यहाँ तक यह सिद्ध किया गया है कि यह आत्मा चाहे ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी हो कोई भी आत्मा किसीभी पर द्रव्योंमें परिणमनको त्रिकालभी नहीं कर सकता। इस प्रकार इस कर्तृ कर्म अधिकारमें अपने आपमें आत्म वस्तुको अकर्ता देखा जा रहा है, ऐसा अकर्तृत्व स्वरूप ज्ञात होने पर यह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर सकता है। जीव पुद्गलकर्मका कर्ता है ऐसा कहना केवल उपचार से है। सो किस प्रकार उपचार है? उसके उत्तर में अब यह गाथा आ रही है।

गह राया ववहारा दासगुणुप्यावगोत्ति आलविदो।

तह जीवो ववहार दब्बगुणुप्यादगो न भणिदो ॥ १०८ ॥

उपचारकथनका एक दृष्टान्त—जैसे कहा जाता है कि यह राजा प्रजामें दोष और गुणका उत्पादाक है। कहते हैं ना कि यथाराजा तथा प्रजा राजा सज्जन है तो प्रजा सज्जन कहलाती है। राजा दोषयुक्त है तो प्रजा भी दोषयुक्त है। राजा प्रजामें दोष और गुण दोनों ही उत्पन्न करता है यह कहना केवल व्यवहारसे है। निश्चयसे राजा-राजामें ही कुछ कर सकता है और प्रजाका प्रत्येक व्यक्ति अपने आपमें ही कुछ कर सकता है फिर भी राजा प्रजामें दोष और गुण उत्पन्न करता है ऐसा कहना व्यवहार से है। इसी प्रकार यह जीव पुद्गल द्रव्यमें कुछ करामात कर देता है ऐसा कहना व्यवहार से ही है। जैसे प्रजामें लोकमें उनके ही कारण व्याप्य व्यापक भाव होनेसे गुण दोष

उत्पन्न होते रहते हैं। प्रजाके गुण दोषका राजाके साथ व्याप्य व्यापक सम्बन्ध नहीं है। राजापृथक् चीज है और प्रजाका प्रत्येक व्यक्ति पृथक् चीज है। एक दूसरे का व्याप्य व्यापक सम्बन्ध नहीं है फिर भी राजा प्रजा में दोष व गुणों को उत्पन्न करता है ऐसा कहना केवल उपचार है।

दार्ष्टान्तिकमें उपचारकथन—इसी प्रकार पुद्गल द्रव्यका जीवके साथ व्याप्य व्यापक सम्बन्ध नहीं है। जीव द्रव्यमें जो गुण दोष उत्पन्न होते हैं वे जीवके ही प्रयोजनसे व्याप्य व्यापक भावसे ही हुआ करते हैं। पुद्गलमें पुद्गलके ही प्रयोजन से गुण अथवा दोष उत्पन्न होते हैं। उनमें जीवका व्यापकभाव नहीं है। फिर भी जीव पुद्गलद्रव्यके गुण और दोषों को उत्पन्न करता है ऐसा कहना केवल उपचार है। यहाँ तक यह बात सिद्ध हुई है कि जीव पुद्गल कर्मका कर्ता नहीं है। न अब यहाँ जिज्ञासा उत्पन्न होती है। कि यदि जीव पुद्गल कर्म को नहीं करता है तो फिर पुद्गल कर्मको और कौन करता है? ऐसी कुछ शंकाके साथ प्रश्न किया जा रहा है। उस प्रश्नके समाधानमें आर्चायदेव कहते हैं कि तुम्हारा जो यह तीव्र वेग सहित मोह है कि जीवको पुद्गलका कर्ता माना जाय तब तो तुम प्रश्नरहित होते हो और जब कहा जाए कि जीव पुद्गलका कर्ता नहीं है तब तुम्हें एक प्रश्न उत्पन्न होता है। यह तीव्र वेग वाले मोहका प्रताप है। सो उस मोहको नष्ट करने के लिए तुम्हारे वास्ते अब बतलाते हैं कि उस पुद्गल कर्मको करने वाला कौन है? पुद्गल कर्मका कर्ता पुद्गल कर्मही है। इस बातको स्पष्ट करने के लिए एक साथ चार गाथाएँ आ रही हैं।

सामण्णपच्चया खलु चडरो भण्णांति बंधकत्तारो ।
 भिच्छतं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्व ॥ १०९ ॥
 तेसिं पुणोबि य इमो भणिदो भेनो दु तेरसवियप्पो ।
 मिच्छादिठोआदी जीव सजोगिस्स चरमंत ॥ ११० ॥
 एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्ममुदयसंभवा जह्या ।
 ते जदि करंति कम्मं णवि तेसिं वेदगा आदा ॥ १११ ॥
 गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्या ।
 तह्या जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥ ११२ ॥

आश्रवभृत कारण—बंधके करने वाले सामान्य रूपसे चार प्रकारके प्रत्यय हैं। वे आस्रव है। वे चार कौन कौन हैं? मिथ्यात्व, अविरति कषाय और योग। इन चारों के कुछ भेद पसारे जायें तो १३ भेद होते हैं। जिन्हें १३ गुणस्थान कहते हैं। इन १४ गुणस्थानों में अन्तिम जो अयोग केवली नामक गुणस्थान है वह आस्रवरहित है। और १३ वे गुणस्थान तक आस्रव रहते चलते हैं। उन गुणस्थानों में कहीं मिथ्यात्व कारण हैं कहीं मिथ्यात्व कारण नहीं है तो अविरति कारण न रहे तो कषाय कारण है और जहाँ न मिथ्यात्व रहे न कषाय रहे, व अविरति रहे वहाँ योग कारण है। जहाँ अविरति होती है वहाँ मिथ्यात्व हो या नहीं हो, पर आगे की धीमें याने कषाय और योग अवश्य होता है। जिन गुणस्थानों में कषाय है वहाँ मिथ्यात्व और अविरति हो अथवा न हो पर योग जरूर

होता है और जिन जीवोंके योग है उनमें से किसीके केवल योग ही हो और किसीके सब भी हों। सर्व सम्भव है।

अविरतिवाले चार गुणस्थानोंमें आस्रवका विभाग—मिथ्यात्व गुणस्थानमें जीवकी परिणति मोहमय रहती है। मिथ्यादृष्टि जीव परद्रव्योंसे भिन्न अपने आपका भाव भी नहीं करसकता है। देहको आत्मा मानता है। अपने कषाय परिणामको आत्मा मानता है। सासादन गुणस्थानमें न मिथ्यात्व रहता है न सम्यक्त्व रह पाता है। बीच की स्थिति होती है जैसे सम्यक्त्व शून्य कहा गया है। उस अवस्थामें परिणाम तो अयथार्थ ही रहता है पर उस समयकी स्थिति ऐसी है कि सम्यक्त्व भी न रहा और मिथ्यात्वभी न आ पाया यह गिरती हुई स्थितिमें होता है। मिथ्यात्वमें मिथ्यात्व सहित सर्व प्रत्यय के कारण आस्रव होता है और सासादनमें अविरति कषाय और योग इन तीनोंके कारण आस्रव होता है। तीसरे गुणस्थानका नाम है मिश्र गुण स्थान। मिश्रगुणस्थानको न केवल सम्यक्त्व कह सकते हैं और न केवल मिथ्यात्व कह सकते हैं ऐसी मिश्रपरिणति में मिथ्यात्वकृत बंध तो है नहीं किन्तु अविरति कषाय और योग कृत बंध है। चतुर्थगुणस्थानमें चूंकि सम्यक्त्व हो गया है और इन तीनों प्रकारके सम्यक्त्वोंमें से कोई भी सम्यक्त्व हो सकता है। इस चतुर्थ गुणस्थानमें सम्यक्त्व होने के कारण मिथ्यात्वकृत आस्रव बंध नहीं है किन्तु अविरतिपरिणाम है वहाँ अविरति कषाय और योग इनके निमित्तसे बंध होता है।

संयतासंयत व प्रमत्तसयतोंके आस्रवका विभाग—पंचम गुणस्थानमें मिथ्यात्वकृत बंध तो नहीं है किन्तु अविरतिके १२ भेदोंमें सभी ११ प्रकाकी अविरति पाई जाती है। केवल त्रसकाय अविरति नहीं रही। तो मिथ्यात्व और त्रसकायकी अविरति इनसे होने वाले बंध पंचम गुणस्थानमें नहीं है किन्तु अटपट बंध चलता रहता है। छठे गुणस्थानमें मिथ्यत्व भी न रहा, अविरति भी न रहा, किन्तु उनके सकल सन्यास हो चुका है और कषायोंमें से अनन्तानुबंधी कषाय, अप्रत्याख्यानावरण कषाय व प्रत्याख्यानावरण कषाय ये बारहों कषायें नहीं हैं।

अप्रमत्त आत्मावोंके आस्रवका विभाग—सप्तम गुणस्थानमें भी ये सब आश्रव नहीं होते हैं। और कषायमें संज्वचलन कषायका मंद उदय रहता है, किन्तु छठे गुणस्थानमें संज्वलन कषायका तीव्र उदय रहता है। अष्टम गुणस्थानमें भी कषाय और योगकृत आश्रव है पर वहाँ कषाय है। ९ वे गुणस्थानमें कषायमें से हास्यादि कषाय कृत आश्रव नहीं है। ६ शेष कषाय और योगकृत आश्रव है। ९वें गुणस्थानके कुछ ऊपरी भागों में धीरे-धीरे वह कषायभी दूर हो जाती है और अन्तमें केवल एक लोष कषाय ही रह पाती है। दसवें गुणस्थानमें केवल एक सूक्ष्म लोभ रहता है और योग होता है। उनका सूक्ष्म लोभ और योगकृत आश्रव होता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें केवल योगकृत आश्रव है वहाँ बन्ध नहीं होता है, पर आश्रव अवश्य है। साता वेदनी नामक कर्म आते हैं और चले जाते हैं, वे बन्धते नहीं हैं। इसीप्रकार १२३ वें गुणस्थानमें और १२६ वें गुणस्थानमें केवल सातावेदनीयनामक कर्मका आश्रव होता है और उसके आश्रवका कारण है योग।

अचेतन भावोंके अचेतनबन्धकर्तृत्वका निष्कर्ष—इस प्रकार सामान्यरूपमें आश्रव अथवा प्रत्यय चार प्रकार के हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। इनके फैलावमें मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर संयोगकेवली गुणस्थान तक १३ प्रकारके भारूप आश्रव कहे गए हैं। ये सब आश्रवका क्या ज्ञानस्वरूप हैं? क्या इन मिथ्यात्व, अविरति कषाय और योगमें जाननेको कला मौजूद है? नहीं, जब इनमें आत्मज्ञान की कला नहीं है इसलिए अचेतन है पुद्गल कर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं इसलिए वे अचेतन हैं। जब कि ये अब अचेतन हैं और ये ही अचेतन कर्मोंके आश्रव और बंधको करते हैं तो इससे यही तो सिद्ध हुआ कि जीव इन कर्मोंका आश्रव बंध नहीं करता और जब जीव इन पुद्गल कर्मोंका कर्ता नहीं है तो उनका यह भोक्ता भी नहीं है। इस प्रकार एक युक्तिपूर्वक यह बताया गया कि ये गुणस्थान अचेतन हैं और ये ही कर्मों को करने वाले हैं अथवा ये प्रत्यय अचेतन है और ये ही कर्म बंधके कारण है। जब ये अचेतन गुणस्थान कर्मबंधके आश्रवके कारण है तो इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव अकर्ता है। जीव कर्ता नहीं है। केवल गुणस्थान ही कर्मोंको किया करते हैं।

बन्धक बन्धयकी व्याप्यव्यापकता—पुद्गल कर्मका पुद्गल द्रव्य ही एक कर्ता है उसके विशेष भाव हैं मिथ्यात्व, अविरति कषाय और योग। सो बंधके सामान्यहेतु तो ये चारों हैं। ये चारों ही कर्ता हैं पर इन चारोंका और विकल्प किया जाए, मेद प्रसार किया जाय तो मिथ्यात्वसे लेकर संयोगकेवली पर्यन्त ये १३ भाव हैं, १३ परिणाम हैं। इसी प्रकार पुद्गल कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए ये भाव अचेतन हैं ये १३ प्रकारके गुणस्थाननहीं कर्ता हैं इनमें ही व्यापक भाव हैं। पुद्गल कर्मके साथ इन गुणस्थानोंका व्याप्य व्यापक भाव बताने का यह भाव है कि इन भावाश्रवोंके होने पर ही पुद्गल कर्मका बंध होता है। और भावाश्रवके न होने पर पुद्गल कर्मका बंध नहीं होता कारण उन पुद्गल कर्मोंके साथ इन विभावोंका, इन आश्रवोंका, अचेतन परिणामोंका ही व्याप्य व्यापक भाव है, किन्तु जीव द्रव्यके साथ इन कर्मोंका व्याप्य व्यापक सम्बन्ध नहीं हैं सो ऐसा व्याप्य व्यापक भाव होनेके कारण ये १३ प्रकारके गुणस्थान जथवा चार प्रकारके भावाश्रव किन्हीं पुद्गल कर्मोंको करें, इनसे आत्माका क्या सम्बन्ध?

आत्माके पुद्गलकर्मकर्तृत्वाभावकी तरह भोक्तृत्वका अभाव—यहाँ शुद्ध ज्ञानस्वरूप चितस्वरूप निरखा जा रहा है, वह बेकसूर है मेरे में इनसे कुछ नहीं आता है। योग और उपयोग अथवा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, अथवा मिथ्यात्वगुणस्थान से लेकर संयोगकेवली पर्यन्त गुणस्थान से ही आश्रव और बंधके कर्ता है। यहाँ पर एक प्रश्न हो सकता है कि चलो कर्ता तो नहीं हो सकता मगर इनका भोक्ता तो जीव है। पुद्गलमय मिथ्यात्व आदिक प्रक्रियाओंको वेदता हुआ यह जीव मिथ्यादृष्टि से होता है और पुद्गललकर्मोंको करता है। उत्तर में यहाँ साफ-साफ बतलाते हैं कि यह आत्मा पुद्गलद्रव्यमय मिथ्यात्व आदिक प्रकृतियोंका अनुभवता भी नहीं है। भोक्ता नहीं है, वेदक नहीं है क्योंकि इस जीवका उन पुद्गल कर्मोंके साथ भाव्य भावक भाव नहीं है। वे कर्म भी जो कुछ भी कर पाते हैं खुदमें कर पाते हैं अथवा कर्मभी जो होते हैं वे उनके खुदमें

होते हैं। जीवमें नहीं होते हैं। जीवका जो कुछ भी होता है वह जीवके खुदमें होता है। कर्मोंमें नहीं। इसप्रकार भाव्य भावक भाव न होने से पुद्गलद्रव्यमें मिथ्यात्व आदिकका भी यह अनुभव नहीं कर सकता फिर पुद्गल द्रव्यमय ये कैसे हो सकते हैं? जीव पुद्गल कर्मका न कर्ता है और न भोक्ता है।

आस्रवभावोंकी अचेतनता—इस प्रकरणमें बात क्या सिद्ध की गई कि जिस कारण से पौद्गलिक जो सामान्य चार प्रत्यय हैं उनके भेदरूप जो १३ प्रकारके विशेष प्रत्यय हैं, जिन्हें गुणस्थान कहते हैं वे ही कर्मोंको किया करते हैं। पुद्गलकर्मका यह जीव अकर्ता है। ये गुणस्थान अथवा चारों प्रत्यय ही उन पुद्गल कर्मोंके कर्ता हैं। और फिर ये गुणस्थान अथवा ये प्रत्यय पुद्गल ही है; अर्थात् अजीव ही है। जड़ है। यहाँ दृष्टि जीवके शुद्ध स्वरूप पर है। जहाँ चित्स्वभाव नहीं है वहाँ अचेतनता ही है। इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि पुद्गल द्रव्यका एक पुद्गल द्रव्य ही कर्ता हुआ करता है। इस कथनमें बात क्या बताई गई है कि ये जो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगके भाव उत्पन्न होते हैं ये शुद्धनयसे अचेतन ही है। जहाँ चैतन्यभाव न पाया जाय, जो चेतने नहीं, जाने देखे नहीं उन्हें अचेतन कहा करते हैं। यह शुद्धनयसे अचेतन ही है क्योंकि ये पुद्गल कर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं और इन भावोंमें चेतनाका कुछ भी माद्दा नहीं है। ये स्वरूपसे अचेतन हैं।

रागादिकके स्वामित्व विश्लेषण—तब इन मिथ्यात्व रागादिक भावों की क्या स्थिति हुई कि इनका करने वाला जीव भी नहीं है और पुद्गल कर्मोंमें यह परिणमन भी नहीं हुआ इसलिए पुद्गल कर्मभी नहीं है एक दृष्टिसे रागादिकका कर्ता न जीव है और न कर्म है। एक दृष्टिसे रागादिकका कर्ता जीव और आत्मा है, एक दृष्टिसे रागादिकका कर्ता जीव है। एक दृष्टिसे रागादिक का कर्ता पुद्गल कर्म है। ये चार दृष्टियाँ हुई। इनमें उपादान दृष्टिसे रागादिकका कर्ता जीव है। निमित्त दृष्टिसे रागादिकका कर्ता पुद्गल कर्म है और दोनों दृष्टियों को देखकर कहने पर इनके कर्त दोनों ही हैं। अथवा शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे देखा जाय तो रागादिकका कर्ता न जीव है और न पुद्गल कर्म है। जैसे स्त्री और पुरुष दोनों से उत्पन्न हुआ पुत्र व्यवस्थाके भेदसे पुरुषका भी कहा जाता है और स्त्री का भी कहा जाता है जब जैसी दृष्टि होती है तब उस प्रकार का वर्णन होता है। इसी प्रकार जीव और पुद्गलके संयोगसे उत्पन्न हुए मिथ्यात्व रागादिक भाव अशुद्ध उपादान रूपसे, अशुद्ध निश्चयसे देखा जाय तो चेतन है, क्योंकि जीवका सम्बन्ध है जीवके परिणतियाँ हैं पर शुद्ध निश्चयनयसे अर्थात् शुद्ध उपादान रूपसे देखा जाय तो यह अचेतन है और पुद्गल कर्मके उदय में उत्पन्न होनेसे यह पौद्गलिक है तथा यह परमार्थसे सर्वथा न जीव रूप है और न सर्वथा पुद्गल रूप है। वास्तविक दृष्टि से सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनयसे ये रागादिक है ही नहीं, क्योंकि परमशुद्ध निश्चयनयन इन रागादिकोंको तकताही नहीं है। वह तो वस्तुके सहज स्वरूपक निरखा करता है, वस्तुके स्वभावको निरखा करता है। वस्तुके स्वभावके अतिरिक्त यह अन्य कुछ नहीं निरखता है।

वस्तुविवेचनार्थे एकान्तदृष्टिकी असमर्थता—ये रागादिक तो अज्ञान भावसे ही कर्मोदय का निमित्त पाकर उत्पन्न होते हैं। व्यर्थ की कल्पनाएँ कर लेनेसे ही ये रागादिक है। इस से क्या सिद्ध

होता है। कि जो कोई भी ऐसा कहते हैं एकान्तसे कि रागादिक जीवके है अथवा रागादिक पुद्गलके हैं। इन दोनों का कहना मिथ्या है। कोई एकान्तसे कहते हैं कि रागादिक जीवके हैं। जीवका रागादिक स्वभाव तो है नहीं, स्वरूप तो रागादिकका है नहीं फिर रागादिक जीवके कहना यह मिथ्यात्व है। अथवा कोई कहे कि ये रागादिक पुद्गल कर्मके हैं-सो पुद्गल कर्मके ये रागादिक परिणतियाँ होती ही नहीं। वह तो चेतन हैं, सो यह भी मिथ्यात्व है। कोई विकल्प बतानेके बाद यदि फिर भी कोई पूछे कि सूक्ष्म शुद्ध निश्चयसे रागादिक किसके हैं? यह पूछ रहा है सूक्ष्म निश्चयनयसे अर्थात् परमार्थ परम शुद्ध निश्चयतसे तो इस दृष्टिसे रागादिकभाव हैं ही नहीं। रागादिकका अस्तित्व ही नहीं है फिर उत्तर कैसे दिया जाय कि वास्वतमें परमार्थसे परमशुद्ध निश्चयनयसे ये रागादिक किसके हैं? किसके बताया जाय, क्योंकि इस नयसे सारे जीव शुद्ध हैं।

एकान्तकी अनाश्रयता—भैया केवल जीवको स्वभाव रूपमें देखा जाय तो स्वभावती सब जीवोंका सिद्धों अरहंतो, साधु जनों, गृहस्थी, कीड़ों मकोड़ों पेड़-पौधों, सबकी आत्मा का स्वभाव शुद्ध है। तब एकान्तसे ऐसा सुनकर कोई जीवके स्वरूपका अति उत्कृष्ट प्रतिपादन करने के लिए ऐसा कहे कि हां तो मैं ठीक कह रहा था न कि ये सब एकान्तसे अकर्ता हैं। उनके प्रति कहा जा रहा है कि अब यह एकान्तसे अकर्ता हो जायेगा। तो उस समय जैसा शुद्ध निश्चयनयसे अकर्ता है वैसा ही व्यवहारसे भी अकर्ता हो जाय तो चूंकि जीव पदार्थ वहाँ अकर्ता हो गया तो अब संसारका अभाव होना चाहिए। और जब संसारका अभाव हो गया तो यहाँ भोगने वाला भी कोई नहीं रहा।

कर्तृत्व व भोक्तृत्वकी एकाधिकरणता—कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि रागादिकका कर्ता तो है प्रकृति कर्म, पर भोगता है पुरुष अर्थात् जीव। सो कहते हैं जो करता है सोई भोगता है। आप जिस दृष्टिसे जीवको कर्ता समझ सकते हो उस दृष्टिसे जीवको भोक्ता समझ लीजिए। पर जब कोई भोक्ता सिद्ध नहीं होता तो कर्ता सिद्ध नहीं होता। यदि कर्ता सिद्ध न हो तो भोक्ता सिद्ध नहीं होता। परमार्थ से कर्ता और भोक्ता एक ही द्रव्यमें हुआ करता है, तो चूंकि ऐसा दूषण है नहीं। अतः वेदक आत्माको मानने वाले लोग अर्थात् जो आत्माका भोगने वाला मानते हैं वहाँ पर करने वालाभी नियमसे सिद्ध होता है।

प्रकृत बात कहनेके आशयकी शुद्धता—गुणस्थान नामक यह प्रत्यय कर्मका करता है ऐसा पहिले कहा है इस कारण शुद्ध निश्चयनयसे जीव उन कर्मोंका कर्ता नहीं होता। गुणस्थान नामसे प्रसिद्ध यह प्रत्यय ही कर्मोंको करता है। तब वास्वतमें बंधका करने वाला विकारभाव होता है। बंधका करने वाला जीव नहीं होता है। जीवके स्वरूपको सुरक्षित देखने के लिए प्रत्ययोंको कर्मोंको कर्ता कहा गया है और उन्हीं का कर्ता कहा गया है और उन्हीं को ही भोक्ता कहा गया है, अनुभवने वाला कहा गया है। पर जीवको बिल्कुल शुद्ध केवल चैतन्य स्वभावमात्र शक्ति स्वरूप रखा गया है। इस शक्तिका जिन्हें परिचय है, अनुभव हुआ है उन्हें कहते हैं ज्ञानी जीव। ज्ञानी पुरुष केवल ज्ञानमय भावोंका ही कर्ता होता है और अज्ञानी पुरुष केवल अज्ञानमय भावोंका ही कर्ता

होता है। परभावोंको तो कोई भी जीव नहीं करता है। जो कर सकता हूँ ऐसा भी मानते हैं उनमें भी यह सामर्थ्य नहीं कि वे किसी भी परद्रव्यके करने वाले हो जाये। इस तरह यहाँ यह सिद्ध किया कि कर्मोंको बाँधने वाला प्रत्यय है, विकार है जीव नहीं है। तो जीव अकर्ता है और प्रत्यय अर्थात् आश्रव कर्ता है। यहाँ तक तर्क उठना स्वाभाविक है तो क्या यह जीव प्रत्यय मिथ्यात्व रागादिक भावोंसे न्यारा है? यह तो एक मालूम होता है उसके समाधान में कहते हैं कि एक नहीं है। जीव और प्रत्यय जुदे-जुदे स्वरूप वाले हैं। इसी बातको अब आगे तीन गाणावोंमें स्पष्ट करेंगे कि जीव अपने सहज स्वरूप है और मिथ्यात्व आदिक प्रत्यय जुदा है, इनमें एकता नहीं होती है।

जह जीवस्स अणणुवओगो कोहो वि तह जदि अणणो ।

जीवस्साजीवस्स य एवमणणत्तमावण्णं ॥ ११३ ॥

एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो ।

अयमेयत्ते दोसो पच्चयणो कम्मकम्माणं ॥ ११४ ॥

अह दे अण्णो कोठो अण्णुवओगप्योगो हवदि चेदा ।

जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥ ११५ ॥

जीवके साथ विकारकी अनन्यता आपत्ति—जैसे जीवका उपयोग अनन्य है, एक रूप है उसी प्रकार यदि क्रोध भी जीवसे अनन्य हो जाय तो क्रोध तो है अजीव अर्थात् जड़चेतना स्वभावसे रहित, तो यों जीव और अजीव एक हो गए। तब फिर जो जीव है वही नियम से अजाव कहलाया ऐसा एकत्व होने पर यह दोष प्राप्त होता है अर्थात् आश्रव और जीव यदि एक हो जायें तो यह दोष आता है। इसी प्रकार नौ कर्म और कर्म एक हो जाये तो यह दोष इनमें समझना है। अथवा इस दोषके भयसे सिद्धान्तसे यह बात जचे कि क्रोध तो अन्य है और उपयोग स्वरूप आत्मा अन्य है, और जैसे क्रोध है उसी प्रकार प्रत्यय आश्रव कर्म और नौ कर्म भी आत्मासे अन्य ही हैं।

आत्मा व परभावकी अनन्यताकी मान्यतामें हानि—जैसा जीवके साथ उपयोग तन्मयता से होता है उपयोग ही जीवका लक्षण है उसी प्रकार जड़ क्रोध भी तो अनन्य हुआ, एक हुआ, ऐसा यदि कोई सिद्धान्त है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि चैतन्यस्वरूप और जड़ भाव ये अचन्य हो गए। तो जीवमें उपयोगमय की तरह जड़ क्रोधमयता भी आ गई। जैसे ज्ञान जीवसे अभिन्न है उसी तरहसे क्रोध भी जीवसे यदि अभिन्न हो तो जीव जैसे ज्ञानमय है इसी प्रकार जीव क्रोधमय हो गया। और जीव ज्ञानमय है तो त्रिकालमें भी ज्ञानशून्यता नहीं है इसी प्रकार जीव क्रोधमय हो गया तो त्रिकाल भी जीवसे क्रोध छूटेगा नहीं अथवा जब जीव और अजीव एक हो गए तो जो स्वयं जीव हुआ। अर्थात् जीव नामक कोई चीज नहीं रही। इसी प्रकार समस्त आश्रवोंमें भी कर्म नो कर्ममें भी जीवसे यदि अभिन्नता तकोगे तो यहाँ पर दोष आता है।

आपत्ति व हानिसे बचानेवाला सिद्धान्त—इस कारण अगर इस दोषसे बचना है तो तुम्हें मानना चाहिए कि उपयोग स्वरूप जीव तो जुदा है और जड़ स्वभाव क्रोध जुदा है। और जैसे

उपयोगात्मक जीवसे जड़ स्वभाव क्रोध जुदा माना है उसी प्रकार समस्त आश्रव और सर्व कर्मादिक भी चूँकि जड़ ही तो है अतः ये सब भी जीव स्वभावसे जुदा है। सर्वविकारोंमें से यहाँ दृष्टान्तमें क्रोधको लिया हैं ये विकार सब जड़ हैं। जड़ जो होता है उस में रूप, रस, गंध होना ही चाहिए ऐसा नियम नहीं है रूप रस वाले भी जड़ होते हैं और रूप रस रहित भी जड़ होते हैं। तो जहाँ जड़ द्रव्योंको देखा जाय तो धर्म, अधर्म, आकाश काल द्रव्य भी जड़ होते हैं, रूप रहित भी जड़ होते हैं, पर यहाँ द्रव्योंको नहीं देखा जा रहा है, भावोंको देखा जा रहा है। भावोंमें कुछ भाव जड़ हैं और कुछ चिद्रूप हैं, यह निर्णय किया जा रहा है।

चेतक और अचेतक भाव—न भैया! आत्मामें जानन भाव है, उन भावोंमें से ज्ञान और दर्शन ये दो भाव चित् स्वरूप हैं और उनके अतिरिक्त जितने भी भाव हैं वे जड़ स्वरूप हैं। श्रद्धा है, चरित्र हैं, आनन्द हैं ये सब जड़ स्वरूप भाव हैं फिर इनका विकार तो और विशेषतासे जड़ मालूम होता है। क्रोध भाव चरित्र गुणका विकार है। चरित्रगुण स्वयं जड़ स्वरूप है; अर्थात् वह चेतने वाला भाव नहीं है और चरित्र गुणका विकार क्रोध कषाय है। यद्यपि यह सब विकार जीवके स्वतत्त्व है पर जड़ उपाधिके निमित्तसे होते हैं इसलिए वे सब विकार हैं, जड़ हैं फिर इन विकारोंमें भी एक क्रोधको यहाँ दृष्टान्त में लिया गया है। क्रोधकी जड़ता लोगोंको जल्दी समझमें आती है। कोई गुस्सा तेज कर रहा हो तो कहते हैं कि इसे कुछ सुध बुध याद नहीं है, यह जड़ हो रहा है। तो क्रोधकी जड़ता जल्दी समझमें आती है वैसे तो कोई घमण्ड भी बगराये तो वहाँ पर भी जड़ता मालूम होती है। घमण्ड है, बड़े घमण्डमें आ रहा है। अपने स्वरूप को भूल रहा है। हालांकि लोभ भी जड़ ही है पर क्रोधका जड़ता लोगोंकी दृष्टिमें जल्दी आ जाती है उजड़्ड व्यवहारको जड़ उत्कृष्ट माना है। जड़ और उससे भी उत्कृष्ट उजड़्ड हो तो उसेही जड़ माना है। और जीवोंको उपयोग स्वरूप माना है।

आत्मत्वके नातेसे विकारोंकी अनुद्भूति—क्रोधका भाव जीवमें ही उत्पन्न होता है फिर भी जीवमें चेतनताके नातेसे उत्पन्न नहीं होता। जैसे कोई पुरुष संस्थाका मानो मंत्री है और उससे लोग संस्था सम्बन्धी बात करें तो कुछ बातें तो वह मंत्रित्वके नातेसे करता है और कुछ बातें व्यक्तिगत नातेसे करता है। व्यक्तिगत नातेसे जो भी बातें की गई हो उसे लोग आक्षेप ले लें तो वह जवाब दे सकता है कि मैंने मंत्रित्वके नातेसे यह बात नहीं कही है। यों तो व्यक्तित्वके नातेसे भी कहा जा सकता है। इसी प्रकार जीवमें ये सब भाव हैं, क्रोध भी है, ज्ञान भी है मगर क्रोध आत्मस्वरूपके नातेसे नहीं है। आत्मस्वरूपके नातेसे तो ज्ञान और दशनभाव हैं और वही चित् स्वरूप है। बाकी सब भाव जड़ स्वरूप हैं। यों क्रोधमें और जीव स्वरूपमें एकता नहीं है।

चेतकभाव और अचेतकभाव विवरण—जो भाव जाने और जाना जाय वह तो है चेतन भाव और जो भाव जानता तो नहीं है किन्तु जाननेमें आता है वह सब जड़ भाव हैं। सुख भाव स्वयं सुखको नहीं वेद सकता है, सुखको वेदने वाला ज्ञानभाव है। ज्ञानसे ही सुख ज्ञेय बनता है, अनुभवमें आता है पर सुख स्थं चेतने वाला भाव नहीं है। और स्थूल रूपसे तो जैसा प्रश्न सुखके

बारेमें किया जा सकता है ऐसा ही प्रश्न सबके बारेमें हो सकता है। राग क्या जीवमें नहीं होता है? फिर रागको जड़ क्यों कहा? द्वेष क्या जड़में होता है। फिर द्वेषको जड़ क्यों कहा? सभी भावोंमें यह प्रश्न हो सकता है परभावों का स्वरूप देखो। जो स्वरूप चैतन्य स्वरूपको लिए हुए है वह तो चित्स्वरूप भाव है और जो स्वरूप चेतनेके स्वरूपको नहीं लिए है वह सब जड़ भाव हैं। ज्ञान और दर्शन २ ही गुण चित्स्वरूप है और अन्य भाव चित्स्वरूप नहीं है, चैतन्यमात्र नहीं है, भले ही वे जीवको छोड़कर अन्य पदार्थों में नहीं रहता।

विकारोंमें स्वतत्त्व व अस्तत्त्वकी स्याद्वादसे सिद्धि भैया! आधारकी दृष्टि से ये पांचोंही भाव जीवके स्व तत्त्व कहे गए हैं औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और परिणामिक ये पांच भाव जीवके स्व तत्त्व हैं किन्तु जीवका जो लक्षण चैतन्य है वह केवल ज्ञान दर्शनमें ही पाया जाता है और गुण चेतन नहीं है, और गुण भोगे जाते हैं पर चेतने वाले गुण तो ज्ञान और दर्शन ही हैं। इसलिए ज्ञान और दर्शन चित्स्वरूप भाव हैं और जिस जीवमें चित्स्वरूप भावकी तन्मयता है वह त्रैकालिक है स्वतः सिद्ध है, इस कारण क्रोधादिक भावोंकी तन्मयता नहीं है। यदि क्रोधादिक जड़ भावोंके भी तन्मयता मानली जाय तो जीवका अभाव हो जायेगा। स्वरूप दिख जाना चाहिए। चित्स्वरूप का स्वरूप है प्रतिभास करना। क्या सुख अपने आपको प्रतिभासित कर सकता है? जो प्रतिभास करे उसे कहते हैं चित्स्वरूपभाव। और जो प्रतिभास न करे उसे कहते हैं अचित् रूपभाव। सुख यद्यपि जीवका अभिन्न गुण है पर अभिन्न गुण होने पर भी चेतक भाव नहीं है। वह चेत्यभाव है इस कारण वह स्वरूपसे चेतनमें अभिन्न अवश्य है पर स्वरूपसे चेतन नहीं है।

चेतक गुणोंके विशेषक स्वरूप चेतने वाले जो दो गुण हैं ज्ञान और दर्शन उनमें इतना अन्तर है कि जो सामान्यतया निर्विकल्परूपसे चेतते वह तो है दर्शन और जो आकार आदिक ग्रहण करता हुआ चेतते वह है ज्ञान। चेतने वाले केवल दो ही गुण है अन्य गुण नहीं हैं, चेतक गुणोंके परिणमन और्दायक नहीं हो सकते, अचेतक गुणोंके ही परिणमन और्दायक हो सकते हैं।

परभावसे आत्माकी विविक्तता यहाँ बात चल रही है पराधीन भावकी। पराधीन भावोंका कर्ता यह जीव नहीं है। अचेतक भावोंके विकार पराधीन भाव हैं। शुद्ध निश्चय नप से जीव उनका अकर्ता है और अभोक्ता है और क्रोधादिकसे भिन्न है। इस प्रकारका बहुत वर्णन होचुका है, इस वर्णनके होनेपर दूसरी बात यह जान लेना चाहिए कि व्यवहार से जीव कर्ता है व्यवहारसे जीव भोक्ता है। व्यवहारसे जीव क्रोधादिकसे तन्मय है, निश्चय दृष्टिसे विविक्ता दिखती है और व्यवहार दृष्टिसे यह सम्बन्ध दिखता है ये विकार जिस समय में ही उस समयमें ही तन्मय है अगले समयमें तन्मय नहीं कहे जा सकते। ये त्रिकाल तन्मय नहीं है ये वर्तमान तन्मय है।

जीवोंकी परिस्थितिमें नयविभाग जीवके सम्बन्धमें ऐसी दोमुखी बातें ध्यानमें आरही हैं। जीव कर्ताभी है अकर्ताभी है जीव भोक्ताभी है अभोक्ताभी है। जीवादिकसे तन्मय भी है और अतन्मय भी है। इस प्रकार परस्परमें सापेक्षनयोंकी मान्यता जिसके सिद्धान्तमें नहीं है वह एकांतको

ही पोष करके वस्तुके सर्वांगीण स्वरूपसे अनेभिज्ञा रहता है जो परस्परमें सापेक्षनयके विभागोंको नहीं मानते हैं उनके मनमें जैसे जीव शुद्ध निश्चयनय से कर्ता नहीं है वैसे ही व्यवहारसे भी कर्ता नहीं रहा तो फिर मोक्ष किसका बतलाते हो? जीव निश्चयनसे बंधा नहीं है। वैसे वह व्यवहारमें बंधा नहीं है तो फिर तप साधना का उपाय क्यों करते हो। जीव जैसे क्रोधादिकसे न्यारा निश्चयसे है इसीप्रकार व्यवहारनयसे भी क्रोधादिकसे न्यारा हो गया तो संसार अवस्था किसकी? संसार अवस्थामें भी क्रोधादिक परिणमन न हों तो कर्म बंध कैसे होगा? कर्म बंध न रहे तो संसार नहीं रह सकता, संसार न रहे तो सर्वथा मुक्ति हो जायगी। सो प्रत्यक्ष विरोध है यहाँ ये चेतन बंधे फंसे पड़े हुए हैं अतः दोनों नयोंका विषय जानकर पदार्थोंका निर्णय करना चाहिए।

द्रव्यकर्म व अवकर्मके कर्तव्यका अन्तर व अनन्तर—यहाँ कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि शुद्ध निश्चयनय से जीवको अकर्ता कहा और व्यवहारसे जीवको कर्ता कहा तो इस तरह तो द्रव्यकर्मका स्वरूप व्यवहारसे ही सिद्ध हुआ और रागादिक भाव कर्मोंका भी कर्तव्य व्यवहारसे ही सिद्ध हुआ तो दोनों एक कोटिमें कहलाने लगे। जीव व्यवहारसे ही द्रव्य कर्मोंका कर्ता हुआ और व्यवहारसे ही भाव कर्मका कर्ता हुआ। इसमें फिर निकटता किसीकी न रही। उसका समाधान यह है कि रागादिक भावकर्मका कर्ता यह जीव व्यवहारसे है, उस व्यवहारका दूसरा नाम अशुद्ध निश्चयनय ही और द्रव्यकर्मका कर्ता जीव व्यवहारसे है, उस व्यवहारका व्यवहार ही नाम है इस व्यवहारको अनुपचरित असद्भूत व्यवहार कहते हैं। जीव वस्तुके सुरक्षित शुद्ध स्वरूपको जानने को चले तो द्रव्यकर्म व भावकर्म इन दोनों से ही भिन्न समझना होगा। जीव द्रव्य कर्मसे भिन्न है और भाव कर्म से भी भिन्न है, ऐसा निर्णयही तब जीवका स्वरूप जाना जा सकता है। पर द्रव्यकर्मका भाव कर्मका है, यह बात बतानेके लिए भावकर्मका कर्ता अशुद्ध निश्चयनयसे कहा और द्रव्यकर्म को व्यवहारनयसे कहा।

चेतन-अचेतनके विविध विश्लेषण—भैया और भी इनका भेद जानिए। द्रव्यकर्म तो अचेतन है क्योंकि वे पुद्गल द्रव्य है, पुद्गलके परिणमन है और भावकर्म एक दृष्टिसे चेतन है पर शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे वह अचेतन ही रागादिक विकार चूँकि चेतनके ही परिणमन हैं इसलिए चेतन कहा जाता है पर शुद्ध निश्चयकी अपेक्षा अचेतन ही यह मुकाबले तन उत्तर आता है। अब पूछें कि तुम्हारे सामने ये दो बातें रखी है, द्रव्यकर्म और रागादिक विकार बतलाओ इनमें कौन चेतन है व कौन अचेतन है? तो उत्तर आयेगा कि द्रव्यकर्म अचेतन है और रागादिक विकार चेतन है जब मुकाबलेतन ये दो बातें रखी जायें रागादिक विकार और अकषाय भाव, बतलावो इनमें कौन चेतन है और कौन अचेतन है? तो कहोगे कि रागादिक विकार अचेतन हैं और शांति, अकषाय ये चेतन हैं, फिर मुकाबलेतन २ बातें रखी। आनन्द शक्ति, श्रद्धा, चारिक गुण और ज्ञान दर्शन गुण इन दोनोंमें यह बतलावो कि कौन चेतन है और कौन अचेतन है? तो जो चेतने वह चेतन है और जो न चेतने वह अचेतन है। ज्ञान, दर्शन, गुण तो चेतन हैं इसके अतिरिक्त शेष समस्त गुण अचेतन हैं।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे द्रव्यकर्मके कर्तृत्व व भोक्तृत्वकी सिद्धि—इस उक्तप्रकरणमें इतना भाव समझना कि द्रव्यकर्मका कर्तृत्व और भोक्तृत्व तो व्यवहारसे है, किन्तु यह व्यवहार कौन-सा है? यह है अनुपचरित असद्भूत व्यवहार। अनुपचरित असद्भूत तो यों है कि द्रव्यकर्मका कर्ताभोक्तापन बहुत अधिक अदिनाभवसे सम्बन्ध है इसकी व्याप्ति कर्मोंके उदय पर हुई। कर्मोंका उदय होने पर ऐसी व्याप्ति नहीं पाई जाती है इस कारण यह व्यवहार अनुपचरित है। पर द्रव्यकर्म भिन्न पदार्थ है। आत्माको भिन्न द्रव्यों का कर्ता भोक्ता बताना यह असद्भूत है और व्यवहारमें दो बातोंका सम्बन्ध जोड़ा गया है। अतः द्रव्यकर्मका कर्ता भोक्ता जीवोंका कहना अनुपचरित असद्भूत व्यवहार है अनुपचरित असद्भूत व्यवहारसे जीव द्रव्य कर्मका कर्ता है और यह कहना कि जीव मकान का कर्ता है, बच्चोंको योग्य बनानेका कर्ता है यह बोलना उपचरित असद्भूत व्यवहार है अथवा केवल एक अज्ञानता और उद्दण्डताका व्यवहार है ऐसी कल्पना करना कि जीव रागादिक भावकर्मोंका कर्ता है यह अशुद्ध निश्चयनयसे कहा जाता है, किन्तु अशुद्ध निश्चयनयका विषय शुद्ध निश्चयनकी अपेक्षा व्यवहार ही है। जीवको अपने स्वरूपसे परमार्थसे सर्वथा अकर्ता दृष्टिमें लेना और जिस समय यह शुद्ध ज्ञायक स्वरूप अकर्ता, अभोक्ता उपयोग में आता है वही परमार्थ ब्रत है, परमार्थ तप है, परमार्थ प्रतिक्रमण है परमार्थ संयम है और धर्मपालन है। इस बातकी सिद्धि तब समझमें आयगी जब यह ज्ञात हो कि पुद्गल भी अपना परिणमन स्वभाव रखता है और जीवभी अपना परिणमन स्वभाव रखता है। यदि दोनोंका परिणमन स्वभाव ध्यानमें नहीं रहता तो या तो जीवको परका कर्ता ही मानेगा अथवा जीवको सर्वथा अकर्ता मानेगा। कर्ता भी है, अकर्ता भी है यह बात तब ध्यानमें आयगी जब जीव और पुद्गल दोनोंका अपने-अपने प्रदेशोंमें परिणमन स्वभाव माना जाय और इस विभाव परिणमनके लिए निमित्तकी व्याप्ति समझमें आये। इस ही कारण अब पुद्गल द्रव्यका परिणमन स्वभाव सिद्ध करते हैं

जीवे ण सयं वद्धं ण समं परिणमादं कम्मभावेण ।

जइ पुग्गलं दव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥ ११६ ॥

कम्मइयवग्गणासु य अपरिणभंतीसु कम्मभावेण ।

संसारस्स अभावो पसज्जदे संख समओ वा ॥ ११७ ॥

जीवो परिणामयदे पुग्गलं दव्वाणि कम्मभावेण ।

ते सयमपरिणमंते कहां णु परिणामयदि चेदा ॥ ११८ ॥

अह सयमेव हि परिणमादं कम्मभावेण पुग्गलंदव्वं ।

जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥ ११९ ॥

णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चि य होदि पुग्गलं दव्वं ।

तह तं णाणावरणाइपरिणदं सुणसु तच्चेव ॥ १२० ॥

पुद्गलमें परिणमनस्वभावका अभाव माननेपर आपत्ति—जो पुरुष कर्मको और आत्माको

अपरिणामी मानता है अथवा इसमें से चूंकि कर्मोंका परिणमन स्वभाव सिद्ध किया जा रहा है तो जो प्रकृतिसे पुद्गल कर्मोंको अपरिणामी मानता है उसे समझाते हैं पुद्गल द्रव्य जीवमें स्वयं न तो बंधा है और न कर्म भावका स्वयं परिणमन करता है। यदि ऐसा भी सिद्धान्त है तो इसका अर्थ यह हो गया कि पुद्गल द्रव्य अपरिणामी हुआ। जिसका सिद्धान्त यह है कि यह पुद्गल कर्म न तो जीवमें बंधा है और न स्वयं किसी रूप परिणमन करता है तो इसका स्पष्ट भाव यही तो हुआ कि कर्म अपरिणामी है और पुद्गल परिणामी है। अथवा कर्माणवर्णनाएँ अपने आप तो कर्म भावसे नहीं परिणमतीं। ऐसा मानने पर संसारका अभाव हो जायगा अथवा सांख्यमत प्रसंग आयगा।

जीवके कर्मपरिणमयितृत्वके सम्बन्धमें विकल्पद्रव्य—जीव ही पुद्गल द्रव्यको कर्मभावसे परिणमाता है। ऐसा यदि माना गया तो पुद्गल द्रव्य स्वयं अपने आप नहीं परिणमें। उनको यह जीव परिणमाता है या पुद्गल स्वयं कर्म रूप परिणमें उनको परिणमता है ये दो विकल्प सामने आते हैं फिर ध्यानसे सुनिए। पहिली बात यह कही गई कि कर्म न तो जीवमें बंधा है और न यह स्वयं कुछ परिणमता है। ऐसी बात मानने पर कर्म अपरिणामी सिद्ध होते हैं। और जब कर्म अपरिणामी सिद्ध हुए फिर संसारका अभाव हो गया कर्म फिर है ही नहीं। कर्म परिणमते नहीं तो संसार कहाँ से आगया? पहिला समाधान देने पर फिर दूसरा प्रश्न होता है कि भाई हम कर्मको न परिणमाने वाले तो नहीं मानते पर ये कर्म स्वयं ही परिणमते। जीव बनाए कर्म तो बनते हैं अन्यथा नहीं। यहाँ कर्मोंको अपरिणामी सिद्ध करनेका पक्ष चल रहा है प्रश्न रूपमें। यदि ऐसा मानने लगें कि जीव कर्मोंको परिणमाता है तो यहाँ यह बतलावो कि कर्मरूप कर्म नहीं परिणमते हुए कर्मको जीव परिणमाता है क्याऐसी बात है? या कर्मरूप परिणमने वाले कर्मोंका जीव परिणमाता है या ऐसी बात है? इन दो विकल्पोंको उपस्थित किया गया है और इनका उत्तर अब क्रम से दिया जाएगा।

सिद्धान्त पुरःसर प्रश्नका पुनर्विवरण—प्रकरण यहाँ चल रहा है कि जीव और कर्म ये दोनों कर्ता हैं अथवा अकर्ता हैं और कर्ता हैं तो किसके कर्ता हैं? सिद्धान्त यह है कि कर्ता दोनों हैं और दोनों अपने-अपने परिणमनके कर्ता हैं। चूंकि दोनोंमें विकार भाव है इस कारण एक दूसरेके निमित्त होते हैं। तब जिस सिद्धान्तमें दोनों को अपरिणामी माना है उस सिद्धान्तका अनुयायी जिज्ञासु पुरुषसे पूछा जा रहा है कि यदि पुद्गलकर्म अपरिणामी है तो फिर संसार कैसे हुआ? तो उसने यह कहा कि पुद्गलकर्म स्वयं तो अपरिणामी हैं किन्तु जीव उन्हें कर्मरूप परिणमाता है तो यह बतलावो कि कर्मरूप परिणमनसे हुए को जीव कर्मरूप परिणमाता है या कर्मरूप न परिणमते हुए को जीव कर्मरूप परिणमाता है।

परिणमन सम्बन्धो समाधान—यदि यह कहें कि कर्मरूप न परिणमते को जीव कर्मरूप परिणमाता है तो जो कर्मरूप न परिणमसके उसे जीव कैसे कर्मरूप परिणमा सकता है और कहें कि कर्मरूपसे परिणमते हुए को जीव कर्मरूप परिणमाता है तो परिणमा तो कर्म ही ना, फिर जीवने परिणमाया क्या? और कदाचित् यह कहें कि पुद्गल द्रव्य स्वयं ही कर्मरूप परिणमन जाता है तो

फिर जीवने कर्मत्व क्या किया? फिर जीव कर्मरूप परिणमाता है यह कहना मिथ्या होजायगा। इस कारण यह सिद्ध है कि पुद्गलद्रव्य कर्मरूप परिणमता हुआ नियमसे कर्मरूप होता है और ऐसा होनेपर वे पुद्गल द्रव्यही ज्ञानावरणादिकरूप परिणमते हैं उस ही को कर्म जानो। सिद्धान्त तो स्पष्ट है कि जीवके विकार का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणमता है। इस सिद्धान्तके न माननेपर अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं।

अबद्धता व अपरिणामितामें संसारकी असंभवता—कोई यह कहता है कि पुद्गल द्रव्य जीवमें बंधा भी नहीं है और कर्मरूपभी नहीं परिणमता, तो फिर झगड़ा ही क्या रहा? जीवभी अपने आपमें अपरिणामी बना है और कर्मभी अपने आप अपरिणामी बना है फिर विवाद संसारमें ये संकट विषाद कैसे हो गए? तो फिर संसारका अभाव ही रहा ना? जीव कर्मको परिणमाये तो न परिणमते हुए को कोई परिणमा ही नहीं सकता क्योंकि जहाँ स्वयं परिणमन की शक्ति नहीं है उसको अन्य कोई शक्ति लाने में समर्थ नहीं है। और स्वयं परिणमतेको परिणामाये तो स्वयं परिणम ही रहा है। अब परिणमानेकी उपेक्षा क्या रही। जैसे मृदंग बजाया तो मृदंगसे शब्द किसने पैदा किया? लोग तो यह कहेंगे कि हाथने पैदा किया। और निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धसे यह बात ठीक भी है। हाथका ताड़न निमित्त न होता तो मृदंगमें शब्द उत्पन्न नहीं हो सकता था, पर प्रत्येक वस्तुके स्वरूपपर दृष्टि देकर देखो-हाथका ताड़न निमित्त भले ही हो मगर शब्दका निमित्त पाकर शब्द रूप परिणमता हुआ वह मृदंग क्या अपने परिणमनमें हाथ आदि की अपेक्षा रखता है?

ज्ञानमें ज्ञाप्तक्रियाकी स्वतन्त्रता—जैसे संसार अवस्थामें छदमरूप अवस्थामें अथवा परोक्ष ज्ञानोंके इन्द्रिय और मनके निमित्तसे ज्ञान उत्पन्न होता है। भले ही ज्ञानकी उत्पत्ति में मन और इन्द्रियकी अपेक्षा होती है पर मन इन्द्रियका निमित्त पाकर जो ज्ञान विकसित हो रहा है वह ज्ञान अपनी सप्तमें अपनी क्रियारूप परिणतिमें किसी परको अपेक्षा नहीं करता है निमित्त होकर भी यह वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा बात कही जा रही है तो जो स्वयं परिणम रहा हो वह परिणमयिताकी क्या उपेक्षा करे। वस्तुकी शक्तियाँ किसी परकी अपेक्षा नहीं रखती, प्रत्येक शक्ति अपने वस्तुकी स्थितिके कारण सत् है। किसी पर के कारण नहीं है। पर निमित्त होनेपर भी परिणमता स्वयं है। बड़े एक मर्म की बात है कि निमित्त के सान्निध्या बिना ये विकार होते भी नहीं हैं न हो सकते हैं तिस परभी उपाधिका निमित्त पाकर उपादानकी शक्तियाँ जो विकाररूप परिणमती हैं उसके परिणमन में स्वाधीनता है, पराधीनता नहीं है ऐसी पराधीनता और स्वाधीनताका समन्वय प्रमाणके सिद्धान्तमें विदित होता है। इस तरह पुद्गल द्रव्य परिणमन स्वभाव वाले स्वयं ही सिद्ध हुए।

पदार्थमें स्वतःसिद्ध परिणमनशीलता—प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणमनशील है इस बात को जाने बिना वस्तुका स्वरूप स्पष्ट नहीं किया जा सकता। वस्तु स्वरूप समझनेका मूल आधार यह ज्ञान है कि प्रत्येक वस्तु निरन्तर परिणमनशील है। इतनी बात मानने पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है और स्वतंत्र परिणमनभी प्रसिद्ध किया जा सकता है। ऐसा होनेपर

कलशरूपमें परिणमती हुई मिट्टी जैसे स्वयं कलश ही है इसी प्रकार जड़ स्वभाव ज्ञानावर्णादिक कर्म है। इसी प्रकार प्रकृतिमें, कर्म पुद्गलमें परिणमनस्वभाव सिद्ध किया गया है। प्रकृति और पुरुषये दो तत्व हैं मोक्ष मार्गके प्रयोजनभूत निपटारा करनेके लिए। सो कोईतो प्रकृतिको कर्ता और पुरुषको भोक्ता मानते हैं, प्रकृतिको परिणामी मानते हैं और पुरुषको अपरिणामी मानते हैं और कोई मूलमें प्रकृति और पुरुष दोनोंको अपरिणामी मानते हैं उन प्रसंगोंमें पुद्गल द्रव्यका परिणमनस्वभाव सिद्ध किया गया है। इस प्रकार यह निर्विघ्न सिद्ध हुआ कि पुद्गलद्रव्यमें स्वयं परिणमन शक्ति है।

परिणमनशक्तिशून्यका कोटियत्नोंसे भी परिणमनका प्रभाव भैया! जिसमें परिणमने की शक्ति न हो तो कोटि यत्न किए जाने परभी उसमें परिणमन नहीं हो सकता। और और यदि परिणमन हो जाय तो यह सिद्ध है कि उसमें परिणमन स्वभाव पड़ा हुआ है। बालूमें जैसे तेल निकालनेकी शक्ति नहीं है तो कितना ही पेला जाय, उससे तेल नहीं निकल सकता, क्योंकि उसमें तेलकी शक्ति ही नहीं है। यह एक मोटा दृष्टान्त है बालू के पुद्गलमें सामर्थ्य है कि वह कालान्तरमें तेल देने लगे। वही बालू खादरूप बनकर मिट्टी रूप बनकर पेड़ बनकर तेल देने लगे। यह बात द्रव्यके नातेसे है। पर लोकमें जो देखा जाता है और जिसका अभी अन्योन्याभाव है वह दृष्टान्त दिया गया है जिसमें स्वयं परिणमनेकी शक्ति नहीं है उसमें वह परिणमन कभी भी नहीं हो सकता। और जहाँ परिणमनकी शक्ति है और विकाररूप परिणमनमें परका निमित्त भी होता है तो निमित्त होने परभी परिणमयिताके परिणमनमें परकी अपेक्षा नहीं है; अर्थात् परसे कुछ लेना नहीं है यह पुद्गलद्रव्य स्वयं परिणमन शक्ति रखता है।

उपादानकी योग्यताके अनुसार परिणमन पुद्गल द्रव्य जिस भावको अपनेमें करता है उसका वह पुद्गल द्रव्यही कर्ता है। जीव कर्ता नहीं है। अन्यभी एक दृष्टान्त लें कि जैसे जब पुष्पादिक उपाधि डंग स्फटिक मणिमें अथवा स्फटिक पाषाणमें विकारको बनाता है पर काठ, स्तम्भ, भींट आदिमें नहीं बना सकता। जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्बके हम निमित्त बन जाते हैं, दर्पण में मुख देखें तो दर्पणमें प्रतिबिम्ब आ गया। क्या भींटकी ओर मुख करें तो भींटमें प्रतिबिम्ब आ सकता है? नहीं। यदि कोई भींट जिसे कहते हैं कोड़ीके चूनेसे खूब चिकना किया गया हो और उसमें प्रतिबिम्ब आता है तो वह दर्पण ही मानिन्द हुआ। काठमें क्या प्रतिबिम्ब आ सकता है? नहीं। उसमें शक्ति ही नहीं है। तो जिसमें परिणमन शक्ति होती है उसमें ही तद्रूप परिणमन हो सकता है। तब यही मानना होगा कि प्रत्येक पदार्थमें परिणमन करने की शक्ति स्वयं है और जब अपने अनुकूल उपाधिका निमित्त प्राप्त करता है तब वह उपादान स्वयं अपनी शक्तिके परिणमनसे अपनेमें स्वतंत्र रहकर विकाररूप परिणम जाता है।

निमित्त पाकर होते हुए विभावमें भी स्वतन्त्रताका दर्शन इसी प्रकार जीव भी परिणमन स्वभावी है और वह कर्मोंका निमित्त पाकर अपनेमें परिणमन शक्तिके परिणमनसे स्वतंत्र होकर विभावरूप परिणमता है। निमित्तका सानिध्यतो वहाँ होना ही चाहिए पर शक्तियाँ निमित्तकी यों

अपेक्षा नहीं करती कि उनमें यह हठ नहीं है कि मैं अमुक रूपही परिणमूँ और इस रूप परिणमना अमुक निमित्तके बिना होता नहीं सो आना चाहिए ऐसी कोई बात नहीं जोहती हैं। सहज जैसा निमित्त योग मिला उस उपदानमें परिणमकी योग्यता पहिले से थी इसी प्रकारसे सहज निमित्त योग मिला उसके अनुरूप उपदान अपनेमें स्वयं परिणम गया। जैसे तैयारकी हुई मिट्टी चाक पर पड़ी हुई है। उसमें घड़ा बननेकी योग्यता है, सकोरा कलस बनानेकी योग्यता है पर जिस प्रकारका कुम्हारका व्यापार निमित्त पायेगा उसी प्रकारका परिणमन मिट्टी में स्वतंत्रतासे होता है। जैसे सकोरा बनाने के लायक हस्त व्यापार किया तो उसका निमित्त पाकर वह मिट्टी अपनेमें परिणमती है। निमित्त होता हुआ भी वस्तुका परिणमन निरपेक्ष हो रहा है। अपेक्षा अपनेमें परिणमती है। निमित्त होता हुआ भी वस्तुका परिणमन निरपेक्ष हो रहा है। अपेक्षा होकर भी निरपेक्ष है इन दोनों बातोंकी सिद्धि एक प्रमाण दृष्टि से होती है। वहाँ अनुकूल निमित्त सहज जैसा मिला उसके अनुकूल परिणमनेकी योग्यता थी सो वह परिणम गया। इस प्रकरणमें शिक्षा के योग्य बात यह है कि ये सब होते रहते हैं जीवके विकारका निमित्त पाकर, परिणमने की योग्यता रखने वाले पुद्गलकर्म, कर्म रूप परिणम रहे हैं और कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर विकार रूप होने योग्य जीव विकार रूप परिणम रहा है किन्तु क्या यह उपादेय तत्व है? क्या यह खेल होते रहना उपादेय है? क्या किसी वस्तु का अशुद्ध परिणमन उपादेय है? नहीं पुद्गलसे भिन्न शुद्ध परमात्म भावनामें परिणत हुआ जो भाव है अभेद रत्नत्रय, सम्यग्ज्ञानके बलसे गम्य चेतन और आनन्दस्वरूप है एक स्वभाव जिसका ऐसा निज शुद्ध आत्मा ही निश्चयसे उपादेय है। अर्थात् पर द्रव्योंसे भिन्न अपने आपको निरखने और ज्ञाता दृष्टा रहने की स्थिरता यही अभेद रत्नत्रय और इसमें परिणत निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, और भेद रत्नत्रय भी व्यवहारमें उपादेय है। भैया! ७ तत्वोंकी श्रद्धा करो, समस्त पदार्थों में उत्पादव्यय ध्रौव्य आदि युक्तियों के ज्ञानसे ज्ञान करो और व्रत, तप संमय आदिका पालन करो जिससे कि अभेद रत्नत्रयी पात्रता बने। भेद रत्नत्रय चूंकि अभेद रत्नत्रयका साधक है इस कारण उपादेय है, और वे सब व्यवहार उपादेय माने गये हैं जो निश्चय तत्वके साधक होते हैं। अब पुद्गल द्रव्यमें परिणमनशीलता सिद्ध करके कुछ जीवमें परिणमनपन सिद्ध करते हैं। यहाँ भी ५ गाथाएँ एक साथ आई हुई हैं

णसयं वद्धो कम्मेण सयं परिणमदि कोह मादी हिं।

गइ एस तुज्झ भावो अप्परिणामी तदा होदी ॥ १२१ ॥

अपरिणमंतमिह सयं जीवे कोहा दिएहिं भावेहिं।

संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥ १२२ ॥

षुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्त।

तं संयमपरिणमंतं कह णु परिणामयदि कोहो ॥ १२३ ॥

अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी।

कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥ १२४ ॥

**कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥ १२५ ॥**

सांख्यान्यायी शिष्यका आशय—जिस सिद्धान्तमें ऐसा माना गया है कि यह आत्मा ब्रह्म, पुरुष अपरिणामी है, ज्यों का त्यों है, इसमें बदल नहीं होती है, ऐसे सिद्धान्तके अनुयायी जिज्ञासु शिष्यसे यह सब कहा जा रहा है कि भाई यदि तुम्हारे मतका यह निर्णय है कि जीव कर्मों से नहीं बंधा है और कभी क्रोध रूप परिणमता नहीं है तो इसका सीधा तात्पर्य हुआ कि यह जीव अपरिणामी है। कितनेही लोग ऐसा मानते हैं कि केवल दिखता है क्रोध, झलकता है, पर जीव क्रोधरूप नहीं होता है। आत्मा क्रोधादिक रूप नहीं परिणमता। जैसे स्फटिक पर कोई लाल-पीला कागज लगा दिया जाय तो स्फटिक लाल पीला दिखने लगता है पर स्फटिक लाल-पीला नहीं हो जाता है। इसी तरह जीव में कर्मोंपाधि आने पर क्रोधादि प्रतीत होते हैं पर आत्मा स्वयं क्रोधादि रूप नहीं बनता है। ऐसा एक सिद्धान्त है और जो सुननेमें अच्छा भी लगता है।

अपरिणामित्वसिद्धिके लिये दिये जानेवाले दृष्टान्त—अपरिणामित्वका दृष्टान्त भी बड़ा सुन्दर मालूम होता है कि हाँ स्फटिक कहाँ लाल हो गया, डंक हटाया तुरन्त लाल मिट गया। अरे लाल हुआ होता तो कुछ देर तो बना रहता। डंक लगाया, लाल दिखने लगा, फिर डंक हटाया, लाल मिट गया। तो कहाँ लाल रूप परिणमा। अथवा दर्पणके समने हाथकिया तो हाथ प्रतिबिम्बित हो गया, तुरन्त हाथ हटाया तुरन्त प्रतिबिम्ब मिट गया। तो दर्पणमें छाया प्रतिबिम्बित होती है। यदि कोई बड़ी तेजी से दर्पणके आगे हाथ हिलाये तो उसके हाथकी छाया घूमती है। तो दर्पण यदि उसके हाथ बिम्ब रूप हो जाय तो कुछ समय तो रहना चाहिए। वह रंच भी ठहरता नहीं। तो छाया प्रतीत होती है पर दर्पणरूप छाया परिणमी नहीं। ऐसा दृष्टान्त अपरिणामित्व सिद्ध करने वाला दे सकते हैं अब उसका समाधान सुने।

दृष्टान्तमें तथ्य—उस स्फटिक में ऐसे ही लाल आदि रूप परिणमने की सामर्थ्य है कि उपाधिका सम्बन्ध होने पर लाल आदि रूप परिणम जाये और हटाने पर तुरन्त हट जाय। स्फटिक उस कालमें लालरूप परिणमा है, लाल रूप दिखता ही हो ऐसा नहीं है। पर वह लाल रूप परिणमन चूँकि उपाधिका सम्बन्ध पाकर होता है सो जिस क्षण उपाधिका सानिध्य है उस क्षण लालरूप है और जिस क्षण उपाधि हटेगी उसी क्षण लाल रूपका परिणमन भी हटगया। इसी प्रकार दर्पण की भी बात है। विकार की व्याप्ति निमित्तके साथ होती है। निमित्त के होने पर विकार होता है, निमित्तके न होने पर विकार नहीं होता है पर एक क्षणको भी निमित्त हो और विकार आए तो वह विकार उपादानका परिणामन है, केवल प्रतीत होने वाली ही बात नहीं है।

प्रश्नपक्षका स्पष्ट आशय व उत्तररूप प्रतिप्रश्न—यदि तुम्हारे सिद्धान्तमें यह बात बैठी हो कि जीवनकर्म में स्वयं बंधा नहीं है और जीव स्वयं क्रोधादिक रूप परिणमता नहीं है तो इसका आशय यह स्पष्ट हुआ कि जीवअपरिणामी है। और जब जीव अपरिणामी है तो फिर दुःखी कौन?

संसारी कौन? मोक्षादिककी कोशिश क्योंकी जायी तब यह में आत्मा अपरिणामी हूँ, केवल दिखता है। तो देखने दो पर अन्तमें आदिमें विकृत न होना, फिर मोक्ष किसका कराया जाये यदि यह जीव स्वयं नहीं परिणमता है, क्रोधादिक भावरूप नहीं होता है तो फिर संसारका अभाव है। मुक्तिकी आवश्यकता तो इस कारण है कि हम क्रोधादिक, रागद्वेषादिक सुख दुखादिक विकारोंरूप परिणमते रहते हैं और परिणमन है दुःखायी इसकारण उन परिणमनोंसे हटना आवश्यक है, पर जिस सिद्धान्तमें आत्माको अपरिणामी माना है वह ब्रह्म कूटस्थ नित्य है। उसके विकार कुछ नहीं होते हैं तो फिर संसार किसका हो? जो दुःखी हो, जिसपर गुजर बीते वही मुक्तिकी चाह करे, यत्न करे। जब जीवपर कुछ गुजरती ही नहीं है, वह तो शाश्वत और अपरिणामी है तो फिर संसार हुआ ही क्या? मुक्ति किसकी करना है? इस दोषके भयसे यह मानना आवश्यक हो गया है कि जीव क्रोधादिकरूप परिणमता है।

परिणामियिताके सम्बन्धमें विकल्प—अब इसपर यह प्रश्न होना प्राकृतिक है कि जीव क्रोधादिकरूपपरिणमता है तो इसे परिणमता कौन है? यदि जीव स्वतः परिणमता ही रहता है तो वह क्रोधादिक स्वभावपरिणमन हो जायगा। सदैव होते रहना चाहिए। और यदि उसे कोई परिणमता है तो कौन परिणमाता है? उत्तर में प्रश्नकार यहाँ कह रहा है कि पुद्गलकर्म क्रोधादिक नामक पुद्गल प्रकृति इस जीवनको क्रोधरूप परिणमाता है। ऐसा माना जाने पर दो विकल्प समक्ष आते हैं। क्रोधरूप परिणमते हुए जीवको क्रोधनामक प्रकृति क्रोधरूप परिणमाती है या क्रोधरूप न परिणमते हुए जीवको क्रोधप्रकृति जीवको कर्मरूप परिणमाती है? यदि क्रोध रूप न परिणमते हुए जीवको क्रोध प्रकृति क्रोधरूप परिणमाती है तो यह बात असम्भव सी है कि जो शक्ति जिसमें नहीं है उस शक्ति के कामको कोई दूसरा पदार्थ करदे। लोक व्यवहारमें तो नहीं देखा जाता है। धूलमें रोटीरूप परिणमने की योग्यता नहीं है। सो कैसा ही यत्न किया जाय पर धूल, रेत रोटीरूप नहीं परिणम जाते हैं। जिसमें जो शक्ति नहीं है उसको कोई दूसरा पदार्थ कभी भी करने में समर्थ नहीं हो सकता है। इसलिये यह पहिला पक्ष तो गलत है अब दूसरे पक्षकी बात यह है कि परिणमाते हुए को परिणमाता है तो परिणम तो रहा ही है, उसे दूसरा और क्या परिणमाता है इन दो बातों के पश्चात् उसका क्या निश्कर्ष निकलेगा उसको अब इन्हीं गाथावों में अगली गाथा में कहा जायगा।

परिणामियिताके सम्बन्धमें विकल्तोका स्पष्टीकरण—इस प्रकरण में यह कहा रहा है कि यदि कर्मसे यह जीव नहीं बंधा है और क्रोधादिक भावोंसे स्वयमेव नहीं परिणमता है तो इसका स्पष्ट मतलब यह हुआ कि जीव अपरिणामी हुआ। और जब जीव अपरिणामी हुआ। तो संसारका अभाव हो गया। जब यह टससे मस ही नहीं हो सकता तो फिर यह संसार किसका? इस दूषण के भयसे यदि यह कहा जाय कि क्रोधादिक नामकी जो पुद्गल कर्म प्रक्रियाएँ हैं वे जीवको क्रोधादिक रूपसे परिणमाती हैं, इसलिए संसारका अभाव नहीं हो सकता। याने जीव खुद नहीं परिणमता है पर ये क्रोधादिक कर्म जीवको क्रोधरूप परिणमा देते हैं। पहिले तो यह मोटी बात देखो कि प्रकृतिने ही परिणमा दिया सही

फिरभी जीव परिणमाया नहीं इस पर भी यदि ऐसा दुराग्रह किया जाय कि प्रकृतिने भी परिणमाया और फिर भी जीव परिणमा नहीं, तो इसे मानेगा कौन? खुद कोई लड़का न चले और हाथ पकड़कर जबरदस्ती कोई लड़के को ले जाय तो जबरदस्ती ले जाने पर भी लड़के के पैर चले कि नहीं चले, फिर भी लड़का टसको मस नहीं हुआ, और वह लड़का नहीं चला, इसे मानेगा कौन?

वस्तुशक्तियोंमें परानपेक्षता—इस सम्बन्धमें ये दो विकल्प किए गए हैं क्या क्रोधादिक रूपसे स्वयं न परिणमने वाले जीवको पुद्गलकर्म क्रोधादिक रूपमें परिणमाते हैं? या स्वयं परिणमने वालेको प्रकृति क्रोधादिक रूप परिणमाती है। यदि यह कहा जाए कि स्वयं नहीं परिणमता है और प्रकृतिके द्वारा यह आत्मा परिणमा दिया जाता है तो जो स्वयं नहीं परिणमता है वह दूसरे के द्वारा परिणमाया जा सके ऐसा कभी नहीं हो सकता। स्वयं ही यदि शक्ति नहीं है तो वह शक्ति किसी अन्यके द्वारा की नहीं जा सकती। और यदि स्वयं परिणमते हुए जीवको प्रकृति परिणमाती है तो जो स्वयं परिणम रहा है वह किसी अन्य पर परिणमयिताकी अपेक्षा नहीं कर सकता। निमित्त परिणमने में स्वाधीन है। वह अपेक्षा नहीं करता। वस्तुको शक्तियाँ किसी पर पदार्थको अपेक्षा नहीं किया करती। निमित्तके बिना होता नहीं फिर भी निमित्त की अपेक्षा उपादान नहीं किया करता।

परिणाम व परिणन्ताका अभेद—इस तरह यह सिद्ध हुआ कि जीव परिणमन स्वभाव वाला स्वयं ही होता है। ऐसी बात सिद्ध होने पर निश्कर्ष यह निकालो कि जैसे गरुड़के ध्यानमें प्रयोजनसाधक पुरुष स्वयं ही गरुड़ हो जाते हैं इसी प्रकार अज्ञानस्वभाव क्रोधादिक भावमें परिणत जीव स्वयं ही क्रोधादिकरूप हो जाते हैं इसी प्रकार जीवमें परिणमन स्वभाव स्वतः सिद्ध हो जाता है। गरुड़ ध्यानी सिद्धान्तमें यह बताया गया है कि लोग गरुड़का ध्यान करते हैं जो गरुड़को देवता मानते हैं और उन्हें ऐसा ध्यान हो जाता है कि मैं गरुड़ हूँ। गरुड़ एक पक्षी होता है जो सांपको उठाकर खा जाता है। उस गरुड़ का ध्यान बताया है चूंकि गरुड़को एक भगवानका वाहन बताया है तो उस वाहनके प्रसंग में वाहनका ध्यान किया गया है। एक दिन रास्ते में पिंजड़ेमें चूहाको बंद किए हुए एक लड़का लिए जा रहा था तो हमने लड़के से कहा कि देखो इस चूहे को कुत्तों के आगे न छोड़ना, नहीं तो बहुत पाप लगते हैं। तो वह बोला, हाँ छोड़ेंगे कैसे यह तो गणेशकी सवारी है, हमने कहा चलो ठीक-गणेशकी सवारी ही सही कुछ भी मोना इसके प्राण तो बच जायेंगे। तो गरुड़के ध्यानमें परिणत पुरुष स्वयं गरुड़ हो जाता है, इसी प्रकार क्रोधादिक भावोंमें परिणत पुरुष स्वयं क्रोधमय हो जाता है।

दृष्टान्तपूर्वक परिणाममयताकी सिद्धि—जैसे कभी बच्चे लोग घोड़ा बनकर खेला करते हैं। दोनों हाथ पैर जमीन पर टेक कर चलते और कहते हैं कि घोड़ा आया। दूसरा लड़का भी घोड़ा बन गया और वे घोड़े की तरह हिनहिनाते हुए सिर में सिर मारते हैं और हाथ से भी टापसी मारते हैं। ऐसा वे नाटक रचते हैं। उस समय बच्चे को यही ख्याल रखना पड़ता है कि मैं घोड़ा हूँ, और जब विशेष ध्यान हो जाता है तो अपनेको बिल्कुल भूल जाते हैं कि मैं लड़का हूँ। यह ख्याल हो

जाता है कि मैं तो घोड़ा हूँ, और अंतमें जब वेगकी लड़ाई हो जाती है और चोट लग जाती है तो खबर होती है कि मैं लड़का हूँ, और रो पीट कर घर भाग जाते हैं। तो जिसके ध्यानमें एकाग्रतासे जो परिणत हो जाय तो उसके ध्यानमें वही है। जैसे बताया है कि शुद्ध आत्मतत्व जिसके उपयोग में है, उपयोगके समय में भी शुद्ध आत्मा ही है। ज्ञानकी ओरसे देखा जा रहा है उपयोग जिसके ध्यानमें एकाग्र है बस आत्मा वही है। इसी प्रकार जीव क्रोधादिक का परिणमन कर रहा है और उसमें उपयोग लगा रहा है तो वह स्वयं क्रोधमय है। जैसे बहुत गुस्सा करने वालेको कहते हैं कि लो यह आ गया है क्रोधका पिण्ड अब बतलावो कि वह आत्मा क्या क्रोधका पिण्ड है? उसने न ज्ञान न मान है न और कुछ है क्या? मगर जो निरन्तर क्रोधकर रहा है जिसका उपयोग क्रोधमय ही बना रहता है उसको कहते हैं क्रोधका पिण्ड।

उपादानशक्तिकी मुख्यता—तो जो लोग ऐसा कहते थे कि परिणमते हुए जीवको क्रोधरूप बना देता है कर्म मगर जीव क्रोधरूप नहीं होता। जीव अपरिणामी है ऐसी जिनकी हठ थी उनसे यह कहा गया कि जीव ही स्वयं उस कालमें क्रोधरूप परिणम गया और जीवमें ऐसा विकार रूप परिणमनका स्वभाव है तभी संसार है और तभी इस संसार संकटसे बचने के लिए व्रत ध्यान आदिका उपाय किया जाता है, यदि जीवमें परिणमनका स्वभाव न हो तो कितनी भी उपाधियोंका सम्बन्ध इस जीवमें हो जाय तो भी परिणमन नहीं आ सकता। ऐसी जबरदस्ती कहीं नहीं होता है कि कोई जबरदस्ती परिणमाये और वह अपरिणामी ही बना रहे। आत्मामें रूपपरिणमनका स्वभाव नहीं है तब किसकी जबरदस्ती चल सकती है। बालूमें तेल निकलनेका स्वभाव नहीं है तो उस पर तेल निकालनेकी जबरदस्ती चल सकती है क्या? नहीं! हाँ कोई ऐसा फल है कि जिसमें मुश्किलसे तेल निकलता है, जैसे बादाम है मुश्किलसे ही तेल निकला सही पर तेल निकलने का स्वभाव तो उस पर जबरदस्ती भी चल सकती है। जौ तिल है उसमें आसानीसे तेल निकल आता है उसमें साधारण यत्न करना पड़ता है, तो चाहे साधारण यत्न करना पड़े चाहे प्रबल यत्न करना पड़े पर स्वभाव हो परिणमनेका तो परिणम सकता है अन्यथा नहीं।

जीदके परिणमनस्वभावकी प्रसिद्धि—भैया! दर्पणका स्वभाव है प्रतिबिम्बरूप परिणमनेका तो दर्पण के सामने मुख करने पर दर्पण प्रतिबिम्ब रूप परिणम जायगा। पर भींट, काठ, चौकी, पत्थर, इन पदार्थोंमें प्रतिबिम्बरूप परिणमनेका स्वभाव नहीं है तो हम कितनी ही तेजी से देखें और बड़े भाव भरकर देख कि लो अब दिखता ही है चेहरा तो भी क्या प्रतिबिम्ब पड़ जायगा? नहीं तो ये बस विभाव परिणमन हैं, प्रतिबिम्ब परिणमन भी विभाव परिणमन हैं, स्कंध परिणमन भी विभाव परिणमन है, पुद्गलका शुद्ध परिणमन परमाणु कहलाता है, परमाणुमें स्वयंमेव जो कुछ होता है रूप, रस, गंध, स्पर्श, परिणमन वह स्वभाव परिणमन है। इसलिए जीव स्वयं परिणमता नहीं है और प्रकृति कर्म रूप परिणमाए यह बात गलत है, और यह भी गलत है कि जीवको परिणमते रहनेका स्वभाव ही ऐसा है कि वह विकाररूप परिणमा ही करे।

प्रकरणका निष्कर्ष—यदि एकांतसे जीव विकार रूप परिणमता ही रहता है तो द्रव्य कर्म के उदयके बिना भी यह क्रोधरूप परिणम जाया करें सो ऐसा नहीं है; क्योंकि यदि एकांतसे जीवके विकार रूप परिणमनका स्वभाव है तो मुक्ति होने पर भी वह क्रोधी बन जाया करे क्योंकि जीवमें क्रोधादिक रूपपरिणमन का स्वभाव पड़ गया है। पर ऐसा तो नहीं है। तब बात क्या है? जीवमें विकाररूप परिणमनका स्वभाव तो है मगर विकार की व्यक्ति निमित्त से सन्निधान होनेपर यह जीव करता है। और दूसरी बात यह है कि उस शिष्यको कहा जा रहा है जो जैन होकर भी सांख्य आशयको रख रहा है। यदि यह कहें कि यह आत्मा स्वयं ही कर्मोदय की अपेक्षा किये बिना क्रोधादिकरूप से परिणमता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि जो आगमनमें लिखा है कि प्रकृतिके निमित्तसे भावोंका कर्ता होता है वह एकपना हो जायगा इस कारण ऐसा माना कि जैसे घटकार परिणत मृत्पिण्डके घटरूप हो जाता है या अग्निरूप परिणत लोहे का गोला ही तो स्वयं अग्नि है इसी प्रकार आत्मा भी जो क्रोधके उपयोग में परिणत है वह ही स्वयं क्रोध है जो मान के उपयोग में परिणत है यह आत्मा मान है, जो माया के प्रयोगमें परिणत है वही आत्मा माया है। और जो लोभ के उपयोगमें परिणत है। वह आत्मा लोभ है। ऐसी जीवमें स्वभाव भूत परिणमन की शक्ति प्रसिद्ध है। ऐसी परिणमन शक्तिके होनेपर यह जीव जिन-जिन भावोंका कर्ता है उन-उन भावोंका यह जीव उपादान कर्ता है। द्रव्यकर्मका उदयतो निमित्त मात्र है। यह संसार अयस्था में क्रोधरूप होता है। और सिद्ध अवस्थामें क्या बात होती है कि वही जीव चैतन्य चमत्कारमात्र शुद्ध भावोंमें परिणत होता हुआ सिद्ध आत्मा कहलाता है प्रत्येक पदार्थमें परिणमनका स्वभाव है और जो पदार्थ पर्याय योग्यतामें विकाररूप परिणमनका स्वभाव रख रहा है वह किसी पर द्रव्यका निमित्त मात्र पाकर स्वयं विकाररूप परिणम जाता है। कैसा यह ज्ञानका मर्म है। वस्तुके स्वरूप को किस तरह पहिचाना जा रहा है। कि निमित्तका उपादानमें कुछ आता नहीं है-यह भी उपयोग रहे और निमित्तके सानिध्य बिना विकाररूप परिणम कोई नहीं सकता। यह भी दृष्टिमें रहे दोनों बातें रहें और इतने पर भी अर्थात् निमित्त का सान्निध्य पाकर भी वस्तु जो विकाररूप परिणम रहा है वह अपनी ओर से स्वतन्त्रता से परिणम रहा है यह भी ध्यानमें रहे। सब बातोंका एक साथ प्रमाण बना रहना यह समस्तनयों के विज्ञान बिना नहीं हो सकता।

स्वकर्तृत्वका निष्कर्ष—इसी प्रकार कुछ निष्कर्ष यों निकालना कि यह अज्ञानी जीव निमित्त पाकर जब अशुभोपयोगरूप से परिणमता है तब अपने पापास्त्रवका का कर्ता होता है, जब शुभोपयोग रूपसे परिणमता है तब पुण्यास्त्रवका कर्ता होता है, वही जीव जब शुद्धोपयोगके भावसे परिणत होता है तो आत्माकी ही रुचि रहे, शुद्ध आत्मस्वरूपकी ही संवित्ति रहे और उसही रूप उपयोग बना रहे ऐसी स्थितिमें इस प्रकारके अभेद रत्नत्रय रूप अभेद ज्ञानसे जब यह जीव परिणमता है तब यह निश्चय चारित्रवशी निश्चय सम्यग्दृष्टि वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर सम्बर निर्जरा और मोक्ष तत्वका कर्ता बनता है। निश्चय सम्यक्त्व का उपयोग न होने पर जब सराग

सम्यक्त्वसे परिणमता है तब शुद्ध आत्माही उपादेय है ऐसी दृष्टिके बलसे परम्परया निर्वाणका कारणभूत तीर्थकर आदिक उत्कृष्ट पुण्य प्रकृतियोंका भी कर्ता होता है।

परिस्थितियोंका कारण परिणमनशीलता—ये सब बातें जो बताई गई हैं वे तब तक सिद्ध नहीं हो सकती जब तक जीव और पुद्गल इन दोनोंका कथंचित् परिणाम न स्वीकार कर लिया जाय। झगड़ा किस बात पर? दोनों मूलभूत पदार्थ तो मित्रता रख रहे हैं और यहाँ वहाँ के लोग उन दोनोंका झगड़ा बनादें यह कैसे हो सकता है, वे दोनों खुद झगड़ैल बनें तो झगड़ा खड़ा किया जा सकता है। जिस जीव पर पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, सम्बर, निर्जरा, मोक्षतत्व आदि गुजरते हैं वह ही हुआ कूटस्थनित्य, तो अब बने बिगड़े क्या? भैया! कूट कहते हैं निहाई को। जहाँ लौहार आग जलाता है उसके पासही एक लोहे का लम्बा, चौड़ा, मोटा डंडा गाड़ा जाता है जो वर्षोंही गड़ा रहता है। वह हिलता नहीं है और जिस पेंच-पुर्जेको ठीक करनाहै उसे निहाई अथवा कूटस्थपर रखदेते हैं और घन मारने वाले जो दो तीन होते हैं वे घन मारते हैं, तो उस निहाई पर खूब घन भी चलते हैं, पेंच-पुर्जेभी चलते हैं पर वह निहाई महरानी जहाँ कि वहाँ गड़ी हुई है। सब कुछ बदल कर भी निहाई में कुछ काम नहीं हो रहा है। उस पर कुछ गुजरती ही नहीं है। पृथ्वी की तरह अविचल रहती है। इसी तरह जीव और कर्म ये यदि अविचल रहें ऐसा माने तो ये दोनों नहीं खपती हैं। तो जीव और पुद्गलको कथंचित् परिणामस्वरूप करने परही ये बस बातें बन सकती हैं। इसी प्रकार जीवमें जब परिणमनकी शक्ति निर्विघ्न स्वभावभूत सिद्ध होती है तो परिणमन शक्ति की दृष्टि हो जानेपर यह सिद्ध होता है कि यह जीव जिस जिस भावको करता है कि उस उस भाव का यह जीव कर्ता कहा जाता है। इसही बातको अब इस गाथा में स्पष्ट करते हैं।

गं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स।

णाणिस्स स णाणमओं अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥ १२६ ॥

वस्तुमें परमार्थतः स्वका ही कर्तृत्व—आत्मा जिस भावको करता है उस भावरूप कर्म का कर्ता होता है। ज्ञानी जीवके ज्ञानमय भाव होता है और अज्ञानी जीवके अज्ञानमय भाव होता है, पर करता है जीव केवल अपने भावों को। इसी प्रकार यह आत्मा स्वयंही परिणमन स्वभाव बाला होकर जिस स्वरूप अपने भावोंको करता है उसही भावका कर्ता कहलाता है और उसका वह भाव कर्म कहा जाता है।

ज्ञानीके ज्ञानमय भावकी उद्भूति—कर्मरूप से परिणमा आत्मका वह भाव ज्ञानी जीव के तो ज्ञानमय ही होता है; क्योंकि इस ज्ञानी पुरुषके भली प्रकार स्व और पर का विवेक उदित हुआ है, यह ज्ञान मात्र मैं हूँ, और मैं सब ज्ञानातिरिक्त भाव पर हैं। समस्त चेतन अचेतन पदार्थ पर हैं। यह मैं ज्ञानमात्र स्व हूँ। ये रागादिक विकार पर है। ऐसा ज्ञानमात्र स्व का परसे विवेक कर लेनेके कारण उसमें विविक्त आत्माकी ख्याति प्रसिद्ध होती है इस लिए जो कुछ उससे बनता है वह ज्ञानमय भावही बनता है। तो ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है। अभी जिस पुरुषके बारेमें

आपको यह कहाहो है। कि यह पुरुष निष्पक्ष है, रागद्वेषकी बातें नहीं करता, किसीका कोई पक्ष नहीं जुटाता, विवेकी है, ज्ञानवाला है तो कोई परस्परमें किसीका झगड़ा होने पर वे दोनों फरीक यह कह बैठते हैं कि जो यह कहेंगे तो हम मानेंगे। हालांकि पता नहीं है कि यह कैसा बोलेगा पर यह विश्वास है दोनों में कि चूंकि यह ज्ञानी है, निष्पक्ष है इसलिये जो भी इसका भाव होगा, निर्णय होगा वह सब यथार्थ होगा। इतना तो निर्णय है। इसी प्रकार ज्ञानी जीवके चूंकि स्व और परका विवेक हो गया इस कारण यह निश्चय है कि वह अन्याय नहीं कर सकता ज्ञानी किसलिये अन्याय करेगा, अगर भ्रम होता तो अन्याय करता किसी विषय से हित माना हो, किसी परको अपना माना हो तो वह अन्याय करता। ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है।

अज्ञानीके अज्ञ नमय भावकी उद्भूति—अज्ञानी जीवके अज्ञानमय भाव ही होगा। एक बिगड़ी हुई संस्कृत में कहावत है कि *पंडितः शत्रुः भद्रो ने मूर्खो हितकारकः* पंडित समझदार यदि शत्रु भी हो तो भी वह भला है पर मूर्ख मित्र जो अपने लिये हितकारी हो वह भला नहीं है। भले ही वह अपने लिये हितकारी है पर पता नहीं कब अणसट्ट बोलदे और उस मित्रसे नुकसान हो जाय, तो अज्ञानी जीवके चूंकि स्व परका विवेक नहीं है इसलिये इस विविक्त आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त हो गई है। वह अपने आत्मस्वरूप को परिचय में नहीं ले सकता है इसलिये उसके अज्ञानमय ही भाव होता है।

कर्तृत्वका हेतु परिणमनशीलता—इस प्रकार यह सिद्ध किया गया है कि जीव स्वयं निरन्तर परिणमते रहनेका स्वभाव रखता है। जब तक यह जीव अज्ञानभावका उपादान रखे रहता है तब तक अनुकूल कर्म प्रकृतिका निमित्त पाकर अज्ञानमय भावको करता है। और जब यह ज्ञानमय शुद्ध उपादानको प्राप्त करता है तब यह जीव ज्ञानमय भावका कर्ता होता है। पर परिणमनका स्वभाव जीवमें है। मोक्ष की समस्या बड़ी समस्या है; अर्थात् संकटोंसे छूटने की बात एक बहुत बड़े ध्यानकी बात है। वह इस ही दशामें सम्भव है कि जब स्वयंको और परको परिणमने का स्वभाव माना जाय। जिसे छूटना है वह ही न बदले तो फिर मुक्ति किसे हो। और यह स्वयंमेव ही बदलता रहता हो अथवा परके निमित्त से बदलता रहता हो तो मुक्त होकर वह करे क्या। वहाँ पर भी इन्हीं संकटों में बसना पड़ेगा। इस कारण पुरुष और प्रकृति इन दोनों को परिणमन स्वभाव वाला माना जाय तब मोक्षकी व्यवस्था इसकी बनसकती है। यहाँ यह कहा गया है कि ज्ञानी के गे ज्ञानमय भाव होता है, क्योंकि उसके स्व परका विवेक जागा है। और समस्त पर भावों से विविक्त आत्मा की ख्याति होती है पर अज्ञानी जीवके अज्ञानमय ही भाव है, क्योंकि उस के स्व परका विवेक नहीं जागा, और उसे इसी कारण विविक्त आत्माकी दृष्टि नहीं उत्पन्न हुई। अब यह बतलाते हैं कि ज्ञानमय भावसे क्या होता है और अज्ञानमय भावसे क्या होता है।

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदित्तेण कम्माणि ।

णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि ॥ १२७ ॥

अज्ञानमय भावका परिणाम—अज्ञानी जीवके अज्ञानमय ही भाव होता है इस कारण वह भाव कर्मोका कर्ता है और ज्ञानी जीवके ज्ञानमय भाव होता है इस कारण वह ज्ञान कर्मोका कर्ता नहीं है। शुद्ध जानन देखन जैसे स्थिति में न हो उस स्थिति को अज्ञानमय भाव कहते हैं। अज्ञानी जीवके निज और परका अस्तित्व प्रतीत नहीं हुआ इसी कारण विविक्त निज आत्मत्व की उसकी दृष्टि नहीं हुई। वह विविक्त आत्मत्व मोहसे ग्रस्त है इस कारण अज्ञानमय ही भाव होता है। इस अज्ञानमय भावसे ही किसी के स्व और परका भिन्न स्वरूप ही नजरमें है नहीं। जब भिन्न अस्तित्व नजर में नहीं है तो यह प्राकृतिक बात है कि स्व और परमें एकत्वका, सम्बंध का, निर्भर होने का एक दूसरे के आश्रित अस्तित्व समझने का अभ्यस्त हो जाता है और जब स्व और परमें एकत्वका अभ्यास हो गया तो ज्ञानमात्र स्थितिसे भ्रष्ट हो जाता है।

स्वरूपभ्रष्टताका परिणाम—जब कोई ज्ञानमात्र दर्शनसे भ्रष्ट हो जाता है तो पर जो रागद्वेष भाव है इनके साथ एकता कर लेता है, और ऐसी दृढ़ एकता हो जाती है कि उस ही भाव में अहंकार चलने लगता है। जैसे लौकिक पुरुषों को अपने नाममें एकता है तो कोई धीरे भी नाम ले या आधी नींदमें हो, वहाँ पर कोई नाम ले तो झट कान खड़े हो जाते हैं उस नाममें क्या है? चार-पाँच शब्द ही तो हैं, जो स्वर व्यंजन के शब्द है, उन शब्दों को किसी क्रममें रख दिया, यही तो नाममें है तो अपने नामका अहंकार करने लगते हैं कि मुझे ही तो कहा। इसी से तो जो चतुर लोग होते हैं वे दूसरों को बसमें करने का अथवा दूसरों से दान आदिक कराने का या स्वार्थ पूर्ति करने का यह उपाय समझते हैं कि अच्छी प्रशंसा कर देना चाहिए, इनका नाम जाहिर करदें फिर तो वे बसमें हो ही जायेंगे। दूसरों को बसमें करने का और अपना कोई कार्य कराने का चातुर्य इसमें समझा जाता है कि नामकी प्रसिद्धि करदें जाहिरात करदें।

अनर्थोका मूल नामका लगाव—भैया! जिसे नाममें ऐसा श्रद्धान बना हुआ है कि अमुक चंद, अमुक मल मैं ही तो हूँ। जिस नाममें एकता ऐसी हो गई है कि वह अब जीवन में नहीं मिटती है। अखबारों में यदि कोई निन्दामय वाक्य आ गया और उनमें केवल एक बात नामके अक्षर पड़ गए तो सारा क्षोभ मच जाता है जिसका नाम पड़ गया है उसके। क्या इस आत्मका यह अमुक नाम है? बहुत अतःमर्ममें जाकर देखो तो यह तो एक चैतन्यस्वरूप पदार्थ है, जैसे सब अपना स्वरूपास्तित्व रखते हैं वैसे ही यह अपना स्वरूपास्तित्व रखता है। नाममें एकता हो जाने पर अहंकारकी प्रवृत्ति होने लगती है कि यह मैं हूँ, और अपने ज्ञान मात्रके स्वरूपको भूल जाता है, जैसी वासना नाम की बनी रहती है, ऐसी ही वासना में ज्ञान मात्र हूँ, ऐसा देखने के लिए नहीं उत्पन्न होती है। तो जब रागद्वेषों में एकता मान लिया, अहंकार प्रवृत्त हो गया तो अपने बारे में ऐसा समझता है कि यही मैं हूँ, रागद्वेष कर रहा हूँ यही तो मैं हूँ। फिर यह न राग करते हुए हिचकिचाता है न द्वेष करते हुए हिचकिचाता है; क्योंकि मौज विषय साधन, लोकप्रतिष्ठा, दिल बहलाते, लोगों से कुछ अच्छा नाम कहलवाले, यही मात्र जब जीवनका लक्ष्य है तब राग और द्वेषों में ही तो अपनी बुद्धिमानी समझेगा।

ज्ञानभाव व अज्ञानभावके विलास—जिसका लक्ष्य यह है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ और ज्ञानरूप रहना मेरा कर्तव्य है, इसी में ही उन्नति है, यही मेरा खास स्वरूप है, काम है। इस के अतिरिक्त अन्य उपाधि हैं, संसारमें रुलानेके साधन हैं ऐसी बात जब ज्ञानमें आए तब तो राग करते हुए हिचकेगा, द्वेष करता हुआ कुछ अष्टपट मानेगा, न करने को चाहेगा, निवृत्तिकी ओर उन्मुख होगा। पर जो ज्ञानमात्र स्वरूप की दृष्टिसे च्युत है, स्व और परके साथ एकता जिसके ज्ञान में बैठी है वह पुरुष रागी द्वेषी होकर राग करता है, द्वेष करता है और इतना ही नहीं, राग द्वेष करता हुआ उन रागद्वेषों को आत्मरूप करता हुआ अर्थात् यही मात्र मैं हूँ, ऐसा मानता हुआ कर्मोंको करता है। जैसे लौकिक पुरुषों को यह भाव बना रहता है कि तुम कौन हो भाई? मैं अमुक मनुवाका बाप हूँ, अमुकका मैं भ्राता हूँ, इन तरह का ऐसा संस्कार बना रहता है, इसको मना ही नहीं किया जासकता। मैं यह कुछ नहीं हूँ, मैं तो अन्य सब जीवोंकी भांति चैतन्य स्वरूप रखने वाला एक पदार्थ हूँ। इसे कोई नहीं जानता है, जैसे सब जीव हैं ऐसा मैं भी एक हूँ। इस प्रकारका लक्षण किसी समय नहीं पहिचान सकते हैं। ऐसी ही वासना बनी रहती है कि मैं अमुक हूँ।

ममत्वमें अहंत्वभावकी महान्थता—अज्ञानी जीवके निरन्तर यह भावना बनी रहती है, रागद्वेषादि विकार जितने हैं ये मात्र मैं हूँ, यह तो ज्ञानीकी भाषामें बात कही जा रही है कि अज्ञानी जीव रागद्वेषों को ही आत्मा मानता है, हर अज्ञानी को स्वयं यह पता नहीं कि ये रागद्वेष हैं और इन्हें मैं आत्मा मानता हूँ, बोध हो तो अज्ञानी ही कहाँ है, फिर तो ज्ञानी हो गया। जैसे कोई कहे कि मकान मेरा है, ऐसा कहने वाले को कमसे कम यह तो ज्ञात है कि मकान ही मैं नहीं हूँ, मैं अलग हूँ, मकान अलग है, मकान मेरा है, ममता के भाव से अहंत्व का भाव बहुत दृढ़ अंधकार में होता है। यह पुत्र मेरा है ऐसा सोचने में अभी गनीमत है थोड़ी। यहाँ तो थोड़ा बहुत भाव है कि यह मैं हूँ पुत्र यह है, और पुत्र मेरा है कोई कहे कि शरीर मेरा है तो यहाँ से भी कुछ भेद है कि शरीर यह है और मैं कुछ हूँ और शरीर मेरा है। पर जहाँ आशय हो जाय कि शरीर को ही लक्ष्य रखकर कहेकि यह मैं हूँ उसमें घना अंधकार बना हुआ है और इसी तरह रागद्वेष परिणाम में जिसके यह भाव हैं कि यह मैं हूँ रागद्वेष के प्रति ही ऐसा अहंत्व आ जाय कि यह मैं हूँ तो उसका यह दृढ़ अज्ञान अंधकार है और इस मिथ्यात्व अंधकार के विकारमें यह जीव संसार परम्परा को बढ़ाने वाले कर्मों से लिप्त होता है।

अज्ञाननियोंकी प्रवृत्तिमें अज्ञानकी व्यक्त झलक—कितने ही पुरुष और विशेषकर महिलाएँ ऐसे अज्ञान अंधकारमें होती हैं कि इष्टके गुजरने पर ऐसा अनुभव करती है कि मेरी ही बरबादी हो गई। किसी-किसी को तो यह रहता है कि अब मेरा जीवन कैसे चलेगा, इसमें भी कुछ भेद रहता है पर मैं ही मिट चुका इस प्रकार का जो आशय है वह विशेष अज्ञान अंधकार को लिये हुये हैं। अनेक लौकिक पुरुषों का कर्तव्य देख लीजिये ना। आज कलके वेशभूषामें जो महिलाएँ ओठोंमें लाली लगाकर पाउडर लगाकर चोटियाँ बांधकर जब शान से सड़कों पर निकलती हैं तो उनके स्पष्ट अज्ञान

ऊपर झलक रहा है या नहीं? कुछ खबर नहीं है अपने ज्ञानमात्र स्वरूप की और कितने अहंकारमें लिप्त हैं, इस जड़ शरीर या परवस्तु के प्रति कैसा अज्ञान बसाये हैं कि ऐसी घटनाको देखकर ज्ञानियों को तो दया ही उपजती है कि देखा यह कितना अज्ञान अंधकार में है। ज्ञान स्वरूपका जिन्हें पता ही नहीं है, वे शांति नहीं पा सकते हैं। कितने ही नवयुवक लोग पढ़ने लिखने वाले भेषबूषा बनाकर पान चबाते हुए अभिमान की मुद्रासे चलते हुए नजर आते हैं तो भयंकर अंधकार एकदम ऊपर नाच गया और यह स्पष्ट मालूम होता है कि इन बेचारोंको रंच भी अपना ख्याल नहीं है।

अज्ञानीकी अहंकारमूलक लौकिक सभ्यता—देखो भैया कहाँ-कहाँ अज्ञानियों का उपयोग दौड़ा है कैसे बाहरी ज्ञानको दृढ़तासे पकड़े हुए हैं कि कुछ अपने आपका पता ही नहीं है और कुछ सभ्यतापूर्ण भी विनय आदि से रहे तो वहाँ पर भी कैसा दृढ़ अहंकार चिपका हुआ है। जैसे लखनऊकी बोली। अब तो ऐसा नहीं रहा जैसा पहिले सुनते थे। उर्दू की प्रमुखता जाहिर थी। आइए मेहरबानी करके, लाइये तसरीफ, फरमाइए आदि बोलीमें अहंकार छिपा हुआ है। अभिमानके कारण ही ऐसी विनयपूर्ण बातें बोली जा रहीं हैं। तो ऐसा यह अज्ञान अंधकार दृढ़ता से जीनमें लगा है। यह तो संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की कथा है। असंज्ञी जीव कीड़े मकोड़े पेड़ पौधे इनके स्व परका विवेक ही क्या है। इनका तो जीवन आहार संज्ञाके लिए है। मेरा जीवन हरा भरा रहे, मौजसे रहे, बस यही एक उनका जीवन है। और कुछ उन्हें पता नहीं है। ऐसा जो ज्ञानमात्र स्वरूपसे भ्रष्ट है और पर द्रव्यों में ममत्वका परिणाम लिए हुए है वह रागद्वेषमय विकारमय अपनेको मानता हुआ कर्मोंको करता है।

ज्ञानीके शान्तिके अभ्युदयका कारण—ज्ञानी जीव जिसको भली प्रकार स्व और परका विवेक हो गया और इसी कारण अत्यन्त विविक्त आत्माकी दृष्टि उदित हो गई है और निरन्तर यह संस्कार बना हुआ है कि मैं तो यही हूँ और जब चाहे इसका उपयोग कर सकता है। जैसे मुहल्ले में किसी और दूसरों से लड़ाई हो जाय तो खुद को बेचैनी नहीं होती। वह समझता है कि मैं यह हूँ, मेरा तो यह है। यहाँ तो कुछ उपद्रव नहीं है। पड़ोसमें किसी जगह कोई विवाद, क्षोभ की बात हो जाय तो उस समय जैसे लौकिक पुरुष अपनेमें क्षुब्ध नहीं होते क्योंकि जानते हैं कि यह उपद्रव मेरे घरमें तो नहीं होता। ऐसे ही जिस ज्ञानीने अपना घर केवल अपना स्वरूप ही समझा जिससे कि सारा काम पड़ना है, जो कि सदा साथ रहता है जिसके सिवाय अन्य कुछ है भी नहीं ऐसा निज स्वरूप जिसने अपना घर समझा है और अपने स्वरूपको ही अपना परिवार समझा है ऐसे जीवको चूंकि अपने आत्माकी सिद्धि प्रसिद्धि होगई है सोपर पदार्थोंकी कुछ भी परिणति हो, अन्तरमें क्षुब्ध नहीं होता है। हो रहा है बाहर, इस मुझमें तो कुछ नहीं हो रहा है।

पर पदार्थोंके प्रति ज्ञानकी यथार्थ धारणा—जो बिल्कुल निकट है ऐसे पर द्रव्यभी मेरे स्वरूपसे अत्यन्त दूर है ऐसे पर द्रव्यभी मेरेही क्षेत्रमें अवगाहरूपसे ठहरे हैं ऐसेभी पदार्थ मेरे से अत्यन्त दूर हैं। जितना अत्यन्ताभाव मेरा हजारों कोश दूर रहने वाले पदार्थसे है वैसा ही

अत्यन्ताभाव मेरे ही निकट में ही क्षेत्र में रहने वाले पदार्थों में है। ऐसी स्वरूप दृष्टि ज्ञानी पुरुष को प्राप्त होती है जिसके कारण इसका ज्ञानमय भाव होता है। और कभी ऐसी भी विकट स्थिति होती है ज्ञानी पुरुष के भी कि प्रवृत्ति में अज्ञान जैसा काम लगता है पर भीतर जो यथार्थ ज्ञान हो चुका है जो ज्ञान ज्योति जग चुकी है उसके उजाले को कौन मिटा सकता है? समझता है अन्तर में सब कुछ पर कर्म विपाक जब तीव्र ऐसा ही भोग में आता है तो अज्ञानी जैसी भी प्रवृत्ति बाहर में कदाचित् हो जाय जो भी अन्तर के ज्ञान प्रकाश को वह भूलता नहीं।

अविरत ज्ञानीकी अन्तःशुद्धिका एक दृष्टान्त—कोई एक गुरु संस्कृत पढ़ाने वाला बच्चों को पढ़ाने बैठा। वे तोतले थे। गुरु महाराज! कोई कुछ कम तोतले होते हैं कुछ ज्यादा तोतले होते हैं। मगर तोतले स नहीं बोल सकते। च भी नहीं बोल सकते। च बोल भी लें पर स कोई तोतला नहीं बोल सकता। तो संस्कृत पढ़ाने बैठे। एक बात बोली जाती है सिद्धिरस्तु। तो वह सिद्धिरस्तु की जगह पर टिद्धिरस्तु बोलें। संस्कृत पढ़ने वाले लड़कों को यह समझाना था कि हमसे चाहे जो बोलने में आ जाय पर तुम सिद्धिरस्तु समझना, किन्तु जब बोलें तो टिद्धिरस्तु निकले। तो भीतर में जो आशय था वह प्रकट ही नहीं कर पाता है और भीतर में सब जान रहा है। ऐसे ही ज्ञानी अन्तःसावधान है, प्रवृत्ति भले ही अन्य हो। तत्वज्ञानी के कर्म विपाक भी आ जाय फिर भी उस ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है।

ज्ञानी पुरुषके परारम्भकी सीमा—ज्ञानी पुरुष प्रत्याक्रमणरूप में किसी पर कुछ विपत्ति भी डाले तो विनाशकारी विपत्ति नहीं डाल सकता। भले ही थोड़ी बहुत बातें अपने न्याय को सिद्ध रखनेके लिए करनी पड़े पर किसीका विनाश कर सके ऐसी विपत्ति का यत्न ज्ञानी पुरुषको नहीं हो सकता। जबकि अज्ञानी पुरुष आपका भला चाहता हुआ भी ऐसी बात कर सकता है कि उसकी ही करनी से आपका विनाश सम्भव हो ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है और अज्ञानीके अज्ञानमय ही भाव होता है। यह ज्ञानी पुरुष स्व और परमें भेदका विज्ञान किए हुए हैं। ये पर सब कुछमें नहीं हूँ। मैं वो ज्ञानमात्र हूँ। ऐसे ज्ञानके कारण ज्ञानी ज्ञानमात्र निजमें अच्छी तरहसे फिट बैठा है। व पर जो रागद्वेष है उन्हें पृथक् किए हुए हैं।

ज्ञानका ज्ञातृत्व—वास्तविक भेद विज्ञान यही है कि अपने ही आत्म प्रदेशों में जो ज्ञान और रागादिक विकारोंका पार्ट हो रहा है, उसमें रागद्वेषादिक विकारोंसे पृथक् रह कर उनसे निवृत्त होता हुआ अपने ज्ञानमात्रमें ही उन्मुख रहे ऐसा भेद विज्ञानही वास्तविक भेद विज्ञान है और जो ऐसा कर सकता है वह स्वरसे स्वभावसे अहंकारसे हटा हुआ रहता है। जो अहंकारसे परे है। वह स्वयं केवल जानता ही है, न राग करता है, न द्वेष करता है। राग भी आए तो रागको भी जानता है, द्वेष भी आए तो द्वेषको भी जानता है। जैसे कोई द्वेष कर रहा हो और यह भी जान रहा हो कि मैं गलती पर हूँ यह अनर्थ है, व्यर्थ है, द्वेष करना बुरा है ऐसा ज्ञान जब आ रहा है तो वह द्वेषसे निवृत्त हो रहा है, वह द्वेषही नहीं करता है द्वेषका उदय कर्मोदयसे हो रहा है मगर वह ज्ञानी उनसे

निवृत्त है। ज्ञानी केवल जानता ही है, वह न केवल राग करता है और न द्वेष करता है। तब ज्ञानमय भाव होनेसे ये ज्ञानी पर जो रागद्वेष भाव हैं उन रागादिक भावोंको अपना स्वरूप न बनाता हुआ, न मानता हुआ कर्मोंको नहीं करता है। अर्थात् रागादिक विकारोंको नहीं करता है अथवा द्रव्यकर्मोंसे लिप्त नहीं होता।

ज्ञानीके मूलज्ञानका प्रताप—भैया ज्ञानी पुरुषका ऐसा ज्ञान है कि जो मौलिक वस्तुस्वरूपको छूता ज्ञान निकट कालमें अनन्त ज्ञानादिक अनन्त चतुष्टयरूप काय समयसारका उत्पादक होगा। बहुत बड़ी रसोईका काम निपटा देने वाला आगका मूल एक चिंगारी है वह चिंगारी सारी रसोई बनानेका मूल बन गई है अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त शक्ति रूप, अनन्त चतुष्टयको उत्पन्न करने वाला यही मौलिक ज्ञान है, यही स्वसम्बेदन ज्ञान है। उस कार्य समयसारको उत्पन्न करने वाला होनेसे इस भेद विज्ञानसे परिणत जीव ज्ञानी कहलाता है। जो निर्विकल्प समतापरिणामका उत्सुक है, समस्त यत्नोंसे जो ज्ञानस्वभावके ग्रहण करनेमें लगा हुआ है, ऐसे ज्ञानी जीवके ज्ञानमयही भाव होता है किस प्रकार कि लो पहिले जो शुद्ध आत्माकी ख्याति प्रसिद्धि हुई है यही है शुद्धआत्मतत्व, फिर प्रतीति होती है ओह! मेरा मैं हो हूँ।

आत्माकी ख्याति और प्रतीति—ख्याति और प्रतीतिमें यह अन्तर है कि ख्यातिमें सामान्य कहलाता है पर क्षेत्रमें भी उपयोग लेनाकर उसकी ख्याति कर सकते हैं। संसारके सभी जीवोंमें हम शुद्ध चैतन्यको समझ इसीको ख्याति कहते हैं। हम परमात्माके चैतन्य स्वरूपको निरखें इसे भी ख्याति कहते हैं। किन्तु प्रतीतिका सम्बन्ध स्वयंसे है। शुद्धआत्मा की प्रतीति ख्यातिके बाद होती है। लो यह तो मैं हूँ। जैसे मैं सब जीवोंका स्वरूप जानता हूँ वही तो मैं हूँ। ऐसी प्रतीति ख्यातिकी विशेष उन्नति है। फिर प्रतीतिके बाद सम्बन्धि होती है, सम्बेदन होता है, ज्ञान होता है, और सम्बन्धि के बाद उपलब्धि होती है। पा ही लिया बस जैसे पा लेने के बाद फिर निश्चित हो जाते हैं ना कोई सौदा ठहराते हुए एक चौथाई पेशगी मिल गयी तो समझलो कि काम हो चुका। जिस आत्माको यहाँ सम्बेदन करते हैं उसकी उपलब्धि हो गई है। यह उससे ऊँचे स्टेजकी बात है, फिर सर्वोत्कृष्ट अनुभव ही है। जहाँ कोई विकल्प ही नहीं है। निर्विकल्प समता रसका जहाँ सेवन है ऐसा अनुभव होता है। इस प्रकारकी स्टेजोंसे गुजरा हुआ ज्ञानमय भाव होता है ज्ञानी पुरुष ऐसा अपने आपका स्वरूप दर्शन होनेके कारण कर्मोंको नहीं करता है उसके कर्म नहीं बंध को प्राप्त होते हैं। इस तरह ज्ञानी जीव अज्ञान भावसे दूर है, कर्मोंसे अलिप्त है। ज्ञानदृष्टिमें ही उन्मुख है, ज्ञानीके तो ज्ञानमय ही भाव होता है। और अज्ञानिके अज्ञानमय भाव होता है, इतने कथन के बाद अब यह बतलायेंगे कि क्यों ज्ञानमय भाव ज्ञानीके होता है और अज्ञानीके क्यों अज्ञानमय भाव होता है ज्ञानी जीवके ज्ञानमय ही भाव क्यों होता है अज्ञानमय मय भाव क्यों नहीं होता? और अज्ञानी जीवके समस्त भाव अज्ञानमय ही क्यों होते हैं ज्ञानमय क्यों नहीं होते? इसका उत्तर इन दो गाथाओंमें दियाजा रहा है

गाणमया भावाओ गाणमओ चैव जायदे भावो ।
 जम्हा तम्हा गाणिस्स सव्वे भावा हुणाणमया ॥ १२८ ॥
 अण्णाणमया भावा अण्णाणो चैव जायए भावो ।
 जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥ १२९ ॥

चूँकि ज्ञानमय भावसे अज्ञानमय ही भाव होते हैं इस कारण ज्ञानी जीवके समस्तभाव ज्ञानमय ही होते हैं। और अज्ञानमय भावोंसे अज्ञानमय ही भाव होते हैं इस कारण अज्ञानी जीवके अज्ञानमय ही भाव होते हैं।

ज्ञानीके ज्ञानमय भाव होनेका कारण—भैया! एक नीति है उपादानकारण सदृश कार्य भवति उपादान कारणके सदृश कार्य होता है। जैसे गेहूँसे अंकुर उत्पन्न होता है, चने के बीजसे चनेका अंकुर उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जिन जीवों को वस्तुके स्वरूपास्तित्व का दृढ़ निर्णय होने से स्वपर का विवेक जग गया है, स्व का हित और अहित, किसी पर वस्तु की परिणति से होनेकी जिसकी मान्यता नहीं रही है और परद्रव्यको उसी परद्रव्यसे परिणमा हुआ जो देखा करताहै ऐसा पुरुष अन्याय, पक्ष, हठ आदि अण्टसट्ट बातोंको नहीं बोल सकता। उनकी जितनी प्रवृत्तियाँ होंगी वे ज्ञानमय प्रवृत्तियाँ होंगी। प्रवृत्तियाँ व ज्ञानमय होती हैं न अज्ञानमय होती हैं। देहकी प्रवृत्तियाँ तो सब जड़ प्रवृत्तियाँ हैं। और जड़प्रवृत्तियों के कारणभूत कुछ राग द्वेष वृत्तियाँ भी हो जायें ज्ञानमय भाव फिर भी ज्ञानी जीवके जागृत रहता है।

अज्ञानीके अज्ञानमय भाव होनेका कारण—अज्ञानमय भावोंसे जो भाव होते हैं वे सभी अज्ञानमयताको उल्लंघन करके नहीं होते सो अज्ञानमय भाव अज्ञानीके हुआ करते हैं। जैसे कि ज्ञानमय भावों से जो भी भाव होगा वह ज्ञानमयता की उल्लंघनता नहीं इस कारण ज्ञानमय ही होता है। ज्ञानीके समस्त भाव ज्ञानमय होते हैं। वैसे ही अज्ञानीके भावोंमें अज्ञानमयता का उल्लंघन न होने से समस्त भाव अज्ञानमय होते हैं।

अज्ञानी और ज्ञानीके संगका प्रभाव—अज्ञानीमित्र होने से, मूढ़मित्र होने से बहुत-बहुत शल्य और बीच बीचमें विपत्तियाँ मिला करती हैं यद्यपि वह मित्र है, हितकी ही बात चाहताहै पर वह क्या करे? उसका उपादान तो मूढ़ है। तो हित चाहते हुए भी ऐसी बात कहो बोल जाय कि जिससे वे वचन इसका असम्मान करने वाले हो सकते हैं और ज्ञानी जीवसे बुराई भी जो जाय तो भी उसके द्वारा धोखा खतरा सम्भव नहीं है। भलेही अपनी नीतिकी सीमा में वह अपना कठोर व्यवहार रखे और अन्याय और अयोग्य वृत्ति उसके नहीं हो सकती। कोई लोग तो ऐसा ही मान बैठे हैं कि चूँकि रावण की मृत्यु रामसे हुई है सो रावण का मोक्ष हो गया। बड़े आदमीके द्वारा मर जाय यह भी बड़ा सौभाग्य है। यह तो उनकी बढ़कर बात है। लेकिन जैसे अंजनाने चाहा था कि यह पवन कुमार मुझे गालियाँ भी देवें लेकिन बोले तो कुछ, मुंह नहीं फेर रहे, बात भी नहीं बोलते हैं, दर्शन भी नहीं देते हैं, कमसे कम गालियाँ ही दे दें, बुरे वचन ही बोलें पर सामने दिखाई दे जाएँ,

यहाँ तक चाह हो गई थी। इसका मतलब यह कि ज्ञानीजीव से किसीभी रूपमें मिजनतो हो जाय। चाहे उनके द्वारा निरादर होती हुई स्थितिमें भी मिलन हो पर मिलन हो तो ज्ञानीसे। चाहे ज्ञानी के थोड़ा क्रोध भी मेरे प्रति आ जाये पर मिले तो ज्ञानी।

ज्ञानीके क्रोधमें भी अज्ञानीकी प्रसन्नतासे अधिक हितकारिता—अज्ञानीकी प्रसन्नतासे भी अधिक हितकारी ज्ञानीका क्रोध होगा। अज्ञानी जीवकी प्रसन्नता हितकारी नहीं हो सकती क्योंकि ज्ञानीजीवके अनन्तरमें ज्ञानमय भाव होता है। किसी हितके लिएही ज्ञानी जीवके कषाय उत्पन्न होती है। स्वार्थके लिए नहीं होती है। कदाचित् हो भी कषाय तो भी उसका आन्तरिक मूल शुद्ध ही होगा। उद्देश्य, लक्ष्य ज्ञानीका अशुद्ध नहीं हो सकता क्योंकि उसने आत्मस्वरूप को साक्षात्कार किया है, अनुभव किया है और स्पष्ट निर्णय हुआ है। अब उसके स्वार्थ वासनाकी बातके लिए कोई गुंजाइश नहीं रही। जैसे अज्ञानी जीव सिखाते-सिखाते भी हितकी और ज्ञानकी बात नहीं कर सकता है इसी तरह ज्ञानी पुरुषभी सिखाये-सिखायेभी मूढ़ता की बात नहीं कर सकता है। जम्बू स्वामीको उनको स्त्रियाँ दिन रात घेरे रहती थीं और उन्हें ऐसी कहानी सुनाया करती थी कि जम्बू स्वामीका चित्त घरके लोगोंमें हो जाएपर जिसके ज्ञानस्वरूपका साक्षात्कार हुआ है ऐसे पुरुषपर मोहकी बातोंका रंग नहीं चढ़ता है। हाँ प्रबल उदय आए और और ज्ञानही ज्ञानभावको छोड़कर अज्ञानभावमय हो जाय तो वह ज्ञानी रहा ही नहीं। तो ज्ञानमय भावकी आशा नहीं है।

अभेद पदार्थमें भेदविवक्षासे कथन—निश्चय रत्नत्रयमय जीव पदार्थसे अर्थात् ज्ञानी जीवसे अथवा ज्ञानमयभावसे जो भी भाव होता है वह ज्ञानमय भाव होता है इसका अर्थ क्या है कि ज्ञानमयभावके ज्ञानमय भावे ज्ञानमयही भाव होता है। तब कभी कारक एक ही बात हो गई। तो क्या सिद्ध हुआ कि जीवही भावात्मक पदार्थ है। उससे एक भावको धर्मी बनाया और एक भावको धर्म बनाया। जीव ज्ञानमय है अर्थात् ज्ञानमयभाव स्वरूप हैं। वह ज्ञानमय भावही ज्ञानी जीवका ज्ञानमय भाव होता है। वह ज्ञानमय भाव क्या है? शुद्ध आत्माकी परिणति अथवा मोक्षरूपी पर्याय होती है इस कारण स्वसम्बेदनरूप भेद विज्ञानी जीव समस्त ज्ञानभावसे ही रचा हुआ है, पर जिसके शुद्ध आत्मा की उपलब्धि नहीं है ऐसे पुरुषके मिथ्यात्व रागादिकरूप परिणाम होते हैं। ज्ञानीके सर्व भाव ज्ञानसे रचे हुए हैं।

दृष्टान्तपूर्वक ज्ञानीके अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग का दर्शन—जैसे माँ गुस्सामें आकर बच्चेको मुक्काभी मारे तो बच्चे को यों दिखाते हुए मुक्का मारती है कि उस मुक्केसे जान निकल जायगी पर बड़े वेगसे आकर पीठपर मुक्का फूल-सा नहीं तो गेंदके मानिन्द ही आ कर पड़ता है, क्योंकि उसके भीतरमें मातृत्व भाव है, मगर कुछ ऐसा कारण ही आता है कि माँ के लिये उस बच्चेको पीटना ही पड़ता है इसी प्रकार ज्ञानी जीवके ज्ञानभाव स्थित होता है कदाचित् पूर्व अवस्थामें कुछ क्रोध करने अथवा अपना गौरव रक्षित रखनेकी ऐसी कोई परिस्थिति भी आ जाय तो भी ये ऊपरी मुक्के दिखाने के समान हैं। भीतरसे ज्ञानभाव जागृत रहता है। वह शरण मानता अपनेशुद्ध

आत्मस्वभावका ही। ज्ञानी जीवका भावज्ञान से ही रचा हुआ होता है और अज्ञानीके समस्त भाव अज्ञानसे ही रचे हुए होते हैं, इसही बातको दृष्टान्त के द्वारा समर्थित करते हैं।

कणायमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा।

अयमयया भावादो जह जायते तु कडयादी ॥ १३० ॥

अण्णाणमया भावा अणाणिणों बहुबिहा वि जायंये।

णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥ १३१ ॥

ज्ञानी व अज्ञानी के उपादानानुकूल भावकी उद्भूति सदृष्टान्त—जैसे स्वर्णमय भावसे कुण्डलादिक स्वर्णमय ही भाव होते हैं और लोहामय भावसे बेड़ी आदिक लोहामय ही पर्यायें होती हैं, इसी तरह ज्ञानी जीवके ज्ञानमयभावसे समस्त भाव ज्ञानमय ही होते हैं और अज्ञानी के अज्ञानमय भावसे नाना प्रकारके अज्ञानमय भाव होते हैं। सोने की धातु से जो चीज बनेगी वह स्वर्णमयी ही बनेगी लोहामय न बनेगी और लोहे की धातु से जो चीज बनेगी वह लोहामय ही बनेगी स्वर्णमय न बन जायेगी। पुद्गल द्रव्योंमें स्वयं परिणमनका स्वभाव पड़ा हुआ है, द्रव्योंका शाश्वत परिणमन होता है। इन्हीं बातोंको समझना जैन सिद्धान्त के मर्मका मूल ज्ञान है। जैसे जिसे हिसाब लगाने की कुञ्जी याद हो जाती है, गुणाकी, भागकी गणितकी उसे फिर सब हिसाब करने आसान हो जाते हैं, लीला मात्रमें सब हिसाब करता चला जाता है। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानकी कुञ्जी यह ही है कि वस्तु शाश्वत है, परिणमन शोल है, इन दो बातोंको समझलेना यही सारे ज्ञानकी कुञ्जी है।

शास्त्रोंसे यथार्थ हितार्थ निकालनेकी कुञ्जी—प्रत्येक पदार्थ सदा रहते हैं और प्रति समय परिणमते रहते हैं। ये दोबातें समझलेना ही ज्ञानीका मूल ज्ञान है। फिर किसीभी सिद्धान्तके ग्रन्थोंको पढ़ते जाइए सबका ठीकठीक अर्थ लगा लेंगे, और जहाँ जो गलती मिलेगी वह ज्ञानमें आयगी कभी-कभी ऐसे ज्ञानकी किरण झलकेगी कि मानो कोई चीज मिली, ऐसा अनुभव होता है। वह नई बात भी जैन सिद्धान्तको ही है उनके ग्रन्थों में, पर किन्ही अजैन आचार्योंका कुछ उपदेश भी ऐसा झलका हुआ होता है कि बड़ा बोध देने वाला होता है। जिसे यह कुञ्जी याद है उसे हितकी बात सभी जगह मिल जाती है और जिसे यह कुञ्जी याद नहीं है उसे इन ग्रन्थों से भी कुछ मिलना कठिन हो जाता है।

कार्योंकी कारणानुविधायिता—पुद्गल द्रव्यस्वयं परिणाम स्वभावी हैं सो ऐसा नियम है कि कार्य जितना होता है वह कारणके अनुविधायी होता है। जैसा कारण होता है वैसे ही कार्य उपजते हैं। जैसे चने के बीच के अंकुर निकलते हैं अथवा और-और बातें। जो स्वर्णमय भाव है, पदार्थ हैं उससे स्वर्णमय ही भाव बनेगा, कहीं लोहे कड़े वगैरह नहीं बन जायेंगे और लोहे के पदार्थका लोहेकी जातिका उल्लंघन न करते हुये ही भाव बनेगा, कहीं कुण्डलआदिक न बन जायगा। अज्ञानी ही जाति अज्ञान है यह पर्यायरूप पदार्थ लिए है, जिस उपादानकी जैसी पर्याय योग्यता है उस उपादानमें वैसी बात प्रकट होती है। कितना ही उसे सुधार कर सफाईसे रखे पर वह तो न बदल जायगा वह वही

रहता है नकली मोती-जवाहिरात के गहने बेचने वाले लोग उस नकली मोती की जितनी कीमत हो उतनी ही कीमतका उसका डिब्बा उसकी सजावट रखने के लिये करते हैं। यदि ५० रुपये का मोती है या और कोई गहना है तो ५० रुपये और उसके श्रृंगारके सजावटके लिए लगा दिये जिससे कि चमक दिखे। तो उसे कितना ही सुन्दर सजाकर रखें, कितनी ही सजावट करें पर उसमें रहने वाला जो जेवर अथवा मोती है वह तो न बदल जायगा। जो जैसा रहेगा उससे वैसी ही बात प्रकट होती है।

उपादानसदृश कार्य होनेका एक दृष्टान्त—एक घरानेमें चार लड़के थे, वे सब तोतले थे एक-सी ही सुन्दर सकलके थे। और दूसरे सेठके यहाँ दो तीन लड़कियाँ थीं, तो सगाई के लिए नाई भेजा। पहिले नाई पसन्द करता था लड़का लड़की के सम्बन्ध के लिए। फिर जब नाई पर विश्वास न रहा तो घरके बड़े बाबा वगैरह पसन्द कर आते थे। और जब लड़कोंको बाबाओं की बात पसन्द न आई तो लड़के का बाप पसन्द करने जाता था। अब लड़कों को अपने बाप पर भी विश्वास न रहा तो वे स्वयं जाते हैं। तो नाई गया उन लड़कों को देखने के लिये, सेठने उन लड़कों को खूब सजाकर रखा था। कमरेमें गद्दा-गद्दी लगाकर बढ़िया चमकदार कोट-टोपी आदि पहिनाकर बैठा दिया। बापने पहिले हीसमझा दिया था कि चुप रहना। अब नाई पसन्द करने आयातो देखा कि वाह बड़े ही सुन्दर लड़के हैं, ये तो इन्द्रके जैसे रूप वाले हैं। इसी प्रकार की दसों प्रशंसा की बातें उसने बोल दी। अब उस नाई की प्रशंसा की बातें सुनकर उन लड़कोंका हृदय भर आया। और एक लड़का बोला कि ऊं अभी तो टंडन वंडन लगा ही नहीं है। भाव उसका यह था कि अगर चन्दन लगा होता तो देखते कितने अच्छे लगते हैं। तो दूसरा लड़का बोला-अरे डाडा ने क्या कहा था, अरे कहना तो यह था कि चुप रहो, बोलो नहीं। तो तीसरा लड़का बोलता है कि अबे टुप-टुप। याने ये सब अपने वायदे से भ्रष्ट हो रहे हैं। वायदा क्या था कि बिल्कुल न बोलना। तो जिसका जैसा उपादान होता है, कितनी ही शोभा श्रृंगार कराये, वे बातें फूट निकलती हैं।

दृष्टान्तमें उपादानरूप पर्याय और परिणतिरूप पर्याय—तो जैसे वे लोहा और सोना पुद्गलहैं पर उनका उपादान जैसा है वैसा वे अपनी पर्यायकी जातिका उल्लंघन नहीं कर रहे हैं। देखो लोहा और सोना वे भी तो पदार्थ हैं। जैसे जीव पदार्थहैं ऐसे ये भी तो पदार्थ हैं। इन पदार्थोंमें कभी यह अन्याय नहीं देखा गया है कि सोनेका लोहा बन जाय या लोहे का सोना बन जाय। इसी प्रकार यह भी अन्याय नहीं होता कि अज्ञानीके ज्ञानमय भाव हो जाय और ज्ञानीके अज्ञानमय भाव हो जाय। ज्ञानी और अज्ञानी द्रव्य नहीं है, द्रव्यकी पर्यायें हैं, उपादानरूप पर्यायें हैं। उससे जो भाव पैदा होगा वह परिणति रूप पर्यायहै। जैसे लोहा और सोना ये द्रव्य नहीं हैं, द्रव्यतो परमाणु परमाणु हैं, और लोहा और सोना पर्याय है पर उपादानरूप पर्याय है। और जो गहना आदिक बनते हैं वे इसकी परिणति रूप पर्याय हैं। ऐसा दृष्टान्तमें बताया जा रहा है।

दृष्टान्तमें उपादानरूप पर्याय व परिणतिरूप पर्याय—तो जिस प्रकार पुद्गल स्वयं परिणमन स्वभाव रखता है और उसमें कार्य कारणानुविधायी हुआ करता है इन दोनों बातों के

कारण सोने से सोनेका ही सामान बनता है और लोहा से लोहाका ही सामान बनता है। इस प्रकार जीव भी स्वयं परिणमन स्वरूप है, और उसमें कार्य कारणानुविधायी हुआ करता है। इन दोनों बातोंके कारण अज्ञानी जीवके चूंकि स्वयं अज्ञानमय भावहै सो अज्ञान जातिका उल्लंघन नहीं करता। उसके नाना अज्ञानमय ही भाव होंगे। और ज्ञानी जीवके चूंकि ज्ञानमय भावरूपहै सो ज्ञान जातिका उल्लंघन नहीं कर सकता। वह ज्ञानमय होगा, अज्ञानमय न होगा। जिसमें ज्ञानहै उसमें ज्ञानको बातहै और जिसमें अज्ञान है उसमें अज्ञानकी बातहै। अज्ञानी भी ज्ञानी बन जाय तो ज्ञानमय भाव होने लगे। इस प्रकार अज्ञानी जीव अज्ञानमय अपने भावकी एक भूमिका को व्याप्त करके आगामी द्रव्य कर्मके कारण रूप अज्ञान आदिक भाव है उनकी हेतुता को प्राप्त करते हैं सो अज्ञानी जीव का भाव अज्ञानमय भूमिका को ही व्यायकर रहताहै।

भूमिकाको व्यापकर होने का विवरण—भैया! अज्ञानीके जो परिणाम पैदा होता है वह परिणाम तो कार्यरूप है और उसके उपादान करण रूप जो अज्ञान भूमिहै उस अज्ञानभूमि में व्यापकरके वे परिणाम हो रहे हैं। जैसी भूमिहै वहाँ वैसी ही फसल होती है। भुसावली केले भुसावलीकी ही भूमिमें होते हैं यहाँ नहीं। काश्मीरी सेब काश्मीर की ही भूमिमें होते हैं यहाँ की भूमिमें नहीं। यहाँ के जैसे गन्ने यहाँ ही होते हैं मध्य प्रदेशमें नहीं जहाँ जैसी भूमि है वहाँ वैसी उत्पत्ति है। इस अज्ञानी जीवकी भूमि ही अज्ञानमय है। सो कुछ ग्रहण करे तो वह अज्ञानरूप ही ग्रहण करेगा।

कारणसदृश कार्य होनेका व्यक्त प्रदर्शन—जैसे कोई श्रोता हितार्थी होता है और कोई श्रोता अपनी बात दूसरोंको दिखा देने वाला भी होता है। अब उनसे जो वचन निकलेंगे, प्रश्नरूप वचन ही सही, उन वचनोंमें जुदा जुदा ढंग मिलेगा। हितार्थी श्रोता का प्रश्न एक अच्छे ढंग का मिलेगा और लोगोंको यह बतानेके लिए कि हम बड़ी देरे से चुपके-चुपके बैठे हैं, किसी ने मुझे समझ भी नहीं पाया सब श्रोताओं को कुछ समझ देने के लिये कोई प्रश्न छेड़ेगा उसके वचनोंका ढंग ही एक नये ढंगका होगा। और वक्ता सुनेगा तो हितार्थी पुरुषके प्रश्नका उत्तर वही बड़ी शान्ति से दे डालेगा। और अपना गौरव रखने की इच्छा वाले पुरुषके बचनों से वक्ताको क्षोभ हो जायगा कुछ न कुछ, कारण यह है कि वक्ताकी समझमें यह आया है कि यह कुछ ज्ञानधारी पद्धतिसे नहीं पूछ रहा है माने मात्र अपना बड़प्पन रखने की दृष्टिसे पूछ रहा है तो वक्ताके चित्तमें आया हुआ ऐसा जो क्षोभ होता है वह श्रोताके कारण नहीं होता है। वक्ताके मनमें जो विकल्प भाव होता है उससे क्षोभ होता है। अतः दोनों वक्ता व श्रोताओं में व अन्य तीसरे का जो परिणमन हुआ है उनकी बुद्धिके कारणानुरूप परिणमन हुआ है। तो यह अज्ञानी जीव अज्ञानमय भावकी भूमिका को व्यापकरके रहता है इस कारण उसका भाव द्रव्यकर्म के बंधनके निमित्तभूत बन जाता है। इस प्रकार अज्ञानभाव का विवरण करके अब उसके उत्पन्न होनेका विवरण बताने के लिये आगे एक साथ ५ गाथाएँ आयी हैं

अण्णाणस्स सदयो जं जीवाणं अतच्च उवलद्धी।
 मिच्छत्तस्स हु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥ १३२ ॥
 उदओ असंजमस्स हु जं जीवाणं हवेइ अरिवरमणं।
 जो हु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥ १३३ ॥
 तं जाण जोग उदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो।
 सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥ १३४ ॥
 एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु।
 परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥ १३५ ॥
 तं खलु जीवणिवद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया।
 तइया हु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥ १३६ ॥

विकारपरिणतियोंका उत्पत्ति सिद्धान्त—अज्ञानका उदय क्या है? जो जीवके अतत्वकी उपलब्ध होती है, जैसा स्वरूप नहीं है वैसा स्वरूप जानना सो अज्ञानका उदय है, और जो जीव आदिक तत्वोंमें अश्रद्धानपना है वह मिथ्यात्वका उदय है जो जीवके अत्याग भाव हैं अर्थात् विरक्तिके परिणामका अभाव है वह असंयमका उदय है, और जो जीवोंका मलिन उपयोग है वह कषाय का उदय है, और जो जीवोंके शुभरूप अथवा अशुभरूप जो मन, वचन, कायकी चेष्टाओंका उत्साह है चाहे वह करने योग्य हो अथवा न हो वह योग का उदय है। ये चार प्रकार के आश्रव हैं, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। इनका हेतु भूत होने पर जो कार्माण वर्गणावों में परिणत हुए ज्ञानावर्णादिक भावों से आठों प्रकार रूपपुद्गल पत्तिमता है वह पुद्गलरूपसे आये हुए जीवोंमें बाँधता है और उस समय उक्त मिथ्यात्व आदिक परिणाम भावोंका कारण जीव होता है पहिले बतलाया था कि अज्ञानी जीवके अज्ञानमय पर्यायें होती हैं। उन अज्ञान पर्यायों का यह विस्ताररूप कथन चल रहा है मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार प्रत्यय कर्म बंधके आस्रवके कारण है इनमें अज्ञान का विशिष्ट सम्बन्ध मिथ्यात्व भावसे है।

ज्ञानमय लताका प्रसार—भैया जिन जीवोंके मिथ्यात्व भाव नहीं रहता है वह वीतराग निज ज्ञायक स्वभावका सम्वेदन करता है। और ऐसा जीव जो शुद्ध आत्माकी भावना रूप परिणामों को करता है उसके समस्त परिणाम ज्ञानमय होते हैं। इन ज्ञानमय परिणामों से संसार की स्थितिका विनाश होता है। देवेन्द्र, लोकांतिक और-और बड़े-बड़े ऋद्धिधारी देवहो करके अल्प समयमें ही अथवा अन्तर्मुहूर्त में ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञानरूप ज्ञानमय भावोंको प्राप्त करता है; अर्थात् देव हो जाने पर अवधिज्ञान दो घड़ी में अवश्य हो जाता है और यदि पूर्वपर्यायका अवधिज्ञान साथ हो गया हो तो अपर्याप्त में भी अवधिज्ञान होता है। खैर सम्यग्दृष्टि जीव देव बनता है तो वहाँ ही सम्यक् मतिज्ञान, सम्यक् श्रुतज्ञान और सम्यक् अवधिज्ञान की प्राप्ति को पाता है। फिर इसके बाद परिवार आदि की विभूति को जीर्णतृण की तरह गिनता हुआ महाविदेह में

जाकर क्या देखता है जीवित अवस्था में ही तीर्थकर आदिक समवशरणमें जाकर क्या देखता है कि यह वही समवशरण है, ये वही वीतराग सर्वज्ञ देव हैं ये रत्नत्रय आदिकी भावना में परिणत गणधर आदिक देव हैं। जो मनुष्य जन्ममें सुना करते थे वे आज प्रत्यक्ष दिख रहे हैं ऐसा मानकर उनके और विशिष्ट धर्मवृद्धि होती है।

ज्ञानीके परिणमनोंका एक साधारण पूर्वापर विवेचन—यह एक अल्प कथानक यहाँ से शुरू किया गया है, जैसे कोई मनुष्य अज्ञानमय भावको छोड़कर ज्ञानमय भावमें आता है, सम्यग्दृष्टि होता है तो सब तत्वोंका यथार्थ श्रद्धान और ज्ञान करता है। और अपने अनुकूल साधना भी करता है। वहाँ से च्युत होकर मरण करके स्वर्ग में जाकर देव होता है तो दो घड़ी में ही अवधिज्ञान सम्पन्न हो जाता है। फिर कुछ समय बाद वहाँ की समस्त विभूति को जीर्ण तृण जानकर वहाँसे चलकर महाविदेह में पहुँचता है वहाँ जिनेन्द्र देव के दर्शनकर विशिष्ट धर्मपद्धति बनाता है अहो! जिन बातोंको पूर्व मनुष्यभवमें सुना करते थे वे ही गणधर आज सब प्रत्यक्ष हो रहे हैं। सो वे देवादिक चतुर्थ गुणस्थानके योग्य शुद्ध आत्माकी भावनाको न छोड़कर निरन्तर धर्म ध्यान से ही उस देवलोक में अपना काल व्यतीत करते हैं, पीछे वहाँ से च्युत होकर वे देव मनुष्य होते हैं। कोई राजा कोई महाराजा, कोई मंडलीक राजा, कोई बलभद्र, कोई कामदेव, कोई चक्रवर्ती, कोई तीर्थकर आदि उत्कृष्ट पदको प्राप्त करते हैं, और ऐसे पद प्राप्तकर भी वे मोहको नहीं प्राप्त होते हैं। यह सब ज्ञानकी महिमा कही जा रही है।

ज्ञानीके चरमभवको परिणमनोंका एक साधारण विवेचन—पूर्वभव में जिस शुद्ध आत्मस्वरूपकी भावना की थी उसको वे अब चरमभवमें पा रहे हैं। कोई छोटी ही अवस्थामें, कोई जवान अवस्थामें जिन दीक्षा को ग्रहण करके बड़ी ऋद्धिकारी अवस्थाको अथवा मनःपर्यय ज्ञानकी अवस्थाकी साधुपद में रहते हुए प्राप्त करते हैं। उसके बाद फिर पुण्य, पाप सब प्रकारके परिणामोंका त्यागरूप सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र के अभेद रूप जहाँ परिणमन होता है ऐसा एकत्व वितर्क अविचार शुक्ल ध्यानके उपयोगमें आत्मीय आनन्दरसमें तृप्त होकर परम अचिन्त्य महिमा वाले केवल ज्ञानकी पर्याय प्राप्त होते हैं। देखो ज्ञानी जीव प्रारम्भ में ज्ञानमय अवस्थामें परिणमकर उसी ज्ञानअवस्थाकी दृष्टि करता हुआ अंतमें परिपूर्ण ज्ञानपर्यायको प्राप्त होता है। तब तो ज्ञानकी ज्ञानमय पर्याय होती है और उसी की वृद्धि चलती रहती है, यह बताया गया है।

अज्ञानीके आस्रव भाव—अज्ञानी जीवके मिथ्यात्व अविरति अज्ञानमय आत्माकी रति होनेसे वह नर नारकादिक और तिर्यच आदिक पर्यायोंको प्राप्त करता रहता है, यह अज्ञान के बिस्तारकी बात कही जा रही है। अज्ञानमें दो बातोंका विवरण होता है—अज्ञान और मिथ्यात्व। अज्ञान वह कहलाता है जहाँ अतत्त्वकी उपलब्धिके रूपसे ज्ञानमें कुछ स्वाद आ रहा हो, श्रद्धानसे अत्यन्त दूर रहकर अतत्त्वका ज्ञान कर करके जो वर्तमान मौज लिया जा रहा हो वह सब अज्ञानका उदय है। और इसी प्रकार मिथ्यात्व असंयम कषाय और योग के उदयभी के कर्मके कारणरूप भाव हैं। चे चारों परिणाम हैं इन चारों का स्वरूप कह रहे हैं।

विकारोंके स्वाद—चूंकि यह आत्मा असाधारण ज्ञानरूप है जो भी यह अनुभव करता है। जब विपरीत अनुभवन करता है तब उसे अज्ञान परिणमन कहते हैं और जब वस्तुके स्वरूपके अविरुद्ध परिणमन करता है तब उसे ज्ञानका उदय कहते हैं। तत्वके अश्रद्धानरूपसे जो ज्ञानमें स्वदमान भाव है, स्वादमें आता हुआ परिणाम है वह मिथ्यात्वका उदय है और अविरमणरूपसे विकारका त्याग नहीं कर सकता, वस्तुओंका राग नहीं छोड़ सकता, ऐसे अविरमणरूपसे जो ज्ञानमें स्वदमानभाव है वह असंयम का उदय है और मलिन उपयोगसे जो ज्ञानमें स्वदमानभाव है वह कषायका उदय है और शुभ प्रवृत्ति, अशुभ प्रवृत्ति अथवा किसीसे हटनेरूप व्यापार रूपसे जो ज्ञानमें स्वादमान भाव है वह योग का उदय है सो ये चारों पौद्गलिक मिथ्यात्व आदिके उदयके निमित्त होने पर होते हैं और तब जो पुद्गलद्रव्यकार्मण वर्णणामें आसृत हैं वे ज्ञानावर्णादिकरूपसे स्वयमेव परिणत होते हैं। उन कार्मणवर्णणों का जब विपाक बनता है उस समय जीव स्वयंही अज्ञानसे अपने अतत्त्व श्रद्धान आदिक परिणामोंका आधार होता है। ये सब परिणमन जो कि कर्मोंके, अस्त्रुवके निमित्त भूत हैं वे अज्ञानमय परिणमन हैं।

ज्ञानमय भावके आस्रहेतुत्ताका अभाव—ज्ञानमयभाव आस्रवका कभी कारण नहीं हो सकते हैं। जैसे तो सूक्ष्म दृष्टिसे विचारे तो कोई भी जीव हो किसीके ज्ञानके कारण कर्मबंध नहीं होता। उस भूमिकामें जो रागद्वेष मोहके परिणाम लगे होते हैं उनके कारण कर्म बंध होते हैं। फिर ज्ञानी जीवके तो उस ज्ञानका शुद्ध विकास होता है। उसके ज्ञानपरिणाम से आस्रव नहीं हुआ करता है जब कर्मोदय होता है, मिथ्यात्वआदिक भाव बनते हैं तब जीवके कर्मबंध होता है। मिथ्यात्वके उदयमें, जीवके विपरीत भावमें अशुद्ध भावका उपादेय रूपसे श्रद्धान होता है और मिथ्यात्व नहीं हो तब ज्ञानी जीवको शुद्धआत्मतत्व ही उपादेय है, इस रूपसे श्रद्धान होता है।

सम्यक् उद्देश्य बिना सिद्धिका अभाव—यथार्थ उद्देश्य बनाये बिना यथार्थ सिद्धि नहीं होती है। जैसे नाव खेने वाला तो नावको खेता जाता है पर नाव किस दिशामें जाना चाहिए यह नाव खेने वाले के आधीन नहीं है छोटी नावकी बात नहीं कह रहे हैं। बड़ी नावमें जो पीछे बैठा हुआ होता है, जिसे कर्णधार कहते हैं, जो सूप जैसा पानीमें डुबोये रहता है उसको जैसे मोड़ा उस दिशामें नाव चली जाती है खेने वालेका काम किस दिशा में ले जाना है यह नहीं है। उसको तो आगे बढ़ाना यही काम है, किन्तु कर्णधार जो करियाको सम्हाले है उसको जैसा वह घुमाये उस ओर नाव चली जाती है। रेलका इन्जन जाता है उसको किस दिशा में ले जायें यह चलाने वालेका काम नहीं। चलाने वाला तो सिर्फ स्पीडको आगे बढ़ाता जाता है, वहाँ तो पैट मैन है, जो लाइन बदलता है, जिस ओर को लाइन बदलता है उस ओरको इन्जन चलाने वाला ड्राइवर चाहेकि हम लाइन बदल दें तो वह नहीं बदल सकता है। चारित्रका काम चलाना है आगे बढ़ना है, रमना है पर किस ओर रमाये, किस दिशामें ले जाय यह कला इस श्रद्धा गुणमें ही श्रद्धागुणका विपरीत परिणमन होगा तो प्रभुस्वरूप शुद्ध आत्मत्वको उपादेय न मानकर अन्य-अन्य भावोंको, विषय भावोंको, कषायोंको

उपादेय मानता है। यह है मिथ्यात्वका उदय।

असंयमकी परिस्थिति—असंयमके उदयमें क्या हुआ करता है कि जीवोंको आत्मीय सुखका सम्बेदन तो है नहीं, तो ऐसी स्थिति में विषय कषायोंसे वह मुख नहीं मोड़ सकता। विषय कषायों में भी तो कुछ मौज मानी जाती है। उससे बढ़कर सुखकी बात मिले तो विषय कषाय छोड़ दिए जायें। पर उससे बढ़कर कोई सुखकी बात तो मिलती नहीं है फिर कैसे छोड़ा जाय। सो यह असंयमी जीव विषय कषायोंसे हट नहीं सकता। यही है असंयम का उदय अज्ञानके उदयमें यह जीव भेद विज्ञानको छोड़कर परद्रव्योंमें एकत्वरूपसे उपलब्ध करता है। जो पर मैं हूँ इस प्रकार का ज्ञान करता है। ज्ञान और श्रद्धानमें ऐसा परस्पर सहयोग है कि यह लगा करता है कि ज्ञानने भी यही किया और श्रद्धानने भी यही किया। अन्तर क्या आया? किन्तु है अन्तर। श्रद्धानका सम्बन्ध आशयसे है और ज्ञानका सम्बन्ध जानने से है। विपरीत आशय न रहे उसे कहते हैं सम्यक्त्व। और जानन का नाम है ज्ञान निरास्रव निज तत्वकी उपलब्धि हो उसे ज्ञान बताया है। इसका स्वर्श या इसकी स्थिरता असंयममें नहीं होती है।

कषाय और योगी परिस्थिति—कषायके उदयमें क्या होता है कि शुद्ध आत्माकी जहाँ प्राप्ति होती है ऐसे शुद्धोपयोग को छोड़कर विषय कषायरूप इनका परिणाम होता है। यह है कषायका उदय। कषायके उदयमें कलषोपयोग होता है। शुद्धोपयोग नहीं हो सकता योग के उदयमें क्या होता है? यत्नका उत्साह है। ऐसे प्रदेश परस्पर्शका इसमें उत्कर्ष होता है। कि जो कर्मोंके आश्रव करानेका कारण है। योग कर्मके उदय और वीर्य-अंतरायके क्षयोपक्षमसे उत्पन्न होता है। मन, वचन, कायकी वर्गणावोंके आधारसे उत्पन्न होता है। यद्यपि योग आत्माका ही परिणमन है, आत्माके योगका परस्पर्श हुआ किन्तु योगका या आत्मप्रदेशका और इन मन, वचन, कायको वर्गणाओंका परस्पर ऐसा क्षेत्रावगाह और निमित्त नैमित्तिक भाव है कि मन, वचन, कायके परस्पर्श के आधारसे आत्माके प्रदेशोंमें परस्पर्श होता है। और उस प्रदेश परस्पर्श में एक जो उत्साह है, नवीनकरण है, होता है, यह सब योगका उदय है। सो जब यह उदयमें आते हैं मिथ्यात्व आदिक सो नवीन पुद्गल द्रव्य ज्ञानावणादिक रूपसे परिणमता है।

रागादिकमें कर्मबंधका मूल निमित्तत्व—जीवके जो कर्म बंध होता है वह एक समयमें अधिकसे अधिक ८ प्रकारके कर्मोंका हो सकता है, किन्तु जिस समय आयु बंधका समय न हो ८ अपकर्षोंका समय न हो उस समय जीवके अधिक से अधिक ७ कर्मोंका बंध होता है। ये जो नाना कर्म रूप परिणमन होते हैं। इनका निमित्त कारण मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग है। ये पुद्गल द्रव्य योगवश आश्रवरूप होते हैं। व कषायवश जीवप्रदेशों में बद्ध होते हैं। वहाँ उदयमें आए हुए इन कर्मोंके उनके अस्रवमें निमित्तपने का आस्रवभाव होता है। यहाँ साधारणतया सिद्धान्त यह स्थापित किया गया है कि उदयमें आये हुए द्रव्य कर्मोंके निमित्त से मिथ्यात्व रागादिक भाव कर्मरूपसे परिणम कर यह जीव नवीनकर्म बंधका कारण होता है।

रागादिकमें कर्मबन्धके मूलनिमित्तत्वका विवरण—द्रव्यकर्म उदयमें आये तो जीव अपने स्वभावको छोड़कर रागादिक कर्मोंके रूपसे याने भाव प्रत्यय रूपसे परिणमता है तो बंध होता है। कर्मों के उदय मात्रसे बंध नहीं होता। यदि उदय मात्रसे बंध होने लगे तो सदा ही संसार रहे, क्योंकि संसारी जीवके सदा ही कर्मोंका उदय विद्यमान है, तो संसार ही बना रहे। कर्मोदय होने पर भी जीवके रागादिक भाव हों तो नवीन कर्मोंका बंध होता है, तो यहाँ यह शंका हो सकती है। तो फिर हम लोग भले ही द्रव्यकर्मके उदय आयें, भावकर्म न करें, राग न करें अपने स्वभाव भाव को न छोड़े तो कर्म बंध न होगा, सो ठीक है ऐसा कर सके तो अच्छा है पर नहीं किया जा सकता है। ऊंचे गुणास्थानमें यह बात होती है कि द्रव्यकर्म उदयगत है फिर भी भावोंमें राग नहीं होता है। जो उदयगत कर्म है वे भी ऐसे क्षीण अनुभाग वाले हैं जिसके उदय होने पर राग भाव नहीं होता है। अथवा उदय का समय केवल एक समय है और उस-उस जाति की वर्गणानों का निरन्तर उदयचला करे ऐसा है एक उदयावली, याने असंख्यात समय। सो उदयावलीमें कोई क्रम आए हों और उदयके क्षणके एक समय पहिले यह संक्रमणको प्राप्त हो जाय याने बदल जाय तो कर्मद्रव्य तो वही रहा, किन्तु उदय में न आया कहलाया। सो फल न दे सके ऐसी भी स्थिति होती है। कर्मोदय आए और यह जीव रागादिक भाव करें तो नवीन कर्मोंका आश्रव और बंध होता है। इसका यह भी अर्थ है कि नवीन कर्मके बंधका निमित्त वर्तमान उदयागतकर्म है, किन्तु उसमें निमित्तपना होनेका निमित्त है रागादिक भाव। सो यह अर्थ हुआ है कि उदयमात्र से बन्ध नहीं हुआ, किन्तु रागादिक भावका निमित्त पाकर ही उदयागत कर्म नवीन कर्मबंधका निमित्त होता है। इस प्रकार इस प्रकरणमें अज्ञानभावको जीवके बंधका कारण कहा है।

नैमित्तिकता, भिन्नता व स्वतंत्रता—जो जीव मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम, कषाय और योग भाव के रूपसे परिणत होकर शुद्ध आत्माके स्वरूपसे च्युत होते हैं उन जीवोंके ये परिणाम नवीन कर्मबंधके कारण होते हैं। इस प्रकार पुद्गलका परिणमन बताकर अब यह बतायेंगे कि इसमें यद्यपि जीवके विकार पुद्गल निकार के निमित्त हैं और पुद्गलके विकारके निमित्त है, और इनमें अविनाभावी सम्बन्ध भी पाया गया है। एक साथ ये विकृत भी होते हैं, इतने पर भी जीवका परिणाम पुद्गल द्रव्यसे पृथग्भूत है और पुद्गल का परिणमन जीवके परिणमन से अलग है। इन दोनों बातों में से प्रथम जीवके परिणामों को पुद्गल द्रव्यसे अलग बता रहे हैं। इस विषयकी दो गाथायें एक साथ आ रही हैं। पदार्थों के निज-निज स्वरूपास्तित्वके दर्शनसे मोक्ष मार्ग का प्रारम्भ होता है अथवा मोहके विनाशसे मोक्षका प्रारम्भ होता है। मोहका विनाश वस्तुके स्वरूपके उनके स्वरूपास्तित्वके दर्शनसे होता है। यद्यपि जीव और पुद्गलमें उनके विकार परिणमन में परस्पर निमित्तनैमित्तक सम्बन्ध है फिर भी उनका परिणमन एक दूसरे से पृथक्-पृथक् ही है इस प्रसंग में यह बतलाया जा रहा है कि जीवका परिणाम पुद्गल द्रव्यसे पृथक् भूत ही है।

जीवस्सदु कम्मेणय सह परिणाया हंवत्ति रात्रादी ।
 एवं जीवो कम्भं च दोवि रागादिमावण्णा ॥ १३७ ॥
 एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं ।
 ता कम्मोदय हेदूहिं विणा जीवस्स परिणायो ॥ १३८ ॥

निमित्त और नैमित्तिकभावकी भिन्नता—जीनके रागादिक परिणाम निश्चय से कर्मोंके साथ होते हैं ऐसा मानलेने पर जीव और कर्म दोनोंही रागादिकपनेको प्राप्त हो जाने चाहिएं, किन्तु ऐसा नहीं है। रागी केवल जीव ही होता है। तब यह सिद्ध हुआ कि कर्मोदयरूप हेतु के बिना अर्थात् कर्मोदय को उपादानरूप से लिए बिना जीवका परिणमन होता है। यद्यपि जीवके विकारमें निमित्तभूत उदयागत, पुद्गल कर्म हेतु हैं लेकिन निमित्तभूत पदार्थ निमित्त में ही रहते हैं, उससे बाहर उसकी द्रव्य, गुण,पर्यायें नहीं होती। कैसा विलक्षण सम्बन्ध है कि निमित्त बिना विकार होता नहीं और निमित्तका कुछभी ग्रहण यह उपादान करता नहीं है। ऐसा कुछ अवक्तव्य या विशेष वर्णन न किया जा सकने योग्य सम्बन्ध है कि सम्बन्ध होते हुए भी सम्बन्ध नहीं है। जीव रागादिक अज्ञानरूप परिणमता है तो वह पुद्गल कर्मके साथ ही रागादिक अज्ञानरूप परिणमा हो तो जैसे चूना और हल्दी को एक साथ मिला देने पर दोनों ही लाल हो जाते हैं इसी प्रकार जीव और पुद्गल कर्म दोनोंमें ही रागादिक अज्ञान परिणाम उत्पन्न हो जाये, नैमित्तिकता होने पर भी उपादान दृष्टिसे दोनों का परस्परमें अत्यन्तभाव है उसका परस्पर में कुछ लेन देन नहीं है। यदि

पेज नं० ७२ से आगे पेज नं० ८० तक का मैटर
 खो जाने के कारण पेज नं० ८१ से पढ़िये।

यह समयसार ग्रन्थ है। समयका अर्थ है आत्मा। उस आत्मामें जो सारतत्व है, जो शरणतत्व है उसका नाम है समयसार। संसारके संकटोंसे छूटना हो तो बड़े ध्यानसे सुनिए इस समयसारकी बातें।

मोहकी प्रकृति—इस लोकमें कोई भी अन्य पदार्थ इस जीवका शरण नहीं है। बहुतोंको तो अनुभव भी हो गया होगा। जिनको अपना बहुत बड़ा हितू समझते थे वे ही विपत्तियोंमें काम न आ सके। समभा तो सब है, पर जैसे मिर्च खानेकी आदत वाले लोग सी-सी भी करते जाते हैं, आँसू भी बहाते जाते हैं और यह भी कहते जाते हैं कि और दे दो लाल मिर्च, लाल मिर्चकी आसक्ति रहती है। इसी तरह इस मोहके संकटोंको खूब समझ भी चुके हैं, दुःख भी भोग रहे हैं फिर भी उस मोहमें ही घुसे जा रहे हैं। संसारके किसी भी पदार्थसे आपको हित और सुख नहीं मिलेगा। वह हित कहाँ है? उसका प्रतिपादन इस समयसार ग्रन्थमें है। यह पुण्य, पाप नामका अधिकार है। इस तरह वर्णन किया जायगा पुण्यका और पापका। पाप कहते हैं छोटे परिणामको। और उस विषय कषायों की तीव्रताके परिणामसे जो कर्म बंधता है वह कहलाता है पाप कर्म। इस लोकमें सर्वत्र ऐसे सूक्ष्म स्कंध पड़े हुए हैं जोक आँखों नहीं दिखते और परजीवोंके साथ लगे हुए हैं। जब

भी यह जीव स्वभाव से च्युत होकर अच्छी या बुरी कल्पनाओंसे लगता है तब ही ये कार्माण स्कंध कर्म बन जाते हैं और जीवके साथ बंध जाते हैं।

कर्माका विशाल प्रसार—कर्माके बारेमें प्रायः सब हैरान है, जाननेकी उत्सुकतामें हैरान हैं कि कर्म क्या चीज है? यों तो मुँहसे कुछ भी कह दिया जाय कि तकदीरका नाम कर्म है या ब्रह्माने जो कुछ लिख दिया उसका नाम कर्म है या मनुष्य जो कुछ करता है उसका नाम कर्म, पर वे कर्म क्या है कि जो वास्तवमें अपना कुछ सत्व रखते हैं और जिनके उदयसे आत्मामें नाना क्षोभ मच जाया करते हैं, वे कर्म क्या है? इन कर्माके सम्बन्ध में यदि लम्बी चर्चा छेड़ दी जाय तो रोज-रोज बोलकर भी चार छः महीने में समाप्त न होगी। और इतनी गहरी सूक्ष्म चर्चा है कि अनेक जीवोंको तो कर्माके सिद्धान्तके अध्ययनके निमित्तसे ज्ञानमहिमा ज्ञात होते ही सम्यग्दर्शन हो जाता है। इतना बारीक कथन एक विशिष्ट ज्ञानके बिना नहीं हो सकता। और ऐसा विशिष्ट ज्ञान सर्वज्ञदेवकी परम्परा बिना नहीं हो सकता। उस सूक्ष्म कथनको पढ़कर सर्वज्ञदेवकी श्रद्धा अकाट्य हो जाती है।

प्रयोजनके मूलसे चलकर कर्मस्वरूप जाननेकी पद्धति—खैर! अपने कामकी बात देखो। मान लो सभी मजहब वाले अपनी-अपनी गाते हैं, तो हम भी यह निर्णय करते कि हमारे सिद्धान्तमें जो लिखा है वह ठीक है। वह भी तो अपने पक्षसे लिखा हो सकता है। यदि ऐसी संगति हो तो सब छोड़ दीजिये, कुछ नहीं सोचना है। हमारे गुरुवोंने क्या कहा, इसका भी विचार नहीं करना है, किन्तु अपने कामकी बात तो देखा कि तुम्हें क्या चाहिए? आनन्द। और यह तो निरख लो कि यह आनन्द किन्हीं बाहरी चीजोंसे आया करता है मुझमें घुसा करता है क्या? परख तो लो जरा। पंचेन्द्रियके विषयभूत पदार्थों से क्या आनन्दकी किरण निकल कर मेरेमें आया करती है? देखलो।

रसना व घ्राणके विषयसे आनन्दकी अनुत्पत्तिका संकेत—भैया! कहीं भोजनसे आनन्दका फव्वारा छूटा हो और किसीने देखा हो तो बतलावो। अगर भोजनमें से आनन्द का फव्वारा छूटता है तो छाती तक खा लीजिए, गले तक खा लीजिए, मुँहमें खूब भर लीजिए और कौर भरकर, सोकर बैठ जायें, क्योंकि उसमें आनन्द भरा है। किसमें आनन्द भरा है सो बतलावो? खुशबुओंमें आनन्द भरा है तो इत्रकी सीसियाँ ले आवो और खूब नाकमें डाल दो। नाकमें खूब इत्र डाल दो और फिर डाट लगा दो कि खुशबूकी हवा बाहर न निकल सके। कर डालो ना उपाय। अरे इत्रवालोंकी दुकानपर आधा घण्टा भी नहीं बैठा जा सकता। पहिले दो चार मिनट तो भला लगेगा, अच्छी खुशबू आयगी। बादमें दिमाग परेशान हो जायेगा। इत्र बेचने वालोंको तो आदत पड़ गई है, कुछ उनको सुहावना नहीं लगता।

नेत्र, कर्ण, स्पर्शके विषयमें भी सारका अभाव—किसमें आनन्द ढूँढ़ते हो? रूपवान चीजोंमें आनन्द ढूँढ़ते हो, तो जो चित्र हैं, सनीमा है, सुन्दर रूप है तो बिना पलक गिराये आँखें फाड़कर निहारते रहो। कौन मना करता है? आँखें खराब हो जायेंगी और फिर सार किसमें है, किस रूपमें है बतलावो? सनीमाके परदापर जो चित्र आते हैं, कोई अच्छा आदमी आये तो आप जाकर

प्रेम कीजिए, हाथ मिला आवो। वहाँ कुछ मिलेगा क्या? यहाँ जिन्दा पुरुष स्त्रीके रूपको देखते हो तो खूब जरा कड़ी निगाह करके देखलो ना। इस सारे सांचेके भीतर ठोस ढांचा क्या है? कभी मुर्देकी खोपड़ी देखा हो तो पता पड़ जाय। कहाँ सार है? इसी तरह न शब्द रागमें सार है, न स्पर्शमें सार है। यदि कहीं बाहरमें सार नजर नहीं आता है तो अपनेमें दौड़धूप करो।

आनन्दके उद्गमस्थानकी खोज—हाँ, क्या चाहिए आपको? आनन्द। आनन्द ढूँढ़नेके लिए बाहरी पदार्थोंमें यदि गए तो आनन्द वहाँ नहीं मिलेगा। वहाँ बंधन हो जायगा, आपत्तियाँ ही आ जायेंगी। उन्हीं विषयोंको आप चाहते और उन्हीं विषयोंको सारा जग चाहता तो आपके हाथसे विषयसाधनोंको छुड़ानेके लिए सारा जग झपट रहा है। ऐसी आपत्तियोंमें पड़ गए, पर मिलता वहाँ कुछ नहीं है। आनन्दस्वरूप तो खुद तुम्हीं हो। अगर तुममें आनन्दकी शक्ति नहीं है तो लाखोंका समागम भी जुटा लो, पर आनन्द आयेगा कहाँ से? बालूमें तेल नहीं है तो कितना ही कोल्हूवोंमें पेल दो, तेल आयेगा कहाँसे? यदि भोजन के सम्पर्कसे आनन्द आता है तो भोजनका सम्पर्क इस चौकीसे जरा करा दो तो चौकी भी जरासा आनन्द ले ले। इस खम्भा और भीतमें भी जरासा भोजन चिपका दो तो ये भी कुछ आनन्द ले ले। तो भोजनसे आनन्द नहीं मिलता है, किन्तु आनन्दवालेसे आनन्द मिलता है। स्वमें आनन्द है तो अपने आपसे आनन्द गुण प्रकट होता है।

आनन्दका स्रोत—यह आनन्द निस्तरंग अमूर्त आत्मामें उत्पन्न होता है। बाहरी उपयोगोंसे तो आनन्द घट जाता है। वह आनन्द चाहिए ना, तो उस आनन्द वालेका स्वरूप जानो कैसा है। हमारे आनन्दको कोई दूसरा पुरुष दे नहीं सकता है। भगवान भी मेरे आनन्द को नहीं देता किन्तु भगवानके पवित्र स्वरूपका ध्यान करके हम अपनेमें बसे हुए आनन्दको व्यक्त कर लेते हैं। प्रभुस्वरूपकी बड़ी महिमा है। जो यथार्थस्वरूपमें प्रभुको पहिचान जाय तो उसका संसारसे उद्धार होना निश्चित है। वह प्रभु शरीरवाला नहीं है। कहीं हाड़, मांसको भी प्रभु कहते हैं? वह प्रभु रागद्वेष वाला नहीं है। जो स्त्री पुत्र रखा करे या शस्त्र वगैरह रखा करे, रागद्वेषके क्षोभ मचाया करें ऐसा प्रभुका स्वरूप नहीं है। प्रभु तो केवल ज्ञान ज्योतिर्मय शुद्ध विकासमय है। प्रभुके तो स्वरूप है, आकार नहीं है। यदि आकारकी निगाहसे प्रभुको देखते जायेंगे, तो प्रभुसे भेंट नहीं हो सकती। स्वरूपकी दृष्टिसे प्रभुसे मिलिए तो वह प्रभु मिलेगा और मिलते ही आलौकिक आनन्दको प्रकट करता हुआ आयगा। वह केवल ज्ञानज्योतिर्मय है, ऐसे ज्ञानस्वरूपके रूपमें प्रभुको निहारा जाय तो यह ही प्रभुका प्रतिनिधि होकर अनुभव और आनन्दको जगाता हुआ दर्शन देगा।

प्रभुस्वरूपके विस्मरणके कारण दुर्गति—इस प्रभुके स्वरूपको जाने बिना यह समस्त जीव लोक संसारके ८४ लाख योनियोंमें जन्म ले लेकर दुःखी होता फिरता है। उस आनन्द का जो स्वरूप है वह तो है धर्म और उसके अतिरिक्त जो परिणाम होते हैं चाहे दान, दयाके परिणाम हों, चाहे विषय भावोंके परिणाम हों, वे सब परतत्व कहलाते हैं। उन्हीं को ही पुण्य-पाप कहते हैं। इस अध्यायमें पुण्य और पापकी चर्चा की जायगी। इस अधिकारमें सर्वप्रथम अमृतचन्द्र जी सूरि अपने

कलशको कहते हैं। उस कलशसे पहिले उत्पानिका बनाते हैं कि कि अब वे एक ही कर्म दो पात्र बनकर पुण्य और पाप रूपसे प्रवेश करते हैं। पहिले यह तो निर्णय करो कि तुम्हें पापकर्म चाहिए या पुण्यकर्म। पापकर्मको तो सब मना कर देंगे। पापकर्म तो नहीं चाहिए। तो फिर क्या चाहिए? पुण्यकर्म। तो पुण्यकर्मकी भीख अगर मांग रहे हैं तो पहिला पाप तो यही हुआ पुण्यकी भीख मांगना। मेरा पुण्य बंध जाय ऐसी आशा रखना, इस आशा में यह जीव अपने आनन्द निधान प्रभु स्वरूपको भूलकर किन्हीं बाहरी विकल्पों में पहुँच गया।

पुण्यकर्मकी भी अनिष्टकारिता—चाह करके पुण्य कर्म मिलना बुरा है। अब रहा बिना चाहा पुण्यकर्म जो होता है। उसकी बात सुनो। बिना चाहे पुण्यकर्ममें भी कदाचित् ऐब हो सकते हैं, और किसी-किसीके ऐब नहीं भी होते। पुण्यकर्मके उदयसे क्या मिलेगा? धन, परिवार, लोक प्रतिष्ठा ये ही मिलेंगे ना। तो यहीं देखलो कि जो सम्पदामें है, परिवारमें हैं, देशमें जिनकी ख्याति है वे सुखसे सो भी सकते हैं क्या? नहीं। वे कितना निराकुल रहते हैं? यह सब किसकी करतूतका फल है? पुण्यकी करतूतका। इस प्रकरणमें इस निगाहसे नहीं देखना है कि लो पाप तो बुरा था ही पर पुण्य भी बुरा कहा जा रहा है। पाप और पुण्य इन दो के मुकाबलेमें पुण्यको पाप नहीं कहा जा रहा है किन्तु धर्म, आत्मज्ञान, मोक्षमार्गके मुकाबलेमें पाप तो खराब है ही, मगर पुण्यकर्म भी खोटा है।

भला-बुरा जाननेमें अपेक्षाका हाथ—एक बार राजाने एक ८ अंगुली पतली लकड़ी, जो जल्दी टूट सकती है सींक समझिए। सब दरबारियोंके सामने रख दिया और कहा दरबारी लोगों, मंत्री लोगों इस सींकको छोटी कर दो, मगर तोड़ना नहीं। सबकी बुद्धि चकरा गई कि इस आठ अंगुली सींकको तोड़ें भी नहीं और छोटी कर दें, यह कैसे बनेगा? सब हैरान हो गए। एक चतुर आदमी उठा, बोला महाराज हुकुम हो तो मैं इस छोटी कर दूँ। हाँ हाँ, छोटी कर दो। थोड़ा बाहर गया एक बारह अंगुलीकी सींक जल्दीसे उठा लाया और वह सींक सामने रख दिया। बोला, महाराज बतलावो यह सींक छोटी है कि बड़ी, अरे छोटी है। तो अच्छा और बुरा ये मुकाबलेमें देखे जाते हैं। किसीके १०४ डिग्रीका बुखार हो और २४ घण्टेके बादमें १०० डिग्री बुखार रह जाय तो दूसरे दिन कोई मित्र पूछने आये कि कहो अब कैसा स्वास्थ्य है तो क्या कहेंगे? अब तो बहुत अच्छा है। अरे अच्छा कहाँ है? अभी ढाई डिग्री बुखार तो है। मगर वह अच्छापन मुकाबलेसे है।

पुण्य, पाप व धर्मके पृथक् लक्षण—अपने सामने तीन चीजें रखो धर्म, पुण्य और पाप। पाप कहते हैं हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह को, ममता करने को, कुदेव कुशास्त्र, कुगुरुकी संगति उपासना करने आदि को। और पुण्य कहते हैं दान, दया, प्रभु भक्ति, परोपकार, मंद कषाय, किसी ने अपराध किया हो तो क्षमा कर देना, अभिमानमें न रहना, सरल हृदय रखना, तृष्णा न करना, इन सबको कहते हैं पुण्य, और धर्म किसे कहते हैं? आत्माका जो सहज स्वरूप है, केवल जानना, देखना, शरीरसे न्यारा, अमूर्त, आनन्दमय जो अपना स्वरूप है वही प्रभुस्वरूप है। उस

पवित्र स्वरूपकी श्रद्धा, इसकी दृष्टि, निज स्वरूपका आलम्बन इन्हें ही कहते हैं धर्म। धर्मका फल है मोक्ष। पुण्यका फल है देवगतिके जीव हो जाना, या कुछ धनी मानी मनुष्य हो जाना। और पापका फल है नरक निगोद, तिर्यञ्च, पशु, पक्षी भवमें उत्पन्न होना। अब इस आधारपर यह तो बतलावोकि धर्म, पुण्य और पाप इन तीनोंमें सर्वोत्कृष्ट चीज क्या है? उत्तर दो ना। कहा धर्म ठीक है। पाप तो सर्वोत्कृष्ट नहीं है, और न पुण्य ही है। मगर पापसे पुण्य कुछ अच्छा है ना। पर सबसे अच्छा क्या है? धर्म।

धर्मके साधनका संकेत—धर्म वहाँ प्रकट होता है जहाँ मोह, ममता नहीं है, जहाँ सर्व जीवोंको एक स्वरूपमें निरखा जाता है वहाँ धर्म होता है। धर्म यदि हो तो अनन्त कालके लिए संकट मिटें। पुण्य होने दो अपने आप, मगर चाहो मत। चाहो तो प्रभुस्वरूप को, आत्मस्वरूपको, धर्मको। भैया! धर्मकी रुचिके समय पुण्य बंधेगा ही। बँधने दो। अगर तुम पुण्यके पीछे अपनी दृष्टि लगावोगे तो पुण्य भी नहीं मिलेगा और धर्म भी नहीं मिलेगा। इसलिए धर्मकी एकमात्र दृष्टि देकर अपने धर्ममें बड़िए।

कर्मका साधारण रूप—ये पुण्य और पाप क्या चीज है कि कार्माण पुद्गल स्कंध हैं, जड़ है, मूर्तिक हैं। यही एक प्रकारका कर्मपुद्गल कभी पुण्य रूप बन जाता है और कभी पापरूप बन जाता है। जैसे नाटकोंमें कोई लड़का अभी राजाका पार्ट कर रहा था। २ मिनटके बादमें भिखारीका पार्ट करने लगा। लड़का वह एक ही है। इसी प्रकार ये कर्म कभी पुण्यका पार्ट अदा करने लगते और कभी पापका पार्ट अदा करने लगते। सब भेषोंमें कर्म वही हैं। तो यहाँ उस एक ही कर्मको २ पात्रोंके रूपमें, भेषमें लाकर प्रवेश कराते हैं।

कर्मकी सिद्धिकी एक युक्ति—संसारके प्राणियोंकी ऐसी भिन्न भिन्न परिस्थितियाँ क्यों हो गई? जैसे पूछा जाय कि जल तो जल ही है, ठंडा ही है, किन्तु वही जल कहीं अधिक गर्म है, कहीं कम गर्म है, ऐसी जलकी विभिन्न परिस्थितियाँ क्यों हो गई? क्या जलने ही अपनी ओरसे निरपेक्ष होकर अपने स्वभावसे इतना ठंडा गर्म स्पर्श बना लिया? क्या उत्तर है? जब अपने ही स्वभावसे विभिन्न ठंडा गर्मरूप नहीं बनता, उसका तो अपने आप जितना टेम्परेचर चाहिए उतना ही उसका स्वभाव है। यदि उस जलका बर्फसे सम्बन्ध हो जाय तो अधिक ठंडा हो जायगा। अग्निका सम्बन्ध हो जाय तो अधिक गर्म हो जाय और अगर किसीसे सम्बन्ध न हो तो जितनी डिग्रीमें ठंडकी डिग्रियाँ होनी चाहिए उतनी ही डिग्री में ठंड रहेगी। इसी प्रकार यह भी सोचिए कि ये जो विभिन्न स्थितियाँ हो गई, कोई कीड़ा मकोड़ा है, कोई पड़ है, कोई पशु है, कोई पक्षी है, कोई मनुष्य है, मनुष्य भी कोई भिखारी है, कोई गरीब है, कोई अमीर है, किसीके दिमाग ही नहीं है, किसीके बड़ा तेज दिमाग है, बड़ी प्रतिभा है आदिक जो विभिन्न परिस्थितियाँ हैं जीवका ये क्या अहेतुक हैं? ये विभिन्न परिणतियाँ जीवके स्वभावसे नहीं प्रकट हुईं। पदार्थोंमें अपने ही स्वभावसे जो चीज प्रकट हो सकती है वह एकरूप होगी। वह विभिन्न रूप नहीं होगी। इन विभिन्न रूपोंका कारण कुछ दूसरा होना चाहिए। वह दूसरा कारण है कर्म।

कर्मोंसे सावधानी—भैया! कर्मका निमित्त पाकर जीव विभिन्न परिस्थितियोंमें भटका करते हैं तो बतलावो उनकी कौनसी परिस्थिति लाभदायक है और कौनसी परिस्थिति हानिकारक है? यदि कीड़ा मकोड़ा हो जाये तो वह आत्माको लाभकी स्थिति है क्या? नहीं है। गरीब हो जायें तो इस आत्माकी हानिकारक स्थिति है क्या? नहीं है। तो न अमीरीसे इस आत्माको फायदा है और न गरीबीसे नुकसान है। तो अमीरी और गरीबी का कारण जो कर्म है, वह कर्म तो बराबर हुआ ना? एक समान हुए यावनमात्र कर्म है। वे जीवको हानि ही करने में निमित्त है, लोभके निमित्त नहीं हैं। पर जैसे किन्हीं दुष्टोंके ग्रुपमें फंस गये हों तो उन दुष्टोंसे निकलनेका उपाय है प्रिय वचन बोलकर और कुछ को अच्छा कहकर, कुछका दिल रखकर निकलना। इसी प्रकार हम आप दुष्ट कर्मोंके फंदेमें फंसे हैं। इनसे हम निकले कैसे? तो इन कर्मोंको भला भेद करके शुभोपयोगमें रहकर निकलनेका एक उपाय बना लें।

आनन्दका अमोघ कारण स्वभावाश्रय—भैया! इस लोकमें हिन्हीं भी विषयोंमें आनन्द नहीं है। आप घर में रहते हैं, दुकान करते हैं, संभालते हैं, सब कुछ करते हैं पर यथार्थ ज्ञानकी औषधि अपने उपयोगसे मत निकालो। उस औषधिको पीते रहिए, संकट मिट जायेंगे। क्लेश देने वाला कोई दूसरा नहीं है। क्लेश आते हैं अपने अज्ञानसे। वह अज्ञान न होने दिया जाय। यह वैभव आपके आत्माके द्वारा कमाया हुआ नहीं है। यह तो पूर्वकृत पुण्यका फल है। यह धन आपके हाथ पैरों द्वारा कमाया हुआ नहीं है। पूर्व समयमें धर्ममें रुचि की थी, उससे पुण्य बंधा हुआ था। उसके उदयका फल है। आज कदाचित् भाई भाई न्यारे हों तो उन्हें यह सोचना गलत है कि मुझे दूसरे भाई की अपेक्षा कुछ विशेष मिल जाय। उसमें भी यह दृष्टि करना बुरा है कि देखो हम तो थोड़ा ही पहिनते हैं, थोड़ा ही खाते हैं और अमुक बहुत पहिनता और खाता है। इसके इतने गहने बन गए हैं, मुझे थोड़े ही रह गए। ये सब बातें थोती हैं। अरे! हम गहने को संभालनेमें लगे कि आत्माके संभालने में लगे। आत्माके संभालनेमें लग गए तो इससे अनन्त गुण याने गुणोंके गहने सामने आयेंगे। और आत्मा को अगर न संभाला, अप्रेम, ईर्ष्या आदिका ही आदर किया तो रहा सहा पुण्य भी खत्म हो जायगा। इतना भी पुण्य न रहेगा जितना कि अभी है।

सबसे बड़ी कमाई निर्मलता—सबसे बड़ी कमाई है अपने आत्माको निर्मल बनाए रहना। एक छोटी-सी किंवदन्ती है कि एक जीवको ब्रह्मा किसी लखपतिके घर उत्पन्न करनेके लिए उसकी तकदीर बना रहे थे तो तकदीर में लिख रहे थे कि काला घोड़ा और ५ रुपये इसकी तकदीरमें रहेंगे और भेज रहे थे लखपतिके घर तो वहाँसे निकलकर एक साधु और बोला कि ब्रह्मा जी क्या कर रहे है? कहाँ तकदीर बना रहे हैं। क्या लिख रहे हो? एक काला घोड़ा और ५ रुपया। उत्पन्न कहाँ करोगे? अमुक लखपति के यहाँ। अरे तो ऐसी तकदीर लिखना है तो किसी गरीबके यहाँ पैदा कर दो। और नहीं तो लखपति की जैसी तकदीर लिखो। ब्रह्मा जी बिगड़ गए, बोले कुछ भी हो, तुम बीचमें दखल मत दो। चलो जावो सीधे रास्ते। साधुने कहा जो तकदीरमें लिखना हो लिखो, हम

तुम्हारी तकदीरको मेट देंगे। अब वह मनुष्य लखपतिके यहाँ पैदा हो गया। धीरे-धीरे सम्पत्ति मिट गई। मकान बिक गया, जयादाद बिक गई, एक झोंपड़ी रह गई। एक काला घोड़ा और ५ रुपये रह गए।

दस-पन्द्रह वर्ष के बाद साधु वहाँसे निकला और ख्याल आया कि इस नगर में अमुक लखपति के यहाँ उसे पैदा होना था। पूछते-पूछते उस झोंपड़ी में पहुँचे। उस १५ वर्षके बालकने साधुका बड़ा विनय किया। साधु बोला, बेटा जो हम कहेंगे सो करोगे? हां महाराज! जो कहोगे करेंगे। अच्छा यह घोड़ा बाजारमें बेच आवो। बेच आया। मिले कितने? १०० रुपये। अब उसके पास १०५ रुपये हो गए। साधुने कहा, इतने रुपयेके शक्कर घी इत्यादि सामान ले आवो और पूड़ियाँ बनवाकर गाँव वालोंको खिलावो और पीछे भिखारियोंको बांट दो। उसने ऐसा ही किया। सस्से जमानेके (१०५) और आजके जमानेके (१०००)। अब दूसरा दिन होनेको था तो ब्रह्मा जी को चिन्ता हुई उसकी तकदीरमें लिखा था काला घोड़ा और ५ रुपये। दूसरे दिन फिर ५ रुपये और एक काला घोड़ा भेजा। फिर उसको बेचकर पूड़ियाँ बनाकर बाँटवा दीं। इसी तरह १५ दिन तक यही करते रहे। ब्रह्मा ने सोचा कि ५ रुपये तो जहाँ चाहेसे टपका देंगे, मगर काला घोड़ा कहाँ से रोज-रोज लायें और इसे दें। तो साधुसे ब्रह्माने कहा, साधु जी, मुझे हैरान मत करो। कहा, लिखो वही तकदीर जो बापकी थी।

परिणामोंकी निर्मलता अभ्युदयका हेतु—इस कथानकसे मतलब इतना लेना कि हमारी ही करतूत खराब होगी तो खराबी सामने आयेगी और हमारी करतूत अच्छी है तो अच्छाई सामने आयेगी। परिणामोंका निर्मल रखना, और अपने तन, मन, धन, वचनको जितना हो सके उतना दूसरोंके उपकारमें लगाना यही अपनी धुनि होनी चाहिए। वाञ्छा कुछ मत करो कि मैं देव बन जाऊं। देव बनकर क्या करोगे? वहाँ मिल जायें १००, २०० देवियाँ। सो यहाँ तो एक स्त्रीसे परेशान हो जाते हैं और फिर उन १००-२०० देवियोंको कौन संभालेगा? वहाँ खाने पीनेका दुःख नहीं है। कमाना नहीं पड़ता। हजारों वर्षोंमें भूख लगती और कंठसे अमृत झर जाता है। तो यह भी बला बुरी है जो बेकार रहता है। वे देव लोग बेकार रहते हैं तो उन्हें दंद-फंद ही सूझता है। हाँ भले ही तीर्थकर देव हों तो वहाँ उनके कल्याणकोंके मनानेका मौका मिल जाता है। नहीं तो प्रायः समय दंद-फंदमें या बिना काममें ही बीतता है। क्या रखा है उस देवगतिमें? दुःख तो शरीर या धनके अच्छे बुरे होनेके कारण नहीं है। दुःखवा सम्बन्ध तो अज्ञानसे है। क्यों इतना दुःखी हो रहे हो? अरे ज्ञान औषधिको संभाल लो, सारे क्लेश मिट गए। परिवारमें जिनका संग है क्या उनके कर्म नहीं लगे हैं? फिर क्यों अपने पर ही सारा भार समझते हो? जो कुछ होता है वह स्वयमेव होता है। तो बतलावो कौनसी परिस्थिति जीवको लाभकारी है?

सांसारिक अभ्युदयकी चाहकी व्यर्थता—भैया! मत सोचो कि हम राजा बन जायें, कुबेर बन जायें। क्या धरा है राजा बननेमें? सैकड़ों चिंताएं सतायेंगी और व्यर्थकी बेवकूफी लद जायगी। जहाँ सैकड़ों आदमी दरबारमें मस्तक झुकाकर बैठेंगे वहाँ अहंकारके अंधेरेमें अपने आपको खो

बैठेंगे। क्या धरा है राजा बननेमें? हम बड़े श्रीमान् बन जायें। क्या धरा है श्रीमान्, करोड़पति आदि बननेमें? सुखसे खाना भी उनके लिए मुश्किल हो जाया करता है। चारों ओरसे देश-विदेशकी लोचाचोंथी चलती है। कौनसी ऐसी परिस्थिति है संसारमें जो जीवको लाभ करने वाली है? कुछ भी नहीं है ना। तो सब परिस्थितियों से मोह छोड़ो और उन परिस्थितियोंके कारणभूत कर्मोंसे मोह छोड़ो। सब कर्म एक समान हैं। जब मुझे कैवल्य प्राप्त करना है, शुद्ध विकासमय होना है, मुक्त होना है तो मेरे बाधक ये सारे कर्म हैं। चाहे पुण्यकर्म हो,ए चाहे पाप कर्म हो।

धर्मभावनारहितके पुण्यसे विपदायें—भैया! धर्मकी लगन रखते हुए पुण्यकर्म बंध जाय तो वह अच्छा है, मगर पुण्यकी वाञ्छा करते हुए पुण्यकर्म बंधे तो उस पुण्यकर्मसे तो आपत्ति हो आयेगी। ऐसा घी किस कामका जो इतना तेज गर्महो कि जिसके खाते ही जीभ जल जाय। ऐसा पुण्यकर्म किस कामका कि जिसके उदयमें पाई हुई सम्पदामें आसक्त होकर हम अपने आपको बरबाद कर डालें? सबका ध्यान छोड़कर, ममता छोड़कर देखो अपने ज्ञायकस्वरूपको। इस ज्ञायकस्वरूपमें सर्वत्र आनन्द ही आनन्द भरा है। क्लेशोंका तो नाम भी नहीं है। ये कर्म यद्यपि शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारके बन गए हैं पुण्यकर्म और पापकर्म। किन्तु सम्यग्ज्ञानी उन कर्मोंको एक समान मानता है। मोहकी धूल को नष्ट करते हुए यह ज्ञानरूपी अमृतका प्रवाह इसमें स्वयं उदित होता है।

पुण्य-पापके फलमें समानता विवरण—इस सबका तात्पर्य क्या है? इसे छहढालामें भी कहा है, 'पुण्यपाप फलमाहि हरख बिलखे मत भाई। यह पुद्गल पर्याय उपजि विनशे फिर थाई ॥ लाख बातकी बात यही निश्चय उर लावो। तोड़ सकल जग दंद-फंद निज आतम ध्यावो ॥' पुण्यके फलको पाकर मग्न न होना। यह बहुत कठिन विषय है। पुण्यके फलमें यदि मग्न हुए तो यह फल तो सदा रहेगा नहीं। जब इनका वियोग होगा तब तीव्र आकुलता होगी। यह जगत धोखेका स्थान है। यहाँ बड़ी सावधानीसे चलनेका काम है। पापके फलमें विशाद भी मत करो। तू तो अकेला चैतन्य स्वभाव मात्र स्वतः सिद्ध सत् है। तेरा कुछ भी नुक्सान नहीं होता। किसी भी परपदार्थकी परिणतिसे। धन ज्यादा नरहा तो क्या बिगाड़ हो गया? उस धनसे तो पापवृत्ति होना प्रायः संभव है। तेरेमें वैभवका अत्यन्ताभाव है, अपने ही ज्ञान सुधारसको देखो। अपनी ओर झुको और आनन्द प्राप्त करो। एक ही उपाय है कि समस्त जग दन्द-फंदको छोड़कर एक केवल अपने निज आत्मका ध्यान करो।

प्रभुसे भेंटका उपाय—भैया! प्रभुसे भेंट होती है तो अपने आत्माके स्वरूपके यथार्थ ज्ञानसे। आँखोंसे नहीं होती है। प्रभु आँखोंसे नहीं दिखता है। जो आँखोंसे दिखा करे वह प्रभु नहीं है। वह तो जड़ है, शरीर है। प्रभु तो ज्ञानानन्द स्वरूप है। किसीका ज्ञान और आनन्द यहाँ भी आँखों दिखा है क्या? नहीं, तो जो पूर्ण ज्ञानमय है, अनन्त आनन्दमय है ऐसा स्वरूप क्या आँखों दिख जायगा? नहीं। अपना आत्मा भी ऐसी ही शक्ति वाला है। इस कारण अपने आत्मामें बलका आधान करके

स्वयंको समझें तो प्रभुस्वरूप समझा जा सकता है। यह प्रकरण चल रहा है पुण्य-पापका। पुण्य और पाप कर्म हैं और हेय हैं यह एक ऊंची कथनी है। इसलिए यह नहीं सोचना है कि पाप तो नहीं छोड़ा जा सकता है, पर पुण्य छोड़ा जा सकता है। जब पाप पुण्य दोनों समान बताये गये तो पुण्यको छोड़ दें, पाप छोड़नेकी फिर सोचेंगे। इसके लिए यह वर्णन नहीं है। यह वर्णन इसलिए है कि पुण्यसे भी उत्कृष्ट चीज जो तुम्हारे लिए सार है, शरण है, उस उत्कृष्ट तत्वको निरखिए, और उसके समक्ष पुण्य और पाप दोनोंको हेय समझिये। इस प्रसंगमें अमृतचन्द्रजी सूरि एक कलस द्वारा कहते हैं

एकोदूरा त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमानादन्यः शूद्रः वयमयमहं स्नाति नित्यं तयैव । द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः शूद्रौ साक्षादथ च चरतो जातिभेदभ्रमेरण ॥

पुण्य-पापकी समानता बतानेको एक दृष्टान्त—एक शूद्रिके दो लड़के एक साथ उत्पन्न हुए। वह गरीब थी। बेचारीने सोचा कि इन दोनों लड़कोंका हम पालन कैसे करूंगी? मैं अपना ही पेट नहीं पाल सकती। सो उन दोनों लड़कोंको कपड़ेमें लपेटकर गाँवके बाहर एक पेड़के नीचे छोड़ आई। लड़के सुन्दर थे। एक ब्राह्मण वहाँ से निकला। उसके कोई संतान न थी। लड़के अच्छे स्वरूपके थे ही, सो उसने एक लड़का उठा लिया और अपने घर लाकर पालने लगा। और कुछ देर बाद एक शूद्रि निकली, या कोई मेहतरानी समझ लो। तो उसके भी संतान न थी। वह भी एक लड़केको उठा लाई। जो ब्राह्मणके यहाँ लड़का पल रहा है वह १०, १२-१५ वर्षका हो गया। उसको यह अभिमान है कि मैं ब्राह्मण हूँ, क्योंकि वातावरण तो ब्राह्मणका मिला ना। सो अभिमानसे वह मदिराको छूता तक नहीं। क्योंकि उत्कृष्ट कार्य वाला वह कहलाता है। तो वह मांस मदिराको छूवे भी नहीं। और जो एक लड़का मेहतरानीके यहाँ पला था उसके यह अभिमान थे कि मैं मेहतर हूँ, मैं शूद्र हूँ। मदिरा छूनेकी क्या बात, वह उस मदिरासे स्नान करे। अब बतलाइएहैं तो दोनों बालक शूद्रिके पर एकको ब्राह्मण अहंकार आया कि मैं ब्राह्मण हूँ, तो वह मदिराको छूता भी नहीं है और एकमें शूद्रत्वका अहंकार है तो वह मदिरासे रोज स्नान करता है देखिए विचित्रता कि एक माँके पेटसे एक साथ निकले हुए जुदा-जुदा भ्रम करके जुदी-जुदी वृत्तिमें लग रहे हैं।

पुण्य-पापकी समानता—इसी प्रकार पुण्यकर्म और पापकर्म निकले तो कर्मोंसे। इनका पिता एक है। कर्म जड़, अचेतन, पुद्गल। अब आत्माने, इस मोही जीवने पुण्यको अपना हितू अपना रक्षक, लाभदायक मान रखा है और पापकर्मको यह मान रखा है कि यह दुष्ट है, अरक्षक है, पर वस्तुतः देखो तो दोनों ही प्रकारके कर्म कुशील हैं, खोटे हैं। शांति न पुण्य कर्मसे मिलती है और न पापकर्मसे मिलती है। पुण्य वालोंकी स्थिति देख लो, क्या वहाँ शांति है? वे तो प्रायः हार्ट फेल होकर ही मरा करते हैं। गरीब को तो चार दिन बीमारी आए तब समझता हुआ मरता है। प्रायः यों स्थिति हो जाती है। एक धर्मकी रुचि रक्खो, धर्म है आत्माका स्वभाव। ज्ञाता द्रष्टा रहना सर्व पदार्थोंका जाननहार, देखनहार बने रहना, किसीको इष्ट न मानना, किसीको अनिष्ट न मानना, समस्त बाह्य पदार्थोंसे ममताको त्यागकर निज शुद्ध ज्ञान ज्योतिकी ओर झुकना यही है धर्म।

धर्मके लक्षणकी हितकारिता—धर्म करनेके लिए प्रभुके ध्यानसे मदद लो, सत्संगतिसे मदद लो। पर शांति मिलेगी तो एक शुद्ध निर्मल रागद्वेष रहित ध्यानसे ही मिलेगी। इस एक धर्मकी ही रुचि रखिये। इस धर्मकी रुचिके मार्गमें चलते हुए आपके जो पुण्य कर्म बनते हैं उन्हें बनने दो, पर स्वयं चाह करके पुण्य न करो। स्वयं चाहे पुण्य करो पर पुण्य करनेसे पुण्य बनता भी नहीं है। कोई यह सोचे कि भैया इस गरीब को भोजन खिला दो तो आपको पुण्यको बंध होगा। इस आशयसे, अगर खिलाया तो धन भी लुट जायगा और पुण्य बंध भी न होगा।

आशयकी मलीनतामें अभ्युदयकी आशा व्यर्थ—एक श्रावकके यहाँ साधु महाराज आहार करने गए। वह श्रावक धर्मात्मा था आहारके समय क्या आश्चर्य हुआ कि वहाँ फूलों और रत्नों की वर्षा हुई। एक पड़ोसी सेठने सोचा कि यह तो धनी होनेका बड़ा ही अच्छा रोजिगार है। एक साधुको आहार दे दिया तो दो चार रत्न मिल जायेंगे। सो उसने भी दूसरे दिन पड़गाहा और साधु महाराजको आहार कराया। अब वह आसमानकी ओर देखता जाय कि अभी रत्न गिरे कि नहीं। अभी एक फूल तक नहीं गिरा। अरे! उसके भाव तो मूलमें ही अच्छे न थे। वहाँ तो फूल और रत्नोंकी आशा तो अत्यन्त व्यर्थ थी। एक धर्मकी धुनमें रहो।

प्रभुदर्शनकी विधि—हे प्रभो! सत्य ओर हित स्वरूप तो आपका पद है। क्या अच्छा हो कि प्रभुमूर्तिके सामने मूर्तिके तो दर्शन करें और चित्त ले जावें उस पुराने जमाने में कि जैसे शान्तिनाथ प्रभुकी मूर्ति है तो शान्तिनाथके सामने में ये शान्तिनाथ इतने बड़े विशालकाय वाले शान्तमुद्रासे गम्भीर केवल ज्ञानसे परिपूर्ण ऐसे समवशरणमें विराज रहे होंगे। इस प्रकार उनका विहार चलता होगा। उस पुराने जमानेमें दृष्टि ले जावो और ऐसा चिंतन करते हुए थक जावो तो फिर प्रभुकी मुद्राको निहारने लगे, फिरबल प्राप्त करके भगवानकी ओर दृष्टि ले जावो। यह है दर्शनकी विधि। केवल स्वरूपकी ओर? उस प्रभुकी मुद्राको निरखकर बल प्राप्त करते हैं। इसीलिए स्थापना की है और वह स्थापना जिनेन्द्र कहलाते हैं।

वस्तुपरिज्ञानवधि—कोई भी वस्तु हो। ६ प्रकारसे जानी जाती है। जैसे एक घड़ी लो। तो नाम घड़ी, स्थापना, क्षेत्र घड़ी, काल घड़ी, द्रव्य घड़ी और भाव घड़ी। नाम स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन ६ प्रकारोंसे प्रत्येक वस्तु जानी जाती है। घ और डी बोल दिया। यह तो हुआ नाम घड़ी और यह पिण्ड है, यह है द्रव्य घड़ी, इतनी लम्बी-चौड़ी है, यह है क्षेत्र घड़ी, जितनी पुरानी या रूप आदिकी हुई यह है काल घड़ी और टाइम देती हो तो यह है भाव घड़ी, यों ही जिनेन्द्र ये शब्द हैं नाम जिनेन्द्र, मूर्ति जिनेन्द्र, यह है स्थापना जिनेन्द्र, द्रव्य जिनेन्द्र है, जितनेमें जिनेन्द्र विराजमान रहते हैं वह है क्षेत्र जिनेन्द्र। काल जिनेन्द्र, जहाँ जिस समय जो जिनेन्द्र हो, जैसे आप दीवालीको लड्डू चढ़ायेंगे तो यह हुआ काल जिनेन्द्र और जो साक्षात् केवल ज्ञानमय आत्मा है वह है भाव जिनेन्द्र।

भैया! स्थापनाजिनेन्द्रके समक्ष खड़े होकर भावजिनेन्द्रकी दृष्टि किया करें। धर्म को एक लगनसे पालें और उस धर्म-चर्चामें जो पुण्य बंधे सो बंधने दो। पुण्य भाव वाले पुण्य ही बंधेगा, इस पुण्यको

चाहकर न बांधो। धर्ममें लगे और पुण्य व पाप दोनोंको समान निरखो।

अब इसके आगे यह कहेंगे कि पुण्य और पाप इन दोनों कर्मोंमें से पाप कर्म कुशील है और शुभ कर्म सुशील है ऐसा लोग कहते हैं, पर ज्ञान दृष्टिसे देखो पुण्य कर्म भी कुशील होता है और पापकर्म भी कुशील होता है।

कम्ममसुहं कुशीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुशीलं।

किह तं होदि सुशीलं जं संसारं पवेसेदि ॥ १४५ ॥

पाप और पुण्य दोनोंका कुशीलपना—पापकर्म कुशील कहलाता है और पुण्यकर्म सुशील कहलाता है। पर वह पुण्य कर्म सुशील कैसा जो संसारमें प्रवेश कराता है। पापकर्मको तो सभी बुरा कहते हैं। पापके उदयमें दरिद्रता हो, आपत्तियाँ आयें, खोटी गतियाँ आयें, सो पापकर्म तो बुरा है सभी लोग जानते हैं, और लोग कहा करते हैं कि पुण्यकर्म भला है किन्तु यहाँ ज्ञानी संत यह कह रहे हैं कि वह पुण्यकर्म भी सुशील कैसा जो आत्मा को संसारमें प्रवेश कराता हो। पुण्यका उदय हुआ, सम्पदा मिली और सम्पदा मिलती है तब क्या होता है? सो प्रायः करके देखो। क्रोध भी बढ़ जाय, घमण्ड भी बढ़े, मायाचार भी बढ़ जाय, लोभ भी बढ़ जाता है। अभी ४ लाखकी सम्पदा है तो पेट नहीं भरा क्या? डेढ़ बेथाका पेट चार लाखकी सम्पदासे नहीं भरता है क्या? सोचते हैं कि मैं करोड़पति हो जाऊँ। करोड़पतियोंके यहाँ जाकर देखो क्या हाल उनका हो रहा है? सम्पदासे होता क्या है? चिंताएँ, संक्लेश बढ़ जाते हैं। संक्लेश करना, विकल्प करना, नाना चिंताएँ करना इसके फलमें क्या होगा कि पापकर्म बंधेगा फिर दुर्गतियाँ होंगी।

पुण्यकर्म सुशीलताका अभाव—भैया! सबसे अधिक पाप कौन कर सकता है जिसके पुण्यका उदय है वह या जिसके पापका उदय है वह? बतलावो जरा। जिसके पुण्यका उदय अधिक है वह ही पाप अधिक कर सकता है और वह ही पुण्य-पापसे अत्यन्त दूर होकर मोक्ष जा सकता है। स्त्रियोंमें चक्रवर्तीकी रानी छठे नरक तक जा पाती। इससे आगे नहीं जा सकती है। और वज्र वृषय नाराच संहनन जिनका शरीर वज्रकी तरह बड़ा मजबूत उनके पुण्यका उदय है वे ७वे नरकमें भी जा सकते हैं और मोक्ष में भी जा सकते हैं। दृष्टिके फिरनेकी बात है जिनके सातिसय पुण्य है उसकी चर्चा की जा रही है वह मोक्षमार्ग में शीघ्र प्रगति कर सकता है, तो उस पुण्यके फलमें क्या हुआ कि संसार और लम्बा हो गया। पुण्य कर्म सुशील कैसा, अच्छे स्वभाव वाला, हितकारी कैसा? पुण्य और पाप दोनों बराबर हैं। इस चर्चामें एक बातका ध्यान रखना नहीं तो सारी बातें आप उल्टी समझेंगे। मोक्षमें पहुँचाने वाला जो आत्माका ज्ञानरूप धर्म है उसके मुकाबलेमें पाप तो बुरा है ही, मगर पुण्य भी मोक्षका बाधक है। इस निगाहसे कहा जा रहा है कि पुण्य और पाप दोनों ही अहित हैं।

शुभ-अशुभ कर्ममें असमानता व समानताका प्रश्नोत्तर—यहाँ प्रश्नकर्ता पूछ रहा है कि हमें तो पुण्य शुभ लगता है और पाप अशुभ है, क्योंकि पुण्यकर्म बनता है जीवके शुभ परिणामके

कारण और पापकर्म बनता है जीवके अशुभ परिणामके कारण। जब उनके नामके फर्क है। तो कार्यमें भी फर्क होना चाहिए। यह प्रश्नकर्ता कह रहा है। ज्ञानी जन तो दोनोंको एक समान कह रहे हैं। एक नागनाथ और एक सांपनाथ, इनमेंसे अच्छा कौन है? नागनाथ अच्छा होगा, क्योंकि उसका नाम जरा अच्छा है। सांपनाथ अच्छा नहीं कहलाता है। अच्छी बात है। और जब डसनेकी बारी आई तो कौन अच्छा है और कौन बुरा है? दोनों बुरे हैं। नागनाथ हों तो, सांपनाथ हों तो दोनों ही बुरे हैं। और जब नागपंचमीका अवसर आता है उस समय नागनाथ अच्छा है कि सांपनाथ अच्छा है? उस समय नागनाथ अच्छा रहता है, क्योंकि वहाँ तो केवल देखनेका काम है। और डसनेके मौके पर नागनाथ और सांपनाथ दोनों बराबर हैं। इसी प्रकार पुण्य तो नागनाथ है और पाप सांपनाथ है। देखनेमें तो भलगा लगता है पुण्य। चिकना चाकना शरीर मिल गया, हृष्ट-पुष्ट सुडौल शरीर मिला, हाथ पैर सब अच्छे हैं, अच्छे कपड़े पहिने हैं, पुण्यका उदय है ना, श्रृंगार भी किये हुए हैं, और बड़े घरमें पैदा हो गई, ब्याही गई तो श्रृंगारकी फिर क्या पूछना है? सिरपर मेढक रख लिया, कानमें ततैया लटका लिया, नामपर मक्खी रख लिया, फिर तो अनोखा श्रृंगार चलता है। और फिर पुरुषोंमें पैर टेढ़े न हों सकें ऐसा अच्छा पैन्ट और नाक कटाई न याने नेकटाई जो व्यर्थकी चीजें हैं। कुछ काममें नहीं आती। प्यासे हों तो क्या पानी भर लेंगे? और भी ऐसी ही अनेक व्यर्थकी चीजें हैं याने भेष खूब बनाया करते हैं, क्योंकि पुण्यका उदय है। तो यह पुण्य नागनाथ देखनेमें सुहावना लगता है। सेठजी के पीछे दो सिपाही तो रहते ही हैं। आगे-आगे अगवानी करनेको लोग जुड़ा करते हैं। देखनेमें पुण्य नागनाथ सुहावना लग रहा है मगर डसनेके समय पुण्यकर्म भी जीवको वैसे ही डसता है। और पापकर्म भी जीवको वैसे ही डसता है। दोनोंमें एकसा ही अंधेरा रहता है। बात ऐसी है किन्तु प्रश्नकर्ता तो अपने प्रश्नकी कहेगा।

कारणभेदसे पुण्य-पापमें असमानताका प्रश्न—पुनः पूछ रहा है प्रश्नकर्ता कि शुभ कर्म और अशुभ कर्म दोनों बराबर कैसे? पुण्य तो शुभ परिणामके कारण होता है और पाप अशुभ परिणामके कारण होता है। तो कारणभेद है, इस कारणसे कार्यभेद भी है, एक बात और दूसरी बात सुनो आचार्य महाराज, कि देखो पुण्यकर्म जो बना है वह शुभ पुद्गलके परिणमनसे बना है और पापकर्म अशुभ पुद्गलके परिणमनसे बना है। तो इनके निर्माणमें भी फर्क है। एकमें पुण्य परमाणु है, एक पाप परमाणु है, फिर दोनोंको तुम बराबर कैसे कह रहे हो? यह है प्रश्नकर्ताका दूसरा प्रश्न।

स्वादभेदसे पुण्य-पापमें असमानताका प्रश्न—प्रश्नकर्ता कहता जा रहा है कि इतनी ही बात नहीं है आचार्य महाराज! तुम तो झट कह देते कि पुण्य और पाप दोनों बराबर हैं। आपने इन दोनोंका स्वाद तो किया नहीं है इसका स्वादतो हम लोग संसारी जीव जानते हैं कि पुण्य कर्ममें मजा क्या आता है। एक बार गुरु जी घुमने जा रहे थे तो एक मदिरा पायी थोड़ा बेहोश होकर सड़कके नीचे लुढ़क गया, गिर गया, फिर सम्हल गया, खड़ा हो गया, मगर फिर भी दिमाग होशमें न था। थोड़ा होशमें भी था। गुरुजीने पूछा कि तुम मदिरा क्यों पीते हो? तो वह मद्यपायी कहता

है कि अजी तुम मदिराके स्वाद और आनन्दको क्या जानो? कभी पिया हो तो मदिराका पता रहता। मदिराके स्वादका पता तो उन लोगोंको है जो पीते हैं। तो यों ही प्रश्नकर्ता कह रहा है कि आचार्यदेव! तुम क्या जानो पुण्यके मजेको। तुमने तो सब कुछ छोड़ दिया, अपने ध्यानमें रहते हो। पुण्यका मजा तो हम समझें कैसा होता है। कैसे तुमने कह दिया कि पुण्य और पाप दोनों बराबर हैं। पुण्यका फल तो शुभ है और पापका फल अशुभ है। पुण्यके फलमें इन्द्र बन गए, देव बन गये, महाराज बन गए, लखपति करोड़पति बन गये, पुण्यका फल तो बढ़िया होता है। कैसे पुण्य और पापको समान कह दिया? यह है प्रश्नकर्ता का तीसरा प्रश्न। हम तो पुण्यको अच्छा फल मानते और पापको बुरा फल मानते।

उत्तर सुननेसे पहिले दृष्टिकी सावधानी भैया! आपको उस प्रधान लक्ष्यका ख्याल है ना जो २-१ बार बताया है ध्यान करो उस शुद्ध भावको, आत्मके ज्ञाता द्रष्टा रहने के परिणामन को। जहाँ आत्मा मात्र ज्ञातादृष्टा रहता है उस परिणामनको धर्म कहते हैं और उस धर्मके समय पाप और पुण्य दोनों एक समान हैं। पाप मोक्षका बाधक है और पुण्य भी मोक्षका बाधक है। इस दृष्टिको रखते हुए यह प्रकरण सुनना चाहिए, नहीं तो कोई जबरदस्ती दूसरोंको धोखा देने वाला कह सकता है कि वाह पाप भी बुरा और पुण्य भी बुरा। तो पाप तो छोड़ना चाहिए ना? तो लो पुण्यको हम अभीसे छोड़ देते हैं। जब पुण्य भी बुरा है और पाप भी बुरा है तो हम पुण्यको अभीसे छोड़ देते हैं। पुण्यके छोड़ देनेसे भला एक बुरा तो छूटा। अब एक बुरा रह गया तो ऐसी बात नहीं है। पुण्य बुरा है, परन्तु तब छोड़नेका नम्बर उसका आता है जब पहिले पापको छोड़ दें।

पुण्य-पापकी असमानता बतानेके लिये प्रश्नकर्ताका अन्तिम प्रश्न यहाँ प्रश्नकर्ता अपनी धुनमें कहता जा रहा है कि जब अनुभव जुदा-जुदा है, पुण्य और पाप दोनोंका फल न्यारा-न्यारा है तो फिर कैसे कह दिया जाय कि पुण्य और पाप दोनों कुशील हैं। प्रश्नकर्ता अब चौथा प्रश्न कर रहा है कि पुण्य और पाप दोनों एक समान नहीं हो सकते, क्योंकि पुण्य तो जो शुभ मोक्षमार्ग है उसका आश्रय लेता है, उसमें लगता है और पाप अशुभ जो हुआ बंध मार्ग, उसका आश्रय करता है तो उस आश्रयके भेदसे ये पुण्यपाप दोनों समान नहीं कहे जा सकते। उसमें पुण्य तो शुभ है और पाप अशुभ है।

प्रथम प्रश्नका उत्तर अब इसका उत्तर देते हैं कि हे प्रश्नकर्ता! तुम्हारा पहिला प्रश्न क्या था कि पुण्यका निमित्त शुभ भाव है और पापका निमित्त अशुभ भाव है, इसलिए पुण्य और पापमें फर्क है। यहाँ उत्तर दिया जा रहा है कि चाहे जीवका शुभ परिणाम हो और चाहे जीवका अशुभ परिणाम हो, दोनों ही परिणाम अज्ञान रूप हैं। यह चर्चा बहुत गहरी है और ध्यानसे सुनो तो समझमें आयेगी। और किस्सा कहानी जैसी सरल बातें सुनोगे तो किस्सा कहानीमें ही रह जावोगे। कोई कठिन बात सरल बने, इसका भी कुछ उपाय है क्या? हाँ उपाय है क्या कि उन बातों को सुननेमें लग जावो। ५ दिनमें १० दिनमें कभी सरल बन जायगी। और कठिनको कठिन जानकर उसके

निकट ही न जायें तो भला वह सरल कब बन पायेगी और कठिन भी नहीं है। ये तो सभी तुम्हारे हृदयकी बातें हैं आत्माकी बातें हैं। निजकी पतेकी बातें हैं। ये बातें कठिन कैसे लगेंगी? कहाँ जा रहा है कि शुभ परिणाम और अशुभ परिणाम ये दोनों केवल अज्ञानरूप हैं इसलिए नामका कुछ फर्क नहीं है। अज्ञानसे ही पुण्य बनता है और अज्ञानसे ही पाप बनता है और ज्ञानसे मोक्ष होता है।

कोईसा भी परिणाम हो, शुभ परिणाम हो, गुरुवोंके प्रति अनुराग हो, दानका भाव हो, दयाका परिणाम हो तो भला बतलावो तो सही कि यह परिणाम केवल ज्ञानसे बनता है या रागके कारण बनता है? देव शास्त्र, गुरुमें आपकी भक्ति हुई तो वह सिर्फ ज्ञानके कारण भक्ति हुई या रागके कारण भक्ति हुई? रागके कारण भक्ति हुई। और राग का स्वरूप जानना देखना क्या अज्ञान रूप है। अज्ञान स्वरूप हैं। तो अज्ञानसे ही तो शुभ भाव हुए और अशुभ भाव भी अज्ञान रूप है। दोनों ही अज्ञान स्वरूप हैं। तो कारणका कोई भेद नहीं रहता। अज्ञानरूप कारणसे ही तो पुण्य कर्म बना और ज्ञानरूप कारणसे ही पापकर्म बना। इसलिए पहिला प्रश्न तुम्हारा ठीक नहीं है।

द्वितीय प्रश्नका उत्तर—दूसरे प्रश्नका उत्तर सुनो। क्या कहा था प्रश्नकर्ताने कि पुण्यकर्म तो शुभ पुद्गलसे रचा है और पापकर्म अशुभ पुद्गलसे रचा है। सो उनमें स्वभाव भेद हो गया। इस कारण पुण्य अच्छा और पाप बुरा, किन्तु विचार तो करो कि शुभ पुद्गल हो या अशुभ पुद्गल हो, हैं तो वे केवल पुद्गल स्वरूप और हमारे लिए तो सब एक समान हैं, तब भिन्नता कहाँ आयी? दोनों एकसे ही तो रचे हुए हैं। पुण्यकर्म भी पुद्गलसे रचा है और पाप कर्म भी पुद्गलसे रचा है, इस कारण स्वभावसे देखते हैं तो दोनों कर्म एकसे हैं। धोखेमें न रहो।

किसी बनियाको ब्राह्मण जिमावने थे। वह बनिया कंजूस था। सोचा कि किसी ऐसे ब्राह्मणको जिमा दें जो थोड़ा खाता हो। सोचते-सोचते दृष्टि गई कि उस बुढ़ियाके तीन लड़के हैं सो छोटे लड़केको निमंत्रण कर आऊँ। सो वह गया बोला, बुढ़िया माँ तुम्हारे छोटे लड़केको कलके लिए हमारे यहाँ निमंत्रण है। तो बुढ़िया कहती है कि बेटा चाहे छोटे लड़के को निमंत्रण कर जोवा, चाहे बड़े लड़केको कर जावो, चाहे मझिलेको निमंत्रण कर जावो, हमारे तो सभी लड़के तिसेरिया हैं तीन सेर खाते हैं। उनमें कम कोई नहीं है। इसी तरह चाहे पुण्य कर्म हो, चाहे पाप कर्म हो, ये दोनोंके दोनों पुद्गल कर्मोंसे रचे हुए हैं।

पुद्गल कर्म सब एक समान हैं। हमारे लिए तो कौनसा पुद्गल भला है और कौन सा पुद्गल बुरा है? अरे चाहे छोटेको जिमा ले, चाहे बड़ेको, उसमें यह क्या झगड़ा करना कि बड़ा तो अधिक खाता होगा और छोटा कम खाता होगा। अरे बड़े मोटे पेटमें तो कम अनाज पहुँचता है। चर्बीने भीतर-भीतर स्थान अधिक घेर लिया है। उनमें क्या छंटनी करना? जैसे वहाँ सब ब्राह्मण एक समान हैं इसी तरह ये पुण्य-पाप भी एक समान हैं। उनमें क्या देखते हो कि पुण्य भला है और पाप बुरा है। दोनों पुद्गलोंसे रचे हुए हैं।

प्रथम समाधानका निष्कर्ष व शिक्षण—इस कारण पुण्य और पापमें तुम भिन्नता मत देखो। दोनों ही कुशील हैं। दृष्टि लगावो भगवानके शुद्ध स्वरूपकी आरे, जो केवल ज्ञान ज्योतिर्मय, अनन्त आनन्दमें तन्मय है, सदाके लिए संकटोंसे मुक्त है। पूर्ण, पवित्र उत्कृष्ट स्वरूप है, उसको निरखो और अपने आपको देखो। यद्यपि यह मैं विषयकषायोंके कारण दब गया हूँ, तिरोभूत हूँ, किन्तु मेरा आन्तरिक स्वभाव और मेरी शक्ति वही है जो प्रभु परमात्मामें है। उस पदकी लालसा करो और पुण्य-पापकी छटनी कत करो। ये कर्म मात्र सब कुशील हैं।

तीसरे प्रश्नका समाधान—तीसरा प्रश्न क्या है कि चाहे पुण्यकर्म हो, चाहे पापकर्म हो, तुम भले ही समझो कि पुण्य और पाप कर्म एक हैं पर मुझे तो ये पाप न्यारे जंच रहे हैं। पुण्यकर्म का फल तो अच्छा है और पापकर्मका फल बुरा है। सो यह बात नहीं है, क्योंकि दोनों ही कर्म पुद्गलमय हैं। ये दोनों आत्माके पुद्गल स्वरूप हैं और ये अचेतन ही बरसायेंगे, जड़ता ही प्रकट करेंगे। हमारे स्वरूपकी दृष्टि ये कर्म नहीं करा सकते हैं। परमात्मस्वरूपकी दृष्टि तो ज्ञान ही करा सकता है। अज्ञानमें सामर्थ्य नहीं है कि वह परमात्मस्वरूपकी दृष्टि करा दे। तो पुण्यके अनुभव से कौनसा लाभ पा लोगे? बतलावो। पापकर्मके अनुभवसे जैसी स्थिति है वैसी ही स्थिति पुण्य कर्मके अनुभवसे है।

ज्ञान उपवनकी सुरभि—भैया! ये बातें ज्ञान उपवनमें बैठे हुए करना, छोरा छोरी के बीच धरमें बैठकर ये बातें अच्छी न लगेंगी। और शंका होगी कहाँका गाना? गाया कि पुण्य और पाप दोनों एक समान हैं। देखो यह लड़का तुतला-तुतला कर पिता-पिता, उड़-उड़का कहकर बोलता है तो दिल तो खुश हो जाता है। पुण्य कैसे बुरा है? देखो धन है तो भाई लोग, मित्र लोग, पड़ोसी लोग कैसी पूछ करते हैं। ये सब बातें घर बैठे समझ में न आयेंगी, ज्ञानके बगीचेमें पहुँचो और वहाँ बैठकर बातें सुनो, सकल्प, विकल्पोंको तोड़कर निज आत्माराममें पहुँचो और वहीं बैठकर सुनो तो यह बात समझमें आ सकती है कि जैसा हमारे हितमें बाधक पापकर्म है वैसे ही हमारे हितमें बाधक पुण्यकर्म भी है। इस प्रकार यह तीसरे प्रश्नका उत्तर दिया गया है। अब इसके बाद चौथे प्रश्नका उत्तर आयेगा।

चतुर्थ प्रश्नका समाधान—पुण्य और पाप ज्ञानीकी दृष्टिमें एक समान हैं, किन्तु अज्ञानी यहाँ प्रश्न कर रहा है कि पुण्य और पाप समान कैसे हो जायेंगे? इस सम्बन्धमें चार युक्तियाँ दी थीं जिनमें तीन युक्तियोंका तो समाधान हो चुका है। चौथी उसकी युक्ति है कि भाई पुण्य तो शुभ रूप मोक्षका कारण है और पाप अशुभरूप बंधका कारण है। तो उत्तर यह है कि पुण्य मोक्षका कारण नहीं हो सकता है, पुण्य भी बंधका कारण है और पाप भी बंधका कारण है। दोनों ही बंध मार्गका आश्रय करते हैं, इस कारण इस पुण्य और पापमें विशेषता नहीं है। तो यावन्मात्र परिणाम हैं रागादिकको लिए हुए हैं, वे सब परिणाम इसके बंधके ही कारण हैं। उसको एक दृष्टान्त द्वारा कहते हैं।

**सोवण्णगपग्घि णियलं बंधादि कालापसं च जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहम सुहं वा कदं कम्मं ॥ १४६ ॥**

पुण्यपापकी बन्धनमें समानता—जैसे लोहेकी बेड़ी परुषोंको बंधन में डालती है इसी प्रकार सोनेकी बेड़ीसे भी जीव बंधको प्राप्त होता है। किसी बड़े सेठको जेलखाना हो जाय और वहाँ जेलर तीन सेर वजनकी सोनेकी बेड़ी पहिना दे, उतने ही वजनकी लोहेकी बेड़ी दूसरा कैदी पहिने है तो उस सेठको वहाँ खुश रहना चाहिए। कि देखो हमको सोनेकी बेड़ी पहिनेको मिली, इस तरहसे वह खुश रहता है क्या? नहीं। अरे! चाहे सोनेकी बेड़ी हो या लोहेकी बेड़ी हो, दोनों ही बेड़ी बंधनके लिए एक समान हैं। बेड़ीकी बात जाने दो। अब तो जेलमें तीन क्लास हैं। जेलमें ए क्लास, बी क्लास, सी क्लास हैं। ए क्लासमें तो बड़ा मौज रहता है। नौकर भी मिलते होंगे, भोजन भी बढ़िया मिलता होगा, चारपाई वगैरह भी मिलती होगी, सिर्फ इतनी बात है कि हदसे बाहर नहीं जा सकते और बाकी तो घर जैसा मौज लो। तो वह भी बंधन ही है। इस ही प्रकार चाहे शुभकर्म हो, चाहे अशुभ कर्महो, वह जीवको बांधता ही है।

प्रभु और संसारीमें अन्तर—प्रभुमें और अपनेमें अन्तर क्या है? वह प्रभु स्वतंत्र है, आनन्दमय है, सारे विश्वका ज्ञाता है, और यहाँ हम आप छोटे-छोटे सुखोंको ललचाते हैं, जीवोंसे, कुटुम्बसे मोह बनाया करते हैं। भला बतलावो तो सही कि किस जीवके साथ कितना क्या सम्बन्ध है? पर मोहकी ऐसी विकट प्रेरणा होती है कि जिससे स्नेह है उसे वही भगवान लगता है। जिसके दिलमें जो आखिरी बसा हुआ हो उसका तो वही प्रभु है। जिसकी दृष्टिमें धन ही सब कुछ है उसका भगवान धन ही है, जिसको पुत्र ही सब कुछ है उसको पुत्र ही भगवान है और जिसको भगवान ही सब कुछ है उसके लिए भगवान, भगवान है। यह थोड़े दिनोंका ही स्वप्न है, आखिर ये सब खत्म हो जाते हैं, पर उनसे ही मोह करके अपने आपको खो बैठते हैं। सो न यह रहेगा और न धर्मकी बात रहेगी। और धर्मकी बातपर दृष्टि दें तो इससे कई गुणी सब बातें मिलती हैं। धर्म भी मिले और मोक्षमार्ग भी मिले।

धर्म की सदा आनन्दकारिता—धर्मके फलमें तो प्रारम्भसे लेकर अंत तक आनन्द ही आनन्द मिलता है। जैसे लौकिक जन कहते हैं कि चना और स्वसुरालसे सब स्थितियोंमें लाभ है। चनाको शुरूसे अंत तक जैसे चाहे खाते जावो। छोटा पेड़ हो तो भाजी लोंच खावो, तनिक हरी घेंटी हो तो घेंटी खावो, तनिक अधपकी घेंटी हो तो होरा भूनकर खावो, घेंटी खूब पक जाये तो उसकी दाल करके दाल खावो, पीस करके बेसन बना लो, लड्डू बना लो। तो जैसे चना शुरूसे अंत तक काम देता है ऐसे ही यह स्वसुराल है। सगाई हो तो कुछ सगाईमें लो, जब आये तब ले जाय, बच्चेकी शादी हो तब लो, बच्चेके बच्चेकी शादी हो तब तक पिण्ड नहीं छूटता। तो प्रारम्भसे लेकर अंत तक लेवा ही लेवी है। धर्म जबसे करो तबसे लेकर अंत तक लेवा ही लेवी है। मिलता ही है सब कुछ। जब रागावस्था है तब रागभावके कारण पुण्यबंध हुआ, सम्पदा मिली, जब वीतराग भाव आया

तब धर्म भाव के कारण अलौकिक आनन्द मिला। मोक्ष हुआ, वह भी धर्मका ही प्रसाद है। तो धर्मके फलमें प्रारम्भसे लेकर अंत तक आनन्द ही आनन्द है। धर्मसे विपरीत चलनेपर जीवमें अनेक संकट आते हैं।

प्रगतिके लिये प्रारम्भिक प्रथम बात—सबसे पहिली बात यह है कि बड़ोंका तो विनय रखें और दूसरी बात ७ व्यसनों का त्याग करें। ये दो बातें यदि होती हैं बच्चोंमें युवकोंमें तोउनको जीवनमें लाभ ही लाभ है। जो बड़ोंका विनय नहीं करते उनकी बुद्धि मारी हुई है। विपरीत बुद्धिमें जो कुछ सूझता है वह हितकारी नहीं सूझता। प्रथम तो सभी लोगोंका काम है कि सभी का विनय करें। बड़ोंका विनय बड़ोंसे ठंगसे हैं, छोटोंका विनय छोटोंके ठंगसे है, किन्तु अपना परिणाम विनम्र बनाओ। पहिली बात तो यह समझना चाहिए कि लौकिक सुखका भी मूल विनय ही है। बड़े-बड़े पुरुषोंसे भी आराम मिलें उसका है विनय। ऊंचे-ऊंचे कामोंकी भी सिद्धि कर लेवें तो उसका उपाय है विनय।

प्रगतिके लिये प्रारम्भिक द्वितीय बात—दूसरी बात है ७ व्यसनोंका त्याग करना। जुवा खेलना, मांस भक्षण, मदिरा पान, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्री सेवन, वेश्या गमन, ये सब अनर्थ रूप हैं। जुवा खेलने वालोंकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। पहिले तो तृष्णावश जुवा खेलते हैं और फिर बीचमें कभी मानवश भी जुवा खेलते हैं। जुवा में हार गए तो वह तो हार है ही, पर जीत गए तो वह भी हार है। वह जीत स्थायी नहीं है। उसके बाद निकट भविष्यमें फिर हार होगी, किन्तु जुवाका व्यसन तो आ गया ना। जुवाके फड़पर बैठे हुए जितने जुवारी हैं उनके वचनोंके कारण निवृत्ति होना कठिन है। जैसे सांपका फन भयंकर होता है ऐसे ही जुवाका फन भयंकर होता है। यदि कोई वहाँसे उठना चाहे कि हम नहीं खेलना चाहते, मिल गया जितना चाहिए था तो उठना मुश्किल हो जाता है। जितने बाकी जुवारी बैठते हैं वे बोलने लगते हैं बसी इतनी ही दम थी, निकल गए प्राण, यार बड़े खुदगर्ज हो, जीत गए सो उठ लिया। किन्ती ही बातें ऐसी बोलते हैं जिससे उस स्थान पर फिर बैठना ही पड़ता है। जैसे कोई पुरुष अपनी गृहस्थीसे विरक्त हो जाय और वह वहाँसे उठना चाहता है तो परिवरके लोग, मित्रजन, रिश्तेदार लोग ऐसी बातें कहते हैं कि वह वहाँसे उठ नहीं सकेगा। तो ऐसा है यह जुवाका स्थान।

सर्व व्यसनोंका मूल जुआ—यह जुवाका काम एक हरामका-सा काम है। जब यह हरामका काम चल उठा तब उसकी प्रवृत्ति में सदाचार नहीं रह सकता। मदिराका पीना, मांसका खाना ये दुर्गुण आ जाते हैं। और जुवा खेलने वालोंसे आप सच बोलनेकी आशा रख सकते हैं क्या? कई बार तो जुवामें ही झूठ बोलना पड़ता है। अभी तास खेलने को बैठते हो तो तनिक देरमें झगड़ा हो जाता है। वह क्या कि वहाँ भी कुछ बदमाशी तो चलती ही है! किसीका पत्ता है और किसीने उठा लिया। हम ज्यादाह जानते नहीं हैं, खेलने वाले जानें। तो उनमें तो झगड़ा होता है वह काहेसे कि झूठ बोला। और झूठ कोई बरदास्त कर नहीं सकता। चाहे वह खेलका झूठ हो, चाहे घरका झूठ हो, और चाहे दूसरों का बोला हुआ झूठ हो, बात बरदास्तके काबिल नहीं हो सकती। घरमें

कभी भाई-भाईमें पति-पत्नीमें, बाप बेटेमें जो झगड़ा होता है उसका बहुत बड़ा कारण तो झूठ बोलना है। वे कह देते हैं कि तुम्हारा नुक्सान होता है तो हो जाने दो पर सच तो बोलो। तो झूठकी आदत पड़ जाती है, फिर उन जीवोंमें फिर चोरीकी आदत पड़ जाती है। तो जब मन अच्छा नहीं रहा और मांस आदिककी वृत्ति जग गई तो फिर शिकार खेलने लगता है। फिर परस्त्री वेश्या उसके लिए न कुछ बात रह जाती है। ये जुवा खेलने वाले लोग ७ व्यसनोमें फँस जाते हैं। इनका त्याग करना शान्तिके लिये अत्यावश्यक है।

शुभ प्रवृत्तिसे जीवनमें विशेषता—भैया! यदि कोई बालक धर्मके मार्गमें लगा हो, मंदिर आए, स्वाध्याय सुने, गुरुवोंकी सेवामें रहे तो उसकी बुद्धि निर्मल रहेगी, धन कमाने की भी बुद्धि चलेगी, सद्ब्यवहारोंमें भी बुद्धि काम देगी। धर्मके प्रसंगोंसे अति दूर रहकर कितनी ही कुसंगतियाँ हो जाती हैं। धन बर्बाद होता है तो कुबुद्धि और कुसंगसे बर्बाद होता है। खर्चसे और दानसे धन नहीं मिटा करता है। धन तो कुबुद्धि और कुसंगसे ही मिटा करता है। किसीके १० लाखका धन है और वह गुजर गया, बेटा निकला कुपूत तो ३-४ सालमें ही वह साराका सारा धन खतम हो जाता है। अगर खानेमें धन खतम होता है तो उसका भी हिसाब लगा लो। अरे ५ रु० रोजका खर्च खानेमें लगा लो तो डेढ़ सौ रुपया महीना, मायने लगभग डेढ़ हजार रुपया सालसे पूरा गुजारा हो जाएगा। एक धेला भी न कमायें तब भी कई पैरी तक वह धन चले, पर दो चार वर्ष में ही वह सब धन कुसंग में ही खर्च हो जाता है। इस कारण बेटोंका भविष्य अच्छा करना हो तो उन्हें धर्मके मार्गमें लगाए रहिए। बुद्धि व्यवस्थित रहेगी, चित्त श्रेष्ठ रहेगा, उदारता रहेगी, सुखपूर्वक जीवन व्यतीत होगा।

ज्ञानस्वभावकी झलकका प्रताप—यह पुण्यकर्म सुखका कारण है, करते रहिए, ठीक है, पर ऐसा करते हुएमें जब कभी ज्ञानकी बिजली चमकेगी, आत्मामें बसे हुए अनादि अनन्त चैतन्य प्रभुके दर्शन होंगे तो ऐसे अलौकिक आनन्दका अनुभव होगा कि जिसके समक्ष इस सर्व जगतके वैभवको यह तुच्छ समझेगा। उसकी यह स्थिति हो जायगी जैसे कि एक दोहा में कहते हैं कि चक्रवर्तीकी सम्पदा इन्द्र सरीरके भोग। काक वीट सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग ॥ जिसके सम्यक्त्व जग गया है, जिसको अपने स्वरूपका ज्ञान हो गया है उसको चक्रवर्ती सम्पदा भी काकवीट सम मालूम होती है। कौवाकी वीटको कोई अच्छी निगाह से भी देखा है क्या? एक तो कौवा और फिर उसकी वीट। जैसे उसे घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं इसी प्रकार ज्ञानी जीव चक्रवर्तीकी सम्पदाको घृणाकी दृष्टिसे देखता है क्या है, जुड़ गया पुद्गलोंका ढेर। आखिर भिन्न ही तो है। उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। जितने भी सुख अथवा दुःख होते हैं। वे सब अपने ज्ञानबलसे अपनेमें ही भावना बनाकर सुख अथवा दुःख होते हैं। किसी दूसरेसे मुझे सुख अथवा दुःख नहीं होते हैं। जिस भव्यपुरुषको आत्मा के सहज स्वरूपका दर्शन हो जाता है, उस प्रभुके पावन स्वरूपका जिन्हें दर्शनहो जाता है। वे संसार संकटसे तिर जाते हैं। जिनका चित्त संकल्प-विकल्पमें उलझा है वे पुरुष संसार समुद्रमें गोते खाते रहते हैं।

अल्पपरिग्रहसे भी भयंकर परिणाम होनेका दृष्टान्त—एक साधु था, उसकी लंगोटी को चूहे काट जाया करें। सोचा मुझे रोज लंगोटी ही बनवानी पड़ती है। सो सोचा एक बिल्ली रख लें जिससे चूहे न आया करें। बिल्लीके डरके मारे चूहोंका आना बंद हो जाएगा और लंगोटी भी न कटा करेगी। सो बिल्ली पाल लिया। बिल्ली पालना तो सरल है, पर उसका पेट तो पालना चाहिए। सो उसको दूध पिलानेके लिए एक गाय रख लिया। और गायकी खुशामदके लिए एक नौकरानी रख लिया। ऐसा कुसंग हो गया कि बिल्लीके भी बच्चे पैदा हो गए, गायके भी बच्चे हो गए और उस नौकरानीके भी बच्चे हो गए। अब तो बड़ा परिवार बन गया। अब किसी कामसे जाना था एक गाँवमें, सो वे सभीके सभी संगमें चले। अब साधु काहेके? साधु बाग बगीचा तथा अन्य कुछ चीजें थोड़े ही रखते हैं पर लोग उन्हें भी साधु कह बैठते हैं। खैर, जब दूसरे गाँव गए तो रास्तेमें पड़ी नदी। सो नदीमें सभी जा रहे थे कि अचानक पानी आ गया ज्यादाह, तो सभीके सभी बहने लगे। सो सभी बच्चों सहित उस साधुसे लिपटने लगे। अब उस साधुके प्राणोंकी नौबत आ गई। तो उस साधुको ख्याल आया अरे इन सारे ददं-फंदोंका विस्तार इस लंगोटी पर ही तो हुआ। सो लंगोटीका त्याग किया, मायने सबको हटा दिया। बोला, जावो, सबको हटा दिया। सबको हटा देनेसे वह साधु पार हो गया और वे सब भी पार हो गए।

विवेकको कृण्ठित करनेका कारण परवृत्तिमें दखलका ख्याल करना—अभी कोई आदमी यहाँ घरमें मुखिया हो, या बूढ़ा हो और फिर भी अपने भाइयों, भतीजों और लड़कों के काममें दखल भी देता है और स्वयं जिम्मेदार बनकर सबको संभालनेकी धुन रखता है तो अभी देखो घरमें तो है लायक पाँच-सात बड़े आदमी, पर वह सोचता है कि मैं न इतनी जिम्मेदारी लूं तो घर का काम न चलेगा। पर बहुत कुछ यह सम्भव है कि अपनी जिम्मेदारी रखनसे और दूसरोंको मौका न देनेसे तुम भी खराब हो गए और वे ५-७ आदमी भी खराब हो गए। उनकी बुद्धि नहीं विकसित हो सकी, क्योंकि उस बड़े एक आदमीने अपना और दूसरेका विवेक कृण्ठित कर दिया और यह चिंतावोंमें पड़ा है। अरे सबको छोड़ दो और कहो तुम अपना काम स्वयं करो, हम कुछ नहीं जानते, तुम सब अपनी-अपनी बुद्धि लगावो। फिर देखो सबके किसनी सामर्थ्य हो जाती है और फिर सब कितने आनन्दसे रहते हैं?

दूसरेका भाग्य समझे बिना कर्तृत्वका अहंकार—भैया! हम सबकी जिम्मेदारी अपने पर लादते हैं, किन्तु घरमें जो आज बालक बैठे हैं, कहो उसका पुण्य बापसे भी बड़ा हो और उनके उस बड़े पुण्यके कारण आपको खुशामद करनी पड़ती है। किसका भार समझते हो? तुम तो निर्भार हो, शरीरसे भी न्यारे हो, इस चैतन्य स्वरूपको तो निरखो। यहाँ किसी भी प्रकारका कष्ट नहीं है, पर ऐसी जो अपनी अलौकिक दुनिया है वहाँ तो यह रमना नहीं चाहता, सो अध्रुवको ध्रुव माना, मिटने वाली चीजको सदा रहने वाली मान लिया तो उसका फल तो क्लेश ही है।

पहिलेसे अवश्यम्भावी श्रद्धा होनेपर वियोगमें विषादका अभाव—जब लड़कीकी शादी होती है तो वह दूसरे घर जाती है। तो उस लड़की की माँ को क्या दुःख होता है? नहीं। आप कहेंगे कि वाह दुःख तो होता है, जब जाती है लड़की तो माँ रोती है थोड़ा। अरे क्यों रोती हो, लड़की दूसरेके घर जाती है तो मत जाने दो। जिन्दगी भर रख लो अपने घरमें। माँ यही सोचती है कि इसको दूसरेके घर जाना ही है सो ले जाने दो, हम अपने घरमें नहीं रख सकती हैं। सो माँ के अन्तरङ्गमें विशाद नहीं होता है। थोड़ा बहुत जो विशाद दिखता है वह ऊपरी विशाद है। यह जान लिया कि लड़कियाँ तो दूसरोंके घर जाया ही करती हैं सो विषाद नहीं होता। इसी तरह यह जान जावो कि जो कुछ मिलता है वह सब मिटनेके लिये है तो विषाद न होगा। मिटने वाली चीजोंको मान लिया कि सदा रहेंगी इसलिए विषाद होता है। और मेरा तो नहीं है उसे मान लिया कि मेरा है, इस कारण विषाद होता है। जो वस्तुका स्वरूप है वैसा ज्ञानमें रहे तो कोई हानि नहीं रहती है।

कल्याणका मार्ग—एक सूत्रमें ही सब लिख दिया गया सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रारिण मोक्षमार्गः। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इनकी एकता ही मोक्षका मार्ग है। जैसा आत्माका स्वरूप है वैसा श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है और जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसा जानना सो सम्यग्ज्ञान है। और शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहना तो सम्यक् चारित्र है। बस यही आनन्दका मार्ग है। सुगम और स्वाधीन कल्याणमार्ग है। अपना श्रद्धान करो, अपनोको जानो, अपनमें रम जावो। होशियार आदमी उसे कहते हैं जो अपना काम बना ले। बाहरमें कहीं कुछ हो, अब कोई लौकिक होशियार होता है, कोई अलौकिक होशियार होता है। यह ज्ञानी संत अलौकिक चतुर है। अपने आपको देखते जायें, अपनेमें रम जावें, इन पुरुषार्थोंमें लगे हुए होते हैं। कोई कहेगा वाह! ऐसा किया तो लोकका उपकार क्या हुआ? हम कहते हैं कि लोक भी ऐसा करले ना तो सबका उपकार होगा। जो सर्वोत्कृष्ट चीज है उसे कोई कर रहा है तो उसके साधनसे ही आप लोग उपकार कर लेते हैं। यह जगत रमने लायक नहीं है। यहाँ कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं, जो विश्वासके योग्य हो और हितकारी हो। इस कारण सबका संकल्प विकल्प त्यागकर ज्ञानधन, आनन्दमय निज चैतन्यमय भगवानकी उपासना करो और सुखी होओ।

निजस्वरूपकी परखमें कल्याणकी निहितता—यह प्रकरण चल रहा है बड़ी हितदृष्टिका। उसे समझनेके लिए यह ध्यान रखना चाहिए कि संसारके समस्त समागन चाहे वह इष्ट समागन हों, चाहे वह अनिष्ट समागन हों पर चैन किसीको नहीं है। सब समागम हेय हैं। एक अपने आपके अंतरमें बसे हुए शुद्ध ज्ञानस्वभाव प्रभुका शरण ही निजी शरण है। दुःखी होनेका तो कोई काम ही नहीं है। आपकी सहाय आपकी बात है। आपका आनन्द आपमें ही है। जरा गर्दन झुकाकर अपने आपकी ओर देखो। इस प्रभुके परखे बिना यह सारा जगत दीन हो रहा है। उस प्रभुका जो स्वभाव है उसकी दृष्टि रखना तो धर्म है और दान, दया, परोपकार, भक्ति ये सब पुण्य हैं तथा विषय, झगड़ा, विवाद, ये सब पाप हैं। इस प्रकारणमें पुण्य और पाप दोनों हेय बताये जा रहे हैं।

सावधानीसे सुनने की जरूरत है। इस जगतके जीव अनादि अनन्त संस्कारवश खोटी तरफ ज्यादा जा रहे हैं और भली तरफ कम चलते हैं। सो पुण्य और पाप दोनों ही त्याज्य हैं। ऐसा सुनकर पाप त्याज्य है यह तो नहीं बनता, पर पुण्य त्याज्य है यह बड़े आरामसे बन जायगा। सो यह सम्यक्त्व नहीं है।

स्थायी सुस्थितिकी रुचि भैया! दृष्टि यह रखो कि अपने आत्मामें जो अनादि अनन्त ज्ञानस्वभाव है, शक्ति है, उस शक्तिका अनुभव तो धर्म है, पूजा, आत्मसाधना तो धर्म है और बाकी जितने भी मिटने वाले भाव होते हैं वे सब पाप हैं या पुण्य हैं। किसीसे कहा जाय कि तुमको दो दिनके लिए अमुक गाँवका राजा बनाए देते हैं और दो दिनके बादमें जो भी तुम्हारे पास सट्ट-पट्ट होगा उसे छोड़ाकर तुम्हें गाँवसे बिल्कुल नंगा निकाल दिया जायगा। तो क्या वह दिनको उस गाँवका राजा बननेको तैयार होगा? नहीं तैयार होगा। प्राणी यह चाहते हैं कि मेरी वह भली स्थिति हो जो सदा रह सकती हो। दो दिनको रहे और बादमें मिट जाय ऐसी स्थिति पसंद नहीं है। इसी प्रकार पुण्यकी बात समझो। पुण्य रहता है और चंद दिन रहकर खत्म हो जाता है। तो जो ज्ञानी पुरुष है वह पुण्यकी अशरणताको समझता है, वह पुण्यको नहीं चाहता है तिसपर भी पुण्यवश बहुत सम्पदा उसे अपने प्राप्त होती रहती है। उस सम्पदाके न रहनेपर, उसमें आकुलता नहीं होती है, निराकुलता रहती है।

मांगी हुई चीजमें ममता व अहंकारका अभाव पहिले जमानेमें जब बारात जाती थी तो गहने पहिन कर जाते थे, पुरुषोंकी बात कह रहे हैं। पुरुष लोग कमरमें करधनी पहिनते थे, पाँवमें तोड़ा पहिनते थे, हाथमें चूरा पहिनते थे, भुजावोंमें गोल-गोल मोटे-मोटे पहिनते थे और गलेमें तो गुञ्ज, सांकल आदि पहिनते थे और कान भी खाली नहीं रहते थे। किसीके पास कुछ न हो तो लोगोंसे मांग कर ले जाते थे और बारातमें पहिनकर बैठते थे। उसकी तारीफ यह है कि लोगोंको पता न पड़ जाय कि यह मांगेका गहना है। नहीं तो यदि पता पड़ जाय तो पहिने और न पहिने बराबर है। चार आदमियोंके बीच बैठे हैं और अपनी शान बताना चाहते हैं। अगर किसीको पता पड़ जाय कि यह पुरुष मांगकर गहना पहिने है तो फिर शान कहाँ रही? शान तो तब है जब यह न पता पड़े कि मांगकर गहना पहिन आये है। तभी तो ४ आदमियोंके बीचमें शान शोभा देगी। सो दूसरोंको नहीं पता चलता कि यह गहना मांगर लाये हैं। सो ठसकके मारे बड़ी-बड़ी बातें करते जाते हैं। मगर खुदको तो पता है कि जो गहना पहिने हैं वह चार दिनको मांगकर आये हैं, फिर देना पड़ेगा। इसमें कोई ठसक नहीं है ठसक तो अपना गहना पहिनने में होती है। फिर भी बाहरी ठसक तो है ही।

ज्ञानीके पुण्यवैभवमें ममता व अहंकारका अभाव इसी तरह पुण्यवानको सम्पदाकी ठसक है। पुण्यवान पुरुषके पास जो सम्पदा है वह मांगी हुई सम्पदा है, खुदकी नहीं है। पुण्यके उदयसे प्राप्त हुई है ना, तो पुण्य कर्मसे मांगी हुई सम्पदा है। जितना जो कुछ ठाठ है वह सब मांगा हुआ है। इन संसारी जीवों को अच्छी तरह से इसका पता नहीं है। इसके पास जो पाई हुई निधि

है वह पुण्यसे मिली याने मांगी हुई है। इसलिए पुण्यवान जीव ठसकके साथ, ढाल चालके साथ इन बरातियोंमें रहता है, पर इसकी ज्ञानीके आगे नहीं चलती क्योंकि ज्ञानीको तो उसके पोलका पता है कि चाहे लाखोंकी सम्पदा क्यों न हो पर यह मांगी हुई है, खुदकी नहीं है। इसकी खुदकी सम्पदा तो ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा और आनन्द है। सो इन श्रीमंतोंकी ठसक ज्ञानियोंके आगे नहीं निभती। अज्ञानी बरातियोंमें निभती है। और वे स्वयं यदि ज्ञानी है तो भले ही लोकमें अपने ऊपर ठसक रखते हैं, किन्तु वह ज्ञानीमन में समझता है कि मेरे पास जो सम्पदा है विभूति है वह मांगी हुई है, मेरी खुदकी नहीं है, सो उसे उस सम्पदा पर अभिमान नहीं होता है। पुण्यवान जीव ज्ञानी है तो पुण्य फलको भोगता हुआ वह पुण्य फलमें निर्लेप रहता है। ऐसी यह चर्चा ज्ञानियोंके बीचकी छिड़ गई है इसलिए बड़ी सावधानीसे यह सुनना है क्योंकि इसमें पुण्यको जगह-जगह हेय बताया जायगा। इस समय यह ध्यान रखना है कि आत्माका जो ज्ञानस्वभावी धर्म है उस धर्म दृष्टिके समक्ष यह सब पुण्य हेय है। आगे पुण्य और पाप दोनों प्रकारके कर्मोंका निषेध करते हैं।

तम्हा व कुसीवेहिं रायं मा कुणह मा व संसर्गं।

साधीणो हि विणा सो कुसीलसंसर्गरायेण ॥ १४७ ॥

कुशीलके साथ राग व संसर्ग न करनेका उपदेश—जब कि उक्त प्रकारसे यह सिद्ध हो गया है कि पुण्य और पाप दोनों ही कर्म सुशील हैं तो यहाँ आचार्य महाराज उपदेश देते हैं कि पुण्य कर्म और पाप कर्म ये दोनों ही कुशील हैं। इन दोनों ही कुशीलोंसे राग न करो, संसर्ग न करो। राग होता है मनसे और संसर्ग होता है वचन और कायसे। जैसे जोरसे बोलकर भगवानकी पूजा करते हैं तो वे भगवानकी पूजा नहीं करते, किन्तु भगवानसे संसर्ग करना चाहते हैं, क्योंकि वचनसे और कायसे बड़ी ऊँची चेष्टा कर रहे हैं। और कदाचित ऐसा नियमसे हो जाय कि ५ ॥ बजे सुबहसे ७ बजे तक मंदिरकी देरी पर जो पैर रखे उसे पूजनके टाइम तक मौन व्रत रखना होगा। सब लोग मौनसे ही पूजा करें, दर्शन करने वाले मौनसेही दर्शन करें। उस समयके वातावरणका आनन्द देखो कितना आसकता है? यह बात एक बार सहारनपुरमें चातुर्मास किया था, वहाँ एक बहुत बड़ा बाग है, बहुत बड़ी मूर्ति है। तो १५ दिनको नियम बनाया गया था कि यहाँ एक बहुत बड़ा बाग है, बहुत बड़ी मूर्ति है। तो १५ दिनको नियम बनाया गया था कि यहाँ सुबह ५ बजेसे लेकर १० बजे तक (५ घण्टे) जो मंदिरकी देरीपर पैर रखेगा उसका मौन व्रत रहेगा। तो वहाँ पूजा करने वाले बस हाथसे चढ़ाते हुए नजर आते थे। बोली नजर नहीं आती थी। उस समयका दृश्य बड़ा शान्तिमय रहता था। तो मौनपूर्वक पूजा बताया गया है। ७ स्थानोंमें मौन है, पर उस मौनका अर्थ लोगोंने यह कर लिया कि पूजाकी बातके सिवाय और बात न बोलना सो मौन है।

राग और संसर्गकी बंधकारणता—आप पुस्तकोंमें देख लो ७ स्थानोंमें मौन कहा गया है उसमें एक पूजा भी शामिल है। मौनसे भक्ति करने पर भगवानमें गुणानुराग बढ़ता है और चिल्लाकर फिर १० के बीच चिल्लाकर भगवानका राग नहीं आता, किन्तु उन १० आदमियोंका राग

आ जाता है कि वे १० आदमी सुन रहे हैं जरा अच्छे स्वरसे बोलें। पहिले तो बोल रहे थे जल्दी-जल्दी “गुरु तेरी महिमा बरनी न जाय” और अब बिल्कुल मधुर स्वरसे बोल रहे हैं, चार आदमी तनिक अच्छे आ गए सो “गुरुकी महिमा बरनी न जाय” चार आदमी देख रहे हैं सो अपनी बोलीको चाल बदली ली। तो राग होता है मनसे और संसर्ग होता है वचन और कायसे। यहाँ कह रहे हैं कि तुम इन कुशील कर्मोंसे न राग करो, न संसर्ग करो; अर्थात् न कुछ मनसे विचारो इन कर्मोंके लिये और न वचन कायसे चेष्टा करो। ये राग और संसर्ग प्रतिसिद्ध हैं, इन्हें न करना चाहिए। ये तुम्हारे बंधनके कारण हैं।

राग व संसर्गकी बंधकारणतापर एक दृष्टान्त—जैसे हाथी पकड़नेके लिए ऐसा षड्यंत्र रचते हैं कि जंगलमें एक बड़ा गड़ड़ा बना लिया जाता है। उस पर बांसोंकी मंचें बिछा दी जाती हैं और उस मंचपर एक हथिनीकी शकल बनती है। जब हाथी उस हथिनीकी शकलको देखता है तो हथिनी समझकर वह दौड़कर उसके पास आता है। आप जानते ही हैं कि हाथी कितना वजनदार होता है। हाथी के वहाँ आते ही वह मंच टूट जाता है और हाथी गड़ड़ेमें गिर जाता है। अब उस हथिनीको चाहे काली बना लो, चाले पीली बना लो, चाहे जैसी सुहावनी बना लो, हाथी वहाँ जायगा तो वह तो गिरेगा ही।

इसी प्रकार इस संसारमें यहाँ कुछ पुण्यका ठाठ दिखता है, कुछ पापका ठाठ दिखता है, ये दोनोंके दोनों ठाठ इस जीवके अहितकारक हैं। जो इनमें राग करेगा, संसर्ग करेगा उसकी गति खोटी होगी। इस कारण इन पुण्य और पाप कर्मोंसे राग और संसर्ग न करो। इस ही बातको कि दोनों प्रकारके कर्म प्रतिषेध्य हैं, आचार्य महाराज स्वयं दृष्टान्तके द्वारा समर्थन करते हैं। यहाँ दो गाथाएँ एक साथ चलेंगी।

**जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीणं जणं वियाणित्त ।
वज्जेदि तेण समयं संसर्गं रायकरणं च ॥ १४८ ॥
एमेव कम्मपयडी सीलसहावं हि कुच्छिदं रणउं ।
वज्जंति परिहरति य तस्सं सगं सहावस्स ॥ १४९ ॥**

मोह राग-द्वेषका अथवा राग व संसर्गका एक चित्रण—एक चित्रण खींचिए, जंगल है, हाथीको पकड़नेका षड्यंत्र रचा है तो वह शिकारी दो काम करता है एक तो मंच बनाकर उसके ऊपर बढ़िया कागजकी हथिनी तैयार करता है और उस कपेणु कुट्टिनीको अर्थात् झूठी हथिनीको देखकर आता हुआ एक हाथी जमीन पर बनाता है। अब जो उस जंगलका सजीव हाथी है, उसने देखा कि यह हथिनी खड़ी है और साथ ही यह देखा कि यह दूसरा हाथी दौड़कर हथिनी पर आना चाहता है, तब वह जंगलका सुभट हाथी दौड़कर उस बांसोंके बने हुए मंचपर आकर गिर जाता है।

दृष्टान्तमें राग, द्वेष, मोहका सद्भाव—इसमें तीन बातें कही गई हैं ध्यानसे सुनिए समझमें आयेंगी। राग, द्वेष और मोह। उस जंगलके हाथीको राग किसका हुआ? उस झूठी हथिनीका और

द्वेष किसका हुआ? दूसरे हाथी का। और मोह क्या हुआ? मोह हुआ उस गड्डेकी मंचके दृश्यका। मोह कहते हैं अज्ञानको। मोहमें बुद्धि व्यवस्थित नहीं रहती है। उसे यह ज्ञात नहीं रहा कि यह तो बांसकी झूठी हथिनी है, उस पर दौड़कर आ जाता है, गही है मोह। कपेणु कुट्टिनी पर आता हुआ दूसरा हाथीसे हुआ द्वेष। इस तरह जंगलमें हाथी रागद्वेष मोहके वशमें होकर गड्डेमें गिर जाते हैं। जब ५-७ दिनमें हाथीका शरीर भूखके मारे शिथिल हो जाता है तो शिकारी आता है और उस गड्डेको खोद-खोदकर एक गली बनाता है, एक सपाट पथसा बनाता है और उस हाथीको निकाल लेता है और अंकुश मार-मार कर उसको अपने अधीन कर लेता है।

संसारी प्राणियोंकी रागद्वेषमोहमय वृत्ति—यही दशा हम आप सब प्राणियोंकी है। मोह होना अज्ञान है। सब जीव न्यारे-न्यारे हैं। सारी सम्पदा पुद्गलकी मात्र पर्याय है। यह मैं भी इस शरीरके रूपमें क्षणिक हूँ। मैं तो वास्तवमें एक शुद्ध ज्ञान ज्योति स्वरूप हूँ। ऐसी इसे श्रद्धा नहीं है क्योंकि मोह छाया हुआ है और राग है विषयोंका। सुन्दर स्पर्श। सुन्दर गंध, सुन्दररूप मिलना चाहिए। बढ़िया राग सुननेको मिलना चाहिए। वहाँ राग है और द्वेष है। किसका? जो सम्पदामें, भोगके विषयोंमें जी ललचावे, बाधा डाले वही दुश्मन बन गया। तो यों राग, द्वेष मोहके अधीन होकर यह जीव संसारमें रुल रहा है।

सुन्दरका अर्थ—सुन्दरका अर्थ आप लोग जानते हैं क्या? किसीने कहा उत्तम, किसीने कहा अच्छा, किसीने कहा खूबसूरत। अच्छा अब हम तुम्हें सुन्दरका अर्थ बतलाते हैं। सुन्दर सु तो उपसर्ग है और उन्दी धातु है और अरच् प्रत्यय है अर्थात् सुन्दरमें तीन अंश हैं (१) सु, (२) उन्द् और (३) अर। इन तीनोंसे मिलाकर बनता है सुन्दर। अर्थ क्या बनता है? सु के मायने भली प्रकारसे और उन्दका अर्थ है तीव्र कष्ट देकर और अर शब्द कृदन्त प्रत्ययका है जिससे अर्थ यह निकला है कि जो भली प्रकारसे तड़फा-तड़फा कर धीरे-धीरे, जिसे कहते हैं खेदकर, पीटकर, धीरे-धीरे जो क्लेश पहुँचाए। उसका नाम है सुन्दर। उन्दका अर्थ है क्लेश पहुँचाना, कष्ट पहुँचाना, तड़फाना। जो भली प्रकार से लड़फा दे, कष्ट पहुँचा दे, दुःखी कर दे उसका नाम है सुन्दर। सो दुनियामें जो मनसुहावनी चीज मिले वही तो सुन्दर है। वह भली प्रकारसे कष्ट देने वाली चीज है। जो दुनियाको अच्छा लगता है वही तो सुन्दर है, जो दुनियाको खूबसूरत लगता है वही तो कष्ट पहुँचाने वाला है। यह सुन्दर शब्दका असली अर्थ बतलाया।

धर्मदृष्टिकी प्रेरणा—चाहे पुण्यकर्म हो चाहे पापकर्म हो, दोनोंका ही फल, दोनोंका ही उदय इस जीवके कष्टका कारण होता है। और भी देखिए। किसान लोग गेहूँ उत्पन्न करनेके लिए गेहूँके दाने बोते हैं या भूषा उत्पन्न करनेके लिए बोते हैं? गेहूँ उत्पन्न करनेके लिए बोते हैं। गेहूँको उत्पन्न करनेके लिए कष्ट करते हैं किन्तु भूषा अपने आप मिल जाता है। भूषा पानेके ध्यानसे किसान खेती नहीं करते, किन्तु अनाज उत्पन्न करनेको वे खेती करते हैं। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष धर्म करनेका यत्न करते हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्ररत्नत्रय धर्मका उद्यम करते हैं। उस धर्मका उद्यम करते

हुए भूषा अपने आप प्राप्त हो जाता है। भूषा क्या? पुण्यकी सम्पदा। धन वैभव आ जाना, यह सब अपने आप प्राप्त हो जाता है। तो धर्मकी दृष्टि बनावो, पुण्यसे सम्पदा तो अपने आप प्राप्त हो जाती है। तो उस धर्मके फलके मुकाबलेमें पुण्यकर्म भी हेय है और पापकर्म भी हेय है। इन दोनोंसे राग और संसर्ग छोड़ना चाहिए।

यहाँ एक दृष्टान्त दिया जा रहा है कि कोई कुशल बनका हाथी जिसके कि बंधनके लिए बहुत सुन्दर बढ़िया मुँह वाली बढ़िया ढाँचे वाली हथिनी बनाई गई हो तो जो कुशल हाथी होता है जंगलमें वह तो कुशील जानकर, आपत्ति समझकर उसको देखता ही नहीं है, वहाँ जाता ही नहीं है, राग और संसर्ग नहीं करता है। पर अज्ञानी हाथी, मोही हाथी धैर्य नहीं रख सकता, वह जाता है और गिर जाता है, पर ज्ञानी उससे सावधान रहता है। इसी प्रकार जो आत्मा ज्ञानी है, राग रहित है उसके चाहे पुण्यप्रकृति हो, चाहे पाप प्रकृति हो, दोनोंको ही वह सबको कुशील जानता है, खोटे स्वभाव वाला जानता है। वह ज्ञानी समझता है कि मेरे आनन्दको पुण्य भी मिटा देता है और पाप भी मेरा आनन्द मिटा देता है। मेरा आनन्द कर्मोंके अधीन नहीं हैं मेरा आनन्द रत्नत्रय धर्मके अर्थात् स्वभावके आधीन है। सो ज्ञानी संत पुरुष इन कर्मोंको कुशील जानकर इन पर्यायोंसे राग और संसर्ग नहीं करता है।

स्वभावके रुचियाकी स्वभावस्मरणकी प्रकृति—जैसे किसीका कोई इष्ट पुरुष गुजर जाय तो उसे उस इष्टका ही ख्याल रहता है। और इतना ख्याल रहता है कि कुछ दिमाग पागलसा हो जाता है। रिश्तेदार घबड़ा जाते हैं, उसका दिल बहलाते हैं, यहाँ वहाँ घुमाते हैं, बहुत ही बढ़िया भोजन कराते हैं। ऐसा बढ़िया भोजन कराते हैं जैसा कभी न किया हो, वह खाता भी जाय और बोलता भी जाय, मगर उसके चित्तमें किसका ध्यान है? उस ही एक इष्टका ध्यान है। इसी प्रकार इस ज्ञानी पुरुषको इस एक अन्तरमें बसे हुए ज्ञायक स्वभावका ही ध्यान रहता है, उस ज्ञायक स्वभावकी ही धुनिमें वह रहता है। वह दुकान भी, करे भोजन भी करे, परिवारसे बातें भी करे, और और नियमके कार्य भी करे, तिस पर भी उसकी दृष्टि एक निज शुद्ध ज्ञायक स्वभावपर है। इसी कारण यह ज्ञानी पुण्य और पाप सब कर्म और सब समागमोंसे राग और संसर्ग नहीं करता है।

इस गाथाका तात्पर्य है कि जो जीव वस्तुस्वरूपका ज्ञानी है, श्रद्धामें रागरहित ज्ञान स्वभावका लक्षण रखता है, वह समस्त कर्म प्रकृतियोंको, चाहे वे पुण्यरूप हों, चाहे पापरूप हों, अपने बोधके लिए ही समर्पण करते हुएके रूपसे देखता है। इन दोनों कर्मोंको कुशील जानता है। इसलिए इन दोनोंके साथ राग और संसर्गका निषेध करता है। अब अगली गाथामें यह बतलाते हैं कि दोनों प्रकारके कर्म बंधके कारण है और टालने योग्य हैं, इसको आगम सिद्ध करते हैं।

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।

एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥ १५० ॥

बन्धनका कारण राग—जो जीव रागी है वह कर्मोंको अवश्य बाँधता है। विरक्त पुरुष इन कर्मोंसे छूट सकता है। जो बूढ़ा रागी है ना, वह बहुतसे पोतोंका बन्धन बांध लेता है। और उसके

राग न हो तो उसके कोई बच्चोंका बंधन नहीं। बच्चोंके खिलानेका काम बूढ़ोंको ही सौंपा जाता है। जब माँको कोई ज्यादा काम लग जाता है तो बूढ़से कहते हैं कि लो इन बच्चोंको खिलावो, क्योंकि बूढ़े और किसी कामके तो हैं नहीं। एक जगह बैठके सब बच्चोंको खिलाएँ। यह बच्चोंके स्नेहका ही तो परिणाम है कि वह बच्चोंसे बंध जाता है। और यदि वह जरा बच्चोंको टेढ़ी निगाहसे देख लेवे, उनसे प्रेम न करे और कभी-कभी बच्चोंकी चोटी ही खींच लेवे तो वह बंधनसे छूट जायगा। मगर उस बूढ़ेको तो बच्चोंका ही स्नेह है। सो वह बच्चोंसे ही बंध गया है। अब जब बंधनमें पड़ गया तो रोज-रोजकी आफत आ गई। तो उस बूढ़ने खुद ही तो स्नेह करके आफत लगा लिया। जो सब पदार्थों के साथ इस जीवका बंधन लगा है। वह बंधन खुदके भ्रमसे ही तो लगा लिया है। कोई बंधन नहीं। सब आत्मस्वरूप है। अपने-अपने स्वरूपमें सब रहा करते हैं। किसीसे किसी का कोई बंधन नहीं है। पर कल्पनामें इस विश्वको अपनाकर सर्व बंधन बना लिया है।

अपने अपराधसे बन्धन—जो रागी जीव है वह अवश्य ही कर्मोंको बांधता है। जो विरक्त जीव है वह ही कर्मोंसे छूटता है। तो सामान्य रूपसे शुभकर्म और अशुभकर्म रागका ही निर्मित हैं। सो वे सामान्यता सबको बांधते हैं, बंधके हेतुपानेको सिद्ध करते हैं। सो ये दोनों ही कर्म प्रतिषेधके योग्य हैं। बाल बच्चे परिवार आपको सुहावने लग रहे हैं। इन सुहावने लगने वालोंसे तुम्हारा क्या पूरा पड़ जायगा? वे सदाको तो अमर हैं नहीं। मरना तो पड़ेगा ही। क्या परभवमें भी ये कुछ मदद कर देंगे? नहीं। परभवकी तो बात छोड़ो। इस ही भवमें क्या वे कुछ मदद कर सकते हैं? नहीं। सिरका दर्द हो जाय तुम्हें और उन बच्चोंसे कहो कि देखो हम तुम्हें कितना खिलाते पिलाते हैं। तुम हमारे सिरका दर्द १ आना ले लो। १५ आने हम भोग लेंगे तो ले सकते हैं क्या? इस वक्त भी कोई तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता है। फिर काहेको बंधन लगा लिया?

बन्धनकी समानता—भैया! सब जीवोंके स्वरूपको निहारो। सब ज्ञानानन्द मात्र हैं। यावन्मात्र क्रिया है, राग है वह सब बंधके ही कारण है। जैसे यमराज याने कालक्षय चाहे बालक हो, चाहे जवान हो, चाहे बूढ़ा हो, जिस चाहेको एक रूपसे तकता है। उसे उतनी दया नहीं है कि यह जवान है, बच्चा है, सुकुमाल है चाहे गर्भमें हो, चाहे जवान हो, चाहे बूढ़ा हो सबको एक दृष्टिसे लखता है। देखो भैया! इसमें कैसी समता है (हंसी) इसी प्रकार ये कर्म सबका साधारणतया बन्धन कराते हैं। चाहे पुण्य वाला हो, चाहे पाप वाला हो, कोई छूट नहीं सकता है। यहीं देखलो ना। गरीब और अमीरमें फर्क क्या रहा? गरीबको बल्कि बंधन नहीं है जितना कि अमीरोंके बंधन लगा है। गरीबोंने अपने पेट पूजाके लायक कमा लिया उसीमें खुश रहते हैं। और किसी चीजकी उन्हें परवाह नहीं है। अमीरों को तो रात दिन चिन्ता सताती है।

बन्धनसे सुखकी व्यर्थ आशा—भैया! स्वरूप विस्मरणसे होने वाला परप्रीति परिणामरूप बन्धन एक बहुत बड़ा बन्धन है। चाहे अमीर हो, चाहे गरीब हो, सभीका बन्धन एकसा है, मोक्षका हितू है तो केवल एक ज्ञान ही है। ज्ञानके सिवाय और कुछ मोक्षका उपाय नहीं है। चाहे पुण्य कर्म

हो और चाहे पापकर्म, दोनों एक समान हैं। चाहे सोनेकी बेड़ी हो, चाहे लोहेकी बेड़ी हो, बेड़ी तो दोनों ही समान हैं। बन्धनरहित अवस्था तो एक निराकुलता ही है। परस्परमें प्रेम बढ़ा लिया तो लो दोनोंके दोनों बंधनसे दुःखी हो रहे हैं। और उनमेंसे कोई एक अपने ज्ञानबलका प्रयोग करे, ज्ञानको निहारे तो उसको बंधन नहीं रहता है। सभी एक समान है, क्या किसीसे प्रीति बढ़ाते हो? ज्ञाता दृष्टा रह जावो।

बन्धनके दुष्फलका एक दृष्टान्त—कोई मुसाफिर यहाँसे कोलकाता जाये और जा रहा है किसी भी ट्रेनसे, पेसेन्जर या एक्सप्रेससे बीच-बीचमें कई स्टेशनोंपर ट्रेन ठहरे तो रास्तेमें बड़े सुन्दर-सुन्दर स्टेशन मिलते हैं। छोटासा ही स्टेशन सही, पर बड़े ही सुन्दर ढंगसे सजे हुए वृक्ष लगे हुए, फुलवाड़ी लगी हुई, कोई स्टेशन बड़ी सुहावनी लगती है तो किसी सुहावनी स्टेशनसे यह मुसाफिर प्रेम करनेके लिए उतर जाय, उस स्टेशनसे ही चिपट जाय। अहा! स्टेशन तो बड़ा अच्छा है, लो इतने में ही गाड़ी छूट जायगी। जब गाड़ी छूट जायगी तो पता लगायेगा कि यहाँ कोई चाय वाला है, यहाँ कुछ खाने को मिलेगा। अब तड़फ रहा है। और दुःखी हो रहा है। कहो जी कैसा आनन्द मिला? अरे जरासी वह स्टेशनसुहा गई और जरा उतर गए उस स्टेशनका सौन्दर्य निहारनेके लिए। गाड़ी तो दूसरी आठ घंटे बाद आयगी। और उस स्टेशन परसे बड़ी-बड़ी गाड़ियाँ निकल रही हैं। मेल निकल रहे हैं, डीजल निकल रहे हैं। कोई गाड़ी खड़ी ही नहीं होती। खड़ी होने वाली गाड़ी आठ घंटे बाद आयगी, यह किसका फल है? स्टेशन सुहाजानेका, प्रीति करनेका फल है। जाते-जाते कोलकाता सारा वक्त खराब कर दिया।

महती यात्राके मध्य कहीं प्रीति करनेका निषेध—इसी तरह हम सब लोगोंको जाना कहाँ है? मोक्ष जाना है। हमें भी जाना है, सब लोगोंको मोक्ष जाना है। मोक्षको जाना है पर बीच-बीचमें सुहावने स्टेशन मिलेंगे। अच्छा मकान मिल गया, २-४ घरके लोग मिल गए, यह सुहावना स्टेशन मिल गया। अब यह नादान, मूढ़, बेवकूफ उन स्टेशनोंसे प्रीति करने लगा, इतने में गाड़ी छूट गई। होश ही बिगड़ गया। अब दुःखी होता है। बड़ी चिन्ताएँ बन गईं। दंद-फंद बढ़ गया। सो इन अध्रुव पदार्थोंमें प्रीति न करो। इनके ज्ञाता द्रष्टा रहो। बुद्धिमानी यात्री हो तो ट्रेनमें बैठे ही बैठे वहींसे झाँककर उन स्टेशनोंको देख ले सो गाड़ी आगे चले तो उसमें बैठा हुआ खुद बढ़ेगा ही। इसी तरह यह चतुर यात्री हो तो अपने आत्मामें ही, अपने आपके भीतर ही बैठा हुआ थोड़ासा उपयोगका मुख मोड़कर झाँक ले सबको, यह भी अच्छा है तो इसका कोई बिगाड़ नहीं होता है। मगर यह तो अपने स्वरूपके ट्रेनसे उतरकर इन सुहावनी स्टेशनोंमें प्रीति करने लगा सो उसका फल दुःख ही होगा। इन दुःखोंका कर्मबन्ध ही कारण है, सो इन सब कर्मोंको प्रतिषेधके योग्य कहा गया है केवल एक ज्ञानभाव ही मोक्षका हेतु है।

मोहकी निद्रामें कल्पना—भैया! खूब गम्भीरतासे विचार लो। रहता यहाँ किसी का कुछ नहीं है। सब मिट जायगा, वियोग हो जायगा। वियोग हो जायगा केवल अब यह आत्मा रहेगा। स्वप्नमें

देखी हुए बात स्वप्नमें झूठ नहीं मालूम देती। स्वप्नमें भयंकर स्वप्न देख लिया तो उसे क्लेश ही होता है। वह यह नहीं समझ सकता है कि मैं तो सजे कमरेमें सो रहा हूँ, कमरेमें पलंगपर लेटा हूँ, कहाँ है यहाँ जंगल, कहाँ है यहाँ शेर और सर्प, कहाँ है यहाँ लुटेरे। मैं तो आनन्दसे सो रहा हूँ, यह ज्ञात नहीं होता है। स्वप्नके समयमें तो जो देखा जा रहा है वह यथार्थ विदित होता है। जब स्वप्न टूट जाता है तब पता पड़ता है अरे वे तो सारी झूठ बातें थीं। इसी प्रकार मोहकी नींदमें यह स्वप्न सबको आ रहा है कि यह मेरा है, यह वैभव है, ये मित्र है, यह सुखमयी है, यह दुःखमयी है, ये सारे स्वप्न आ रहे हैं। जब मोहकी नींद टूटे और वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो तब यह पता पड़ेगा कि ये सब झूठ हैं, मेरे मोहके स्वप्न सब झूठे थे। उनमें कुछ न था।

ज्ञान होनेपर ही त्रुटिकी जानकारी—आपको घरमें किसीसे प्रीति है और वह गुजर जाय तो १०-१२ दिनके बाद में जब होश-हवास ठीक होता है तब समझमें आता है, कि अरे! वह तो आया और चला गया। हमने व्यर्थमें उसके पीछे बीसों बातें सोचीं। क्या मिल गया उन बातोंके सोचनेसे? ठीक-ठीक होशमें आता है। सो जब यह ज्ञान लगता है कि मैं तो सबसे न्यारा केवल ज्ञानमात्र हूँ तब इसे ठीक पता पड़ता है कि ओह अब तक मैंने परसे लिपट-लिपटकर क्या अनर्थ कर डाला है, यहाँ पुण्यकर्म और पापकर्म दोनों ही बराबर बंधके कारण हैं। केवल सत्यज्ञान ही आत्माका हित है।

भ्रमका अपराध और क्लेशका बोझ—स्वप्नमें एक आदमीको मिल गई ३ हजार रुपयेकी थैली। तो भैया तीन हजार रुपयोंका कितना वजन होगा? ३७ ॥ सेर वजन होगा। यह स्वप्न की बात है। वह उस ३७॥ सेर वजनकी थैलीको कांधेपर धरकर चला। ३७ ॥ सेर तो बहुत बड़ा वजन होता है। तो स्वप्नमें वह कंध बलदने लगा। एक कांधेपर रखे, फिर उस दूसरे कांधेपर रखे। अब तो उसके पसीना आ गया। उसके नहीं पसीना आ गया, स्वप्नमें आ गया। जब कभी तेज स्वप्न आता है तो जैसे स्वप्नमें हाथ पैर दुःख रहे हैं उसी तरह जगनेके बाद भी हाथ पैर दुःखा करते हैं। तो जब उसके कंधे दुखने लगे तो उसकी नींद खुल गई। पहिले तो उसने अपनी थैली टटोला, मिला कुछ नहीं और फिर कंधे दुख रहे थे, उन कंधोंको वह खूब मसकने लगा। ऐसे ही इन मायामय स्वप्नोंमें रीझकर मनमाना आचरण बनाते हैं पर उसका फल कर्मबंध होगा, दुर्गति होगी।

कषायमें कलहकी सुभलता—यह जीव जगतकी थोड़ी-थोड़ी बातों पर झगड़ा मचा डालता है। धन पर झगड़ा यह बना लेता है। धनका भी सम्बन्ध न हो तो यह बात-बात में ही झगड़ा बना लेता है। वह यह नहीं देखता कि यह सारा जगत असार है। क्या तत्व रखा है? सब भिन्न चीजें हैं, ऐसा हो गया तो ऐसा ही सही, पर अपनेको रागद्वेषरहित सुरच्छित रहना चाहिए। वह मनुष्य बुद्धिमान नहीं जो अपनी दो बातोंके सिवाय तीसरे दंदमें पड़ता है। वे दो बातें कौन हैं? वे गृहस्थ हैं ना, इस लिए कुछ आजीविका कर लें, क्योंकि पालन पोषण तो करना है। और बाकी समय आत्मोद्धारमें लगावें। इनके सिवाय जो तीसरा दंद-फंद बनता है वह बुद्धिमानी नहीं है।

गृहस्थका सार्थक प्रयोजन—भैया! आजीविका व जीवोद्धार सम्बन्धी अपने दो उद्देश्योंके अन्तर्गत ही अपना कार्यक्रम बनाओ! और कार्य इन दो उद्देश्योंमें से किसी भी उद्देश्यकी पूर्ति नहीं कर सकती। तीसरा कार्य मत करो। ठलुवा लोग बैठ गए और यहाँ वहाँकी सुनाने लगे, निन्दा करने लगे तो उन लोगोंमें से भी कोई ऊब कर कह देता है अरे तेरा तुच्छ हृदय है। निन्दाके सिवाय और कुछ मिलने को नहीं है। सबकी दृष्टिमें गिर जाता है। तो व्यर्थकी ही बातें करनेमें क्या पाया? यहाँ वहाँकी चुगली करनेमें खोटे मार्ग की बात कहनेमें क्या तत्व रखा है? सीधे दो मार्ग हैं तुम्हारे, एक तो आजीविका का काम करलो और दूसरे आत्मतत्वके श्रद्धानके काममें लग जावो। तुम्हें उपकार करना है तो जिस ढंगसे दूसरोंका उपकार हो वैसा करो। चाहे दूसरोंका अनुपकार और तुम उपकार करनेमें ही तुले रहो कि हमें ऐसा करना ही है, सो तो विवेक नहीं है। ऐसे ही हो तो है तो यह बुद्धिमानी नहीं है। जैन शासनका शरण सच्चा शरण है। ज्ञानियोंने जो उपदेश दिया है, जो मार्ग बताया है उस मार्ग पर चलो तो नियमसे शांति मिलेगी।

अविवेकेपूर्ण उपकारपर तुलनेपर एक दृष्टान्त—एक ऊँट वाला था। उसके ऊँटने खा लिया कुम्हा (काशीफल)। तो उसके गलेमें अटक गया। ऊँटका गला ३-४ हाथका होता होगा। सो उस ऊँटके गलमें वह काशीफल अटक गया। अब सोचा कैसे ठीक हो? बहुतसे वैद्य बुलाए, पर न ठीक हुआ। एक चतुर आदमी आया, बोला हम ठीक कर देंगे। कहा अच्छा हम तुम्हें १० रुपया देंगे ठीक कर दो। कहा लिटा दो, लिटा दिया। गर्दन लिटा दिया और उस गर्दनके नीचे पत्थर रख दिया और ऊपरसे दूसरे पत्थरसे धीरे-धीरे ठोका। काशीफल फूट गया और ऊँट निगल गया, अच्छा हो गया। अब वह ऊँट वाला सोचता है कि यह तो बड़ा अच्छा वैद्य है। यह सबकी ऐसी ही दवा करता है। सबका एक ही तो इलाज है। इसी इलाजसे सारे रोग मिट जायेंगे। अब वह सब जगह जाकर कहता फिरता कि हम बड़े अच्छे वैद्य हैं, हम हर एक रोगकी दवा करते हैं। अब एक अधकच्ची या अधपक्की या अधमरी कहो, बुढ़िया मिली। वह बुढ़िया बीमार थी। वैद्य महाराजको बुढ़ियाके घर वालोंने बुलाया वह कहा-अच्छा कर दो।...बहुत अच्छा। उसने बुढ़ियाके गले के नीचे पत्थर रख दिया और जैसा इलाज ऊँटके हुआ था वही किया। तो उसने एक पत्थर ऐसा मारा कि उसके प्राण निकल गए। लोगोंने कहा कि तुमने बड़ा खोटा काम किया। बोला, अरे खोटा नहीं किया। हमारा ऊँट भी बीमार हुआ था तो वह भी इसी ढंगसे ठीक हुआ था। जैसे आप लोग ही डॉक्टर से दवा करवाते हैं तो २५ को आराम होता है, २५ को नहीं होता है। किसीको आराम होता है किसीको नहीं होता है। तो ऐसे उपकारमें न तुलो कि चाहे दूसरोंकी जान जाय पर हमें उपकार करना ही है।

अपना भले हुए बिना दूसरोंका भला करना कठिन—भैया! अपनेको अच्छा करो। हम यदि अच्छे हैं तो यह सम्भव है कि हमारे द्वारा दूसरोंका उपकार हो सकता है। यदि हम भले नहीं हैं, बुरे हैं, ज्ञान और आचरणसे हीन हैं तो हमारे द्वारा किसी दूसरेका उपकार नहीं हो सकता। तो

प्रथम कर्तव्य तो आत्म-उपकारका है। पहिले अपने आपकी बात सोचो तो अपना कल्याण कर सकते हो। यदि तुम काबिल हो तो तुम दूसरोंके कल्याण में निमित्त बन सकते हो। यदि खुद ही खुदके कल्याणसे विपरीत हो तो दूसरोंके कल्याण के निमित्त नहीं बन सकते हो।

नैष्कर्म्यमें सशरणाता—यहाँ शंकामें एक प्रश्न करते हैं कि जब तुमने पुण्यकर्मका भी निषेध कर दिया, पापकर्मका भी निषेध कर दिया तो अब हम लोग क्या करें? मानो साधुवोंने प्रश्न किया कि हे आचार्यदेव! तुमने पुण्य और पाप दोनों कर्मोंको हेय बताया है तो अब तो हम निष्कर्म हो गए, जिसे कहते हैं फालतू हो गए, कुछ करनेको काम ही नहीं रहा, अब हम लोग अशरण हो जायेंगे। अभी तो हमें कुछ-कुछ काम मिलता था इसलिए सशरण थे। अब तो कोई काम ही नहीं रहा। तो आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि ऐसे मुनिजन अशरण नहीं होते। जब पुण्य और पाप दोनों कर्मोंका प्रतिषेध हो जाता है तब ज्ञानमें ज्ञान लीन हो जाता है, आचरित हो जाता है। जब ज्ञानमें ज्ञान प्रविष्ट हो जाय तो उनको परमशरण मिल जाता है। वह अपने ज्ञानमें रत होकर परम अमृतका अनुभव करता है।

पराभिमुखकी अशरणाता—भैया! अशरण तो वह है जो बाहरी पदार्थोंमें अपना शरण मानता है। मेरा भैया, मेरा बच्चा, मेरा अमुक मेरेको शरण है। मेरा दिल लगा रहता है। मुझे अमुक चाहिए। यही मेरा हित है, ऐसी जो बाह्य पदार्थोंमें अपनी शरण दृढ़ता है वही अशरण है। और जो अपनोमें शाश्वत विराजमान इस ज्ञानमात्र स्वभावक शरण ढूँढता है वह है सशरण। सो जगतके सर्वसंकटोंसे बचनेके लिए स्वयं शरणभूत आत्मतत्त्वको देखो और ज्ञानमय होकर इस अमूर्त स्वरूपका अनुभव करो। यही अमृतपान कहलाता है।

ज्ञानी संतोंका अमृतपान—लोग कहते हैं कि अमृतके पीनेसे पुरुष अमर हो जाते हैं। वह अमृत क्या है? वह अमृत बाहरमें कुछ नहीं है। न कुछ पानी पनील है, न कोई लड्डू, आम जैसा है, न वह कुछ शक्कर जैसा है, न पुद्गल है। वह अमृत क्या है? अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टि कर लेना ही अमृत है। यह वास्तविक बात है। अन्य पदार्थोंमें हितपने का भ्रम करके अपना चित्त न बिगाड़ो। अन्य पदार्थोंको अपना शरण मान करके अपनेको अधीर न बनाओ। परपदार्थोंसे तो नीति और न्यायके कारण व्यवहार रखो और अपने आपके स्वभावकी रुचि बनाए रहो। सो समस्त पुण्य-पापका निषेध किया उन ज्ञानी संत महात्मावोंने जो वनमें एकाकी विराजमान रहे, उन्हें नैष्कर्म्यकी कृपासे ऐसा शरण मिल गया कि जिस शरणके मिल जानेके कारण उन्हें दूसरी वस्तुका संग ही नहीं सुहाया। उन्होंने परमसमताके अनुभव रूप अमृतका पान किया।

पुण्य-पापके बन्धनकी समानताके परिज्ञानसे शिक्षा—इस प्रकार इस गाथामें पुण्य और पाप दोनों कर्मोंका हेय बताया और अपने आपका जो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है उस ज्ञान ज्योति मात्र निज तत्वमें रत होने का उपदेश किया गया है। जो जीव राग करता है वह कर्मोंको बांधता है और

जो जीव राग नहीं करता है वह कर्मोंसे छूट जात है। जिनेन्द्र भगवानका यही एक संक्षिप्त उपदेश है। इसलिए हे कल्याणार्थी पुरुषों! तुम किसी भी प्रकारके कर्मोंमें राग मत करो। समस्त राग द्वेषोंको हेय जानना चाहिए। शुभ हो, चाहे अशुभ हो, एक शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी लीलाको ही अपना परम शरण समझो।

अब तक यह प्रकरण चला आया है कि पुण्यकर्म और पापकर्म दोनों ही कुशील हैं, संसारबंधनके कारण हैं। इतना निर्णय करनेके बाद अब यह प्रश्न किया जा रहा है तो फिर मोक्षका हेतु क्या है? मोक्षका हेतु ज्ञान है, उसकी सिद्धि करते हैं।

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ॥

तम्हि द्विदा सहावे मुणिणो पावन्ति णिव्वाणं ॥ १५१ ॥

ज्ञानकी मोक्षहेतुता—ज्ञान ही मोक्षका कारण है, क्योंकि ज्ञान न तो पुण्य बंधका कारण है, न शुभ कर्मका कारण है, न अशुभ कर्मका कारण है, न पापबंधका कारण है। इसलिए ज्ञानमें ही मोक्षकी कारणता सिद्ध होती है। जितना भी बंधन लगा है जीवको वह रागद्वेष और मोहके कारण लगा है और ज्ञानके कारण रूप परिणमन अर्थात् समस्त पदार्थों के ज्ञाता दृष्टा रहनेमें रागद्वेष मोह होता नहीं है, इस कारण ज्ञानपरिणमन में बंध नहीं बताया, मोक्ष ही होता है। यह ज्ञानपरिणमन समस्त कर्मोंको जातिसे जुदा है। रागादिक विभाव भी जात्यन्तर हैं। और ज्ञानावरणादिक कर्म तो जात्यन्तर हैं ही। और यह परमात्मत्व चैतन्य जातिरूप है।

अन्तर्बाह्य मलके अभावमें स्वच्छता—जैसे साफ सुन्दर चौकी हो, उस चौकी पर बहुतसे धब्बा लगे हों चिड़ियाके बीटके अथवा स्याही के धूलके बहुत धब्बे लगे हुए हों और दोपहरकी धूपमें रखी हो सो गर्म भी काफी हो गई, उस समय इस चौकीमें तो दो तरहका मल आ गया। एक तो मल आया है गर्मीका। चौकीके स्वभावमें ऐसी गर्मी नहीं है। वह तो धूपका संयोग पाकर इसमें गर्मी आई है और एक दोष है इसपर धब्बा लगनेका। इसी प्रकार आत्मामें दो दोष आते हैं, एक तो गर्मीके मानिन्द रागद्वेष मोह भाव होनेका और एक धब्बेके मानिन्द ज्ञानावरणादिक कर्मोंके लगनेका। इस दोनों दोषोंमें ज्ञानावरणादिक कर्म तो प्रकट जात्यन्तर हैं। जीवकी चैतन्य जाति है और कर्मोंकी पुद्गल जाति हैं, किन्तु जो रागद्वेष मोहका दोष आया है वह भी जात्यन्तर है। रागद्वेष तो जड़ हैं, वे जानने वाले नहीं हैं। जानने वाला तो ज्ञान है। तो एक चैतन्य भाव ही चेतन की जातिका है। ये रागद्वेष भाव मोक्षके हेतु न होंगे। मोक्षका हेतु तो ज्ञानभाव ही है। चाहे चैतन्यस्वरूप कहो, चाहे परमार्थ आत्मा कहो, एक ही बात है।

आत्माके समय नामकी सार्थकता—इस ही का नाम समय है अर्थात् एक साथ एक भाव रूपसे परिणत होने वाले ज्ञानमें समयक्त्व होता है। इसलिए इस आत्माका ही नाम समय है। सम एकत्वेन अयते गच्छति इति समयः। जो एक रूपसे गमन करे उसको समय कहते हैं। देखो लोगोंने इन घड़ी घंटोंका नाम समय रख लिया, मिनट सेकेन्डोंका नाम समय रख लिया, क्योंकि यह समय

भी एक रूपसे गमन करता है। कोई कहता है कि आजकल पंचमकाल है इस वजहसे मोक्ष नहीं होता। तो क्या कालका परिणमन जो समय है उसमें कोई दोष आ गया कि जिससे मोक्ष नहीं होता। समय होता तो सब एक रूप है। चाहे चौथा काल हो, चाहे किसी कालका समय हो। समयकी ओरसे तो सब समय एक ही समान हैं पर जिस कालमें मनुष्य हीन योग्यता के हों, हीन संहननके हों, हीन बल बुद्धिके हों तो दोष तो है इस पुरुषका और नाम लगता है समयका कि पंचम काल है सो मोक्ष नहीं होता। तो अपराध है मनुष्यका, पर अपराध लगा समयपर। तो समय भी एक रूपसे गमन करता है। जब देखा जाता कि समय एक रूपसे गमन करता है इसी प्रकार यह आत्मा भी अपने शुद्ध कार्योंमें एक रूपसे गमन करता है। इस आत्माका शुद्ध कार्य है जानन ज्ञाताद्रष्टा रहना मात्र। उसमें एक रूपसे ही इस आत्माका गमन है। इसलिए इसको समय कहते हैं।

आत्माके परमार्थ नामकी सार्थकता—यह आत्मा परमार्थ है, यह तो पहिला विशेषण है। परमार्थ उसे कहते हैं जो समस्त कर्मादिक जात्यन्तरसे जुदा रहता हो और मात्र चैतन्य जाति स्वरूप हो उसको कहते हैं परमार्थ। सो यह परमार्थ आत्मा ही है। यह आत्मा अपने स्वरूपसे समस्त परद्रव्योंसे और परभावोंसे जुदा स्वच्छ ज्ञानज्योतिमात्र है। जिसकी चर्चा की जा रही है, ध्यानसे सुनिये अपने आपमें बसे हुए आत्मस्वरूपकी चर्चा की जा रही है। जिस आत्माको जान लेने पर यह निश्चय हो जाता है कि मैं न पुरुष हूँ और न स्त्री हूँ। जो पुरुष है वह अपनेको पुरुषपनेसे मना कर सके, इतना ज्ञान जगे तो समझ लो कि मोक्षका मार्ग मिला। जो स्त्री जातिमें है वे अपनेको स्त्रीपनेसे मना कर सके कि मैं स्त्री नहीं हूँ ऐसा दृढ़ निर्णय कर ले तो समझें कि अब वह धर्माद्रष्टा आत्मा है। जब यह निर्णय हुआ कि मैं पुरुष नहीं हूँ, मैं स्त्री नहीं हूँ तब अन्तरमें विराजमान इस परमात्मस्वरूपको देख सका यह तो केवल ज्ञानप्रकाशमात्र है। इसमें हाथ, पैर, हड्डी, चमड़ी नहीं, कोई पिंड नहीं। यह आत्मा तो आकाशकी तरह अमूर्त निर्लेप ज्ञानज्योतिमात्र है। वह तुम हो, यह मैं हूँ। तो यह आत्मा क्या स्त्री है अथवा क्या पुरुष? निर्णय करो अपने आपमें। इन इन्द्रियोंको संकोच कर आँखोंको बंदकर सबकी दृष्टियाँ छोड़कर अन्तरमें देखो जरा यह मैं आत्मा ज्ञान ज्योतिमात्र हूँ, इसके तो शरीर ही नहीं है, फिर पुरुष और स्त्रीपना होगा ही क्या? यह आत्मा अपने शुद्ध कार्योंमें एक रूपसे गमन करता है। यह दूसरा विशेषण परमात्मस्वभावका दिया गया है।

आत्माके शुद्ध नामकी सार्थकता—अब तीसरा विशेषण देखिये। यह शुद्ध है। आजकी चर्चा कुछ कठिन लग रही होगी, पर यह चर्चा तुम्हारी ही है। दूसरेकी नहीं है। तुम्हारी बात तुम्हें कठिन लगे, यह तो खेदकी बात होना चाहिए। और वह घर गृहस्थ कुटुम्ब परिवार और वह दाल, चावल जो तुम्हारी चीजें नहीं हैं वे तुम्हें सरल लगती हैं इसका तो खेद होना चाहिए। तुम्हारे ही अन्तरङ्गके पतेकी बात कही जा रही है। हे आत्मन् तू शुद्ध है। कैसा शुद्ध है? केवलज्ञान प्रकाश मात्र है। इसमें इसका कारण न कोई तरंग है, न कोई रंग है। विकल्प उठते हैं, विचार चलते हैं, चिंताएँ होती हैं, इष्ट अनिष्ट भाव होता है। यह सब तू नहीं है। ये औपाधिक भाव तेरे नहीं हैं,

मायाचार तेरे सत्वकी कला नहीं है। तू शुद्ध ज्ञानमात्र है। तू समस्त नय पक्षोंके मेलसे रहित है। तू एक ज्ञानमात्र है, तू शुद्ध है। ऐसी शुद्धताको देखोगे तो समझ लो कि धर्म किया। और ऐसा शुद्ध परमार्थ परमात्मतत्त्व दृष्टिमें न हो, केवल मूर्ति ही नजर आए, केवल मंदिर ही नजर आए, केवल आने जाने वाले लोग ही दृष्टिमें आएँ तो तू अभी धर्ममें नहीं लग रहा है। धर्ममें तो तब दृष्टि है जब मंदिर आने जाने वाले लोग सब भूल जायें और एक ज्ञानमूर्ति जानें यह आत्माके सही पतेकी बात कही जा रही है। तू शुद्ध है।

आत्माके केवली नामकी सार्थकता—चौथा विशेषण कहते हैं कि हे आत्मन! तू केवली है, तू केवल है, प्यौर है, खालिस है। जिसमें न दूसरे पदार्थोंका सम्बन्ध है और न दूसरे पदार्थोंका निमित्त पाकर कोई तरंग या रंग होने का स्वभाव है। केवल चैतन्य मात्र वस्तु है। पानी मिले हुए दूधको आप समझ जाते हैं। कि इसमें इतना दूध है और इतना पानी है। इतनी कला तो है ना आप पर। जब दूध खरीदते हो तो देखकर बता देते हो कि इसमें तो आधा दूध है और आधा पानी है। इस जाननेमें तो आपकी कला है ना। इसी तरह मिले हुए आत्मस्वभावमें रागद्वेष विभावोंमें यह विभाव है, यह स्वभाव है यह कला जिसके जग जाती है उसे धर्मात्मा कहते हैं। धर्म कितनी गहरी चीज है। और इसे समझने वाले जगतमें कितने हैं? धर्मात्माका टाइटिल तो लाखों को लगा होगा। कोई साधुओंके पास ज्यादा बैठता हो, मंदिरमें ज्यादा रहता हो, कोई लोगोंके उपकारके लिए लाखोंका धन खर्च करता हो, कोई मंदिर, धर्मशाला वगैरह बना देता हो, तो इतने मात्रसे लोकव्यवहार में धर्मात्माका टाइटिल मिल जाता है पर आचार्य महोदय यहाँ कह रहे हैं कि जिसने परमार्थसे शुद्ध केवलका परिचय पाया है वह धर्मात्मा है।

शुभोपयोगकी अपने स्थानमें कार्यकारिता—भैया! जगतके जीव अनन्तकालसे विषय कषायोंके संस्कारमें पड़े हुए हैं। अच्छा है कि किन्हीं पुरुषोंका गुरुओंके साथ रहनेका, मंदिर में पूजा पाठ करनेका, दूसरोंके उपकारमें द्रव्य खर्च करनेका भाव हो जाय तो भला है, मगर यह उतना भला है जितना कि १०४ डिग्री बुखार के बाद १०० डिग्री बुखार रह जाय तो १०० डिग्रीका बुखार रह जाना भला है। १०४ डिग्रीके ज्वरकी पीड़ा, वेदना नहीं रही इस कारण वह १०० डिग्री टेम्परेचर भला है। पर क्या वस्तुतः १०० डिग्री के टेम्परेचर वालेको हम निरोगी कह सकते हैं? नहीं। बड़ी सावधानी रखनी पड़ेगी, नहीं तो १०० डिग्रीसे फिर अधिक बढ़ जायगा, फिर आफत पड़ जायगी। इसी प्रकार उन तीव्र विषय कषायोंके भावोंके मुकाबलेमें गुरुसंग, भगवत्भक्ति, परोपकार, जीव दया, ये भले हैं, किन्तु इनसे भी सावधानी रखनी पड़ेगी, क्योंकि यह अस्थिरताकी वृत्ति है, औपाधिक भाव है। वहाँ यह पता नहीं पड़ता है कि ऊँट किस करवट बैठेगा? कदाचित कोई ऐसी धुन घर कर भी इस कहलाए गए धर्मात्मापनसे चिगकर महापापमें लग सकता है। अभी इस आत्माको धर्मात्मा नहीं कहा जा सकता। धर्मात्मा वह है जिसको अपने धर्मका, स्वभाव का परिचय हुआ। यह आत्मस्वभाव कैवल्य है।

आत्माके मुनि नामकी सार्थकता—इस प्रकार चौथा विशेषण कहनेके बाद ५वां विशेषण कहा जा रहा है कि आत्मा मुनि है; अर्थात् मनन मात्र भावमय है यह। आत्मा कर क्या रहा है। अन्तरणमें पड़ा हुआ? मनन कर रहा है, अपने ज्ञानादिक गुणोंका अनुभव कर रहा है और शुद्ध रूपमें तो यह आत्मा चैतन्य प्रतिभास मात्र परिणमन कर रहा है और उस ही परिणमनको आत्मरूप समझकर तृप्त और आनन्दमग्न हो रहा है। इस कारण मनन मात्र भाव होनेके कारण इस आत्माको मुनि कहा गया है।

आत्माके ज्ञानी नामकी सार्थकता—अब छठा विशेषण कहते हैं कि यह आत्मा ज्ञानी है। यह स्वयमेव ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानातिरिक्त इस आत्मामें क्या भाव जान सकते हैं? भेददृष्टिसे चाहे ज्ञान कह दो, चाहे ज्ञानी कह दो, चाहे आत्मा कह दो, सब एकपर्यायवाचक शब्द हैं। जो जाननभाव है वह ही आत्मा है। अपनेको जाननभावके रूपमें निहारिये। इस रूपमें अपना अनुभवन न कर सके तो नाना भावरूप अनुभवते हैं तो वह नागनाथ और सांपनाथ जैसा कहने भरका अन्तर है। स्वभावसे तो चिगे हुए हैं।

आत्माकी ज्ञान स्वभावता—यह आत्मा ज्ञानी है, ज्ञानको लिए हुए है और वह ज्ञान जिसके पास हो उसे ज्ञानी कहते हैं। ऐसा अर्थ यहाँ नहीं लेना। यह अर्थ एक सिद्धान्त में कहा जरूर गया है कि आत्माका स्वरूप मात्र जानना है। उसमें जब ज्ञानका सम्बन्ध होता है तो उसे ज्ञानी कहते हैं, पर आत्माके ज्ञानी होनेकी यह पद्धति नहीं है। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। इस कारण उसे ज्ञानी कहते हैं। यहाँ मोक्षका हेतु बतलाया जा रहा है कि मोक्षका हेतु कौन है? हम किसकी शरण जाये, किसका आलम्बन लें, किसकी कृपा पायें, किसी दृष्टि करें कि हम संसारके सब संकटोंसे दूर हो सकें, वह प्रभु है यह ज्ञानस्वभाव।

आत्माकी स्वस्वभावमात्रता—यह अपने स्वभावमात्र है। इसको स्व स्वभाव कहते हैं। अर्थात् स्व होना मात्र ही यह आत्मा है। स्व है चित्। सो चैतन्यका होना मात्र ही यह आत्मा है। यह आत्मस्वभाव या प्रभुका दरबार कुछ कहिए, यहाँ पहुँचने पर एक अलौकिक स्थितिमें पहुँच जाते हैं। जहाँ सर्व विलक्षण ही दर्शनका अनुभव हुआ करता है। तो इस प्रकार आत्माका हेतुभूत जो ज्ञानभाव है उस ज्ञानभावको विशेषों द्वारा देखो। किसी भी विशेष्यको समझनके लिए विशेषण सहायक होते हैं। यह आपकी खुदकी बात कही जा रही है। आपके महलकी बात कहें तो वह आपकी बात नहीं है, वह जड़ पुद्गलकी बात है। आपके शरीरकी बात कहें तो वह आपकी निजी बात नहीं है। वह जड़ पुद्गलकी बात है, आपके धनके उपयोग सेवा भावकी बात कहें तो यह भी आपकी निजी बात नहीं है। यह तो चिदाभासोंकी बात है, घरकी बात है। आपके अनादि अनन्त अहेतुक अशरण चैतन्य भावकी महिमा गायें तो यह आपकी बात है। यह बात केवल आपकी ही न रहेगी, यह सर्व जीवोंकी बात है। और जैसे जिस विशेषणके द्वारा हम अपनी बात समझ सकते हैं वह विशेषण सर्व जीवोंमें निमग्न हो गया है। इस कारण इन जीवोंसे अलग कुछ नहीं है। यह स्व लक्षणकी बात कही

जा रही है। आनन्दके अनुभवके लिए तो आप सब जुदा हैं, मगर जिस स्वलक्षणसे जीवका परिज्ञान होता है उस स्वलक्षणकी दृष्टिमें हम और आप अपनी जुदी सीमा नहीं बना पाते। इसी कारण उस अद्वैतवादाने सब एक ब्रह्म स्वरूप मान लिया। स्यादूवाद भी इसका लक्ष्य कराता है पर वह अपनी पद्धतिसे ही कराता है। यह आत्मा स्वस्वभावमात्र है।

आत्माके कथित विशेषोंका उपसंहार—यह आत्मा परमार्थ है क्योंकि समस्त परद्रव्यों और परभावोंसे रहित उत्कृष्ट स्वरूप वाला है। यह आत्मा समय है, क्योंकि एक साथ एक रूपसे ज्ञानमें गमन करता है। यह आत्मा अपनी ओरसे भिन्न-भिन्न रूपोंसे ज्ञान नहीं किया करता है, वह आश्रयभेद, उपाधिभेदसे भिन्न-भिन्न ज्ञान होता है, पर यह तो स्वरसतः एक स्वरूपही ज्ञानमें चलता है, सबसे न्यारा है केवल है, मननको लिए हुए है, ज्ञानानन्दमय है, अपने भावोंकी भावना मात्र है ऐसे आत्मस्वरूपमें पहुँच हो जाय जहाँ कि वे साधुजन निर्वाणको प्राप्त करते हैं। निर्वाण मायने कैवल्य, खालिस रह जाना। खालिस रह जाना तो कोई चाहे और और वह निरपेक्ष सत्त्वकी भावना न करे तो वह खालिस कैसे बन सकता है? कैवल्य बनना हो तो अपने को केवल निहारने लगे, केवल बन जावोगे। और यदि निहारो द्वैतको, सर्वमायामय पिण्डोंको, एक दूसरेके सम्बन्धको और चाहो कि हम केवल बन जायें तो नहीं बना जा सकता। केवल बननेका उपाय कैवल्यको शुद्ध आत्मतत्त्वको देखना है।

इस प्रकार जब यह प्रश्न किया गया था कि पुण्य और पाप कर्म तुम तो इन दोनों को हेय बता रहे हो, यह मोहके कारण नहीं है, तो फिर मोक्षका कारण है क्या? इसके उत्तरमें यह गाथा आई है कि मोक्षका कारण तो एक ज्ञान स्वभाव है, कैवल्य है, उसकी ही दृष्टिसे, आलम्बनसे धर्म होता है और उसकी वृद्धि हो होकर केवलज्ञान होता है। अब इस ही ज्ञानको उसके प्रतिपक्ष रूपसे बतलाते हैं।

परमट्ठमिह दु आठिदो जो कुणादि तवं वदं च धारेइ।

तं सव्वं वालतवं वालवदं विंति सव्वण्हू ॥ १५२ ॥

अज्ञानतपसे अज्ञानव्रतसे आत्मसिद्धिका अभाव—जो जीव परमार्थमें स्थित नहीं है और तपको करते हैं, व्रतको धारण करते हैं तो उस व्रतको, तपको सर्वज्ञदेव बालतप और बालव्रत कहते हैं। बालका अर्थ है अज्ञान। अज्ञान तप है और वह अज्ञान व्रत है। मोक्ष का कारण अज्ञान तप नहीं है, अज्ञान व्रत नहीं है। ज्ञान ही मोक्षका कारण है, क्योंकि परमार्थभूत सहज शुद्ध तत्त्वका ज्ञान न हो और अज्ञानसे व्रत और तपस्यायें खूब की जायें तो वह बंधका ही कारण होता है। इस कारण वह तप और व्रत बाल शब्दसे व्यपदिष्ट किया जाता है। वह प्रतिषेध्य है, बालतप और बालव्रत किये जाने योग्य नहीं है। मोक्षका हेतुपना तो केवल शुद्ध ज्ञानसे ही होता है।

झंझटोंके कारण बहिर्मुखता—हम और आपको कितने झंझट लगे हैं? जरा झंझटोंको तो एक दूसरे से पूछो सब न्यारी-न्यारी बातें बतायेंगे। कोई कहता है कि देवर जेठसे नहीं बनती, कोई

कहता है कि पतिसे नहीं बनती, कोई कहेगा कि स्त्रीसे नहीं बनती, कोई कहेगा कि भाईसे नहीं बनती, कोई कहेगा कि मित्र लोग छोटे हैं, हमारी इच्छाके माफिक नहीं चलते। आजकल रोजगार नहीं चलता, कितनी ही झंझटें बतावेंगे। इन सब झंझटोंको मूल उपयोगका बहिर्मुखत्व होता है। नहीं तो आनन्दनिधान इस आत्मामें झंझट क्या है?

वर्तमानमें भी आवश्यक अनुकूलता—ज्यादहसे ज्यादाह आवश्यक यह झंझट जान जावो कि भूख और प्यास लगती है, उसके बिना नहीं रहा जा सकता है। तो जिन कर्मों के उदयमें हम और आप मनुष्य हुए हैं औ इतने विशिष्ट साधन पाये हैं इतना अनुकूल कर्मोदय सभी मनुष्योंके है कि वे भूख और प्याससे नहीं मर सकते हैं। कोई लाखोंमें २-१ ऐसे हैं कि जिनका उदय अत्यन्त प्रतिकूल है कि वे भूखे और प्यासे मर जाते हैं। इच्छा कोई बढ़ा ले, हमारा तो खान-पान इस स्टेण्डरका होना चाहिए, हमारा तो रहन-सहन इस पोजीशनका होना चाहिए तो यह आपकी अत्यन्त आवश्यकतामें शामिल नहीं है। जो चीज अनावश्यक है उसका हठ कर लिया जाय तो यह तो बात दूसरी है। जो अत्यन्त आवश्यक है उसकी भी चिंता करनी पड़े, ऐसी आपकी खोटी स्थिति नहीं है।

अनेक झंझटोंको मेटनेका उपाय एक—भैया! कितने झंझट लगा लिये गये हैं, कितने विकल्प और कल्पनाएँ कर लिये गये हैं। जो आपके घरमें चार-छः बच्चे हैं, स्त्री हैं उनको तो मान लिया कि ये ही मेरे सब कुछ हैं। मेरा जो तन, मन, धन है वह बस इनके ही लिये है। अरे ये शेष जीव भी मेरे ही समान हैं, ऐसी दृष्टि करके शेष जीवोंमें कौन तन लगाता है? अगर कोई लगाते भी हैं तो अपना बड़प्पन रखनेके लिए, सभ्यता दिखानेके लिए लगाते हैं, किन्तु स्वरूपमें स्वरूप मिलाकर अत्यन्त निकट बनकर कोई किसीकी सेवा करता हो, ऐसा विरला ही जीव होता है कितने झंझट लग रखे हैं? इन सब झंझटोंको दूर करनेका उपाय केवल एक है। झंझट अनेक हैं। तो सही उपायसे चिगे कि झंझट बन गए। उनके मेटने का उपाय है, अपने आपके सत्वके कारण अपने आपका जो सहजस्वरूप है उस स्वरूपकी दृष्टि करना। और एतावन्मात्र अपनेको मान लो सारे झंझट समाप्त हो जायेंगे। झंझटोंको समाप्त कर दो, संकटोंको दूर कर दो, निर्वाणको प्राप्त कर लो ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं।

अज्ञानतपके दुःसह क्लेश—अज्ञान तप भी कितने कठिन-कठिन हैं। पंचाग्नि तपचारों ओर अग्नि जल रही है और चैत, बैसाख, जेठकी धूप पड़ रही है। मैदानमें बैठा हो, चारों ओर अग्नि हो और ऊपरसे सूर्यकी गर्मी, ऐसी गर्मीमें कठिन तप करते हैं। कितने ही लोग वर्षों तक हाथको ऊंचा ही उठाये रहते हैं, और हाथ ऊंचा किए रहनेसे उनका हाथ कमजोर हो जाता है, लक्कड़ जैसा हो जाता है, क्षीण हो जाता है। कितने ही लोग वर्षों तक खड़े रहनेका नियमले लेते हैं। खायें तो खड़े ही खड़े, सोयें तो खड़े ही खड़े, पेड़ोंसे टिक गए नींद ले लिया। जो कुछ करें सब खड़े ही खड़े करते हैं। कितने ही खड़े श्री महाराज होते हैं जो वर्षों तक खड़े ही रहते हैं, बैठते नहीं। कितने

ही कांटोंपर अपना आसन जमाते हैं, कितने कठिन-कठिन तप कर डालते हैं किन्तु एक इस निज ज्ञानस्वभावकी भगवानके भेंठ के बिना सब क्रियाएँ कर्मबंधकी ही कारण हुआ करती है। सबसे उत्कृष्ट लाभ अपने आत्माके शुद्धावरूपका परिचय है। यह जिन्होंने कर लिया उन्हें कोई न जाने या सब बुरा कहें, कुछ भी स्थिति गुजरे उसका तो भला ही भला है।

कैवल्यका बाधक और साधक भाव—ये मायामय जीव जो खुद अशरण हैं, जो खुद विनाशीक हैं, मिट जाने वाले हैं, दुःखी व्याकुल हैं ऐसे मनुष्योंसे आप अपने बारेमें क्या कहलवाना चाहते हैं जिससे आपको निर्वाण मिल जाय। ऐसे इन बाह्य अर्थोंकी दृष्टि निर्वाण में बाधक है। निर्वाणका साधक नजि सहज शुद्ध ज्ञानका अनुभवन है। इसकी प्राप्ति के लिए क्या-क्या नहीं करना पड़ता है? अपना सारा तन, सारा धन, सारा मन सब कुछ न्यौछावर हो जाय और एक निज आत्मस्वरूपका भान हो जाय तो समझ लीजिए कि हमने सर्वस्व पाया।

समयकी परख—अब सोचा लीजिए कि आप आत्मबोधकी प्रक्रियाके लिए कितना तो समय देते हैं, कितना श्रम करते हैं कितना व्यय करते हैं? इन तीनोंमें आप देखो कि हम कितना समय देते हैं? २४ घंटोंमें गप्पोंमें, दुकानमें, मित्रोंमें, मोहियोंमें कितना समय गुजरता है और सत्संगमें, भगवत्भक्तिमें, पूजामें, प्रवचनमें, स्वाध्यायमें कितना समय लगाते हो? गप्पें हो रही हों १० बज जायें, चाहे ११ बज जायें, पर आनन्द आता है। ११ बज गण गप्पें करते-करते तो रात्रि खराब कर दिया, पर सत्संगतिमें बैठने पर ४० मिनट बा तो आकुलाहट होने ल गती है। जब कोई वक्ता हुआ तो लोग कहते हैं कि इन्हें आज कुछ समयका ख्याल नहीं है, इन्हें घड़ी दिखा दो। आकुलाहट हो जाती है।

तन, मन, धन, वचनके उपयोगकी परख—श्रम कितना करते हैं परिवारके लिए, पसीना सिरसे पैरों तक बहता है। और सत्संगतिके लिए, गुरुजनोंकी सेवाके लिए आपका कितना श्रम हो रहा है? जितना धन कमाते हो शत प्रतिशत उन बाल-बच्चों और स्त्रीके लिए है पर अपनी ज्ञानवृद्धिके लिए, लोगोंके ज्ञानोपकारके लिए आपका कितना व्यय होता है? और तो बात क्या, ज्ञानके कार्यके लिए वचन तककी कंजूसी कर रहे हैं। तनसे मदद नहीं कर सकते, धनसे मदद नहीं कर सकते तो कमसे कम वचनसे तो हर्षोत्पादक हों, वचन तो दूसरोंके प्रेरणात्मक हों।

ज्ञानीकी उपेक्षा न करनेकी प्रेरणा—स्कूल और कॉलेज कितने ही खुलते जाते हैं पर वहाँ जिस उद्देश्यसे मूलमे खोला था धर्मज्ञानके लिए उसकी ओर भी उपेक्षा की जा रही है। अरेसे केवल वचनों तककी ही तो बात करनी है, काम तो हो रहा है, इस ज्ञान की प्रगतिके लिए हम कितना तन, मन, धन, वचन चारोंको कंजूस बना रहे हैं? भला करेगा तुम्हारा तो एक ज्ञानभाव ही भला करेगा। “ज्ञान समान न आन जगतमें सुखका कारण।” सर्व जगह ढूँढ़ आवो सुख, क्या घरसे सुख मिलेगा, क्या स्त्रीसे सुख मिलेगा, क्या बाल बच्चोंसे सुख मिलेगा? खूब ढूँढ़ लो, और ढूँढ़ भी रखा होगा मिल क्या? एक दिन ऐसा आयेगा कि खुद मरेंगे या उन इष्टोंसे कोई पहिले मरेगा। तो

वियोगसे त्रस्त होकर पागल-सा बन जायगा। यह फल और मिला मोहमें। कुछ न कुछ पिटाई अंतमें और होगी। इतना लाभ मिला मोहमें। इस मोहसे किसीका पूरा नहीं पड़ सकता।

आत्मदर्शनसे सिद्धि भैया! अपना आत्मकत्व देखिये, अपनी निर्मलता बनाइये। अपने उपयोगको विशुद्ध कीजिये पर दृष्टिमें मत उलझिये सही बात है यह अपने कल्याण के लिए। करना पड़ता है सब कुछ, मगर अपने लक्ष्यसे मत चिगो। सर्व प्राणियोंमें एक इसकी दृष्टि बनाओ। कोई मुझसे जुदा नहीं है, सबका स्वरूप एक है, अपने स्वरूपास्तित्व पर दृष्टि देकर सोचो कि सब मुझसे जुदे हैं। चाहे वे घरके लोग हों, शरीर हो, कुछ हो मेरा तो अमूर्त ज्ञानस्वभावी यह मैं ही हूँ। मेरा पूरा तो मेरेसे ही पड़ेगा। दूसरोंसे मेरा पूरा न पड़ेगा।

बाह्यसे शरण पानेका भाव दूर करके ज्ञानस्वभावके शरण लेनेका भाव आपके पुण्य की गाड़ी चल रही है इसलिए लोग आपको प्यार जता रहे हैं। आपके पुण्यकी गाड़ी बिगड़ जाय, टूट जाय तो आपका प्यार जताने वाले यह सोचेंगे कि इनके साथ इसी जगह रहकर हम कब तक मरेंगे। आप किसी बैलगाड़ीमें बैठे हों। देहात जा रहे हों, तीन चार मील जाना था। किसीकी गाड़ी मिल गई है सो बैठ लिया। आप गाड़ीमें बैठे चले जा रहे हैं और रास्तेमें चका टूट जाय तो फिर आप उसकी गाड़ीमें बैठे रहेंगे क्या? नहीं। आप यह सोचकर कि हमें तो जल्दी जाना है, तुरंत पैदल चल दोगे। ऐसा ही स्वार्थभरा हुआ यह जगत है। जब तक किसीका स्वार्थ सिद्ध हो रहा है तो स्वार्थ सिद्ध होनेके कारण वे दूसरे आपके उपकारके निमित्त बन रहे हैं। इस स्वार्थ सिद्धिके कारण ही सब आपसे प्यार करते हैं। जब स्वार्थ सिद्ध नहीं होता, पुण्यकी गाड़ी ढीली हो जाती है तब इसका तुम जानो, क्या करोगे, हमें तो अपने विषयोंमें स्वार्थोंमें वहाँ जाना है। यहाँ कोई किसीका सहायक नहीं है। एक अपने ज्ञानस्वभावका ज्ञान ही सर्व संतोषको प्रदान करने वाला है। इसलिए सर्व उपाय करके किसी भी प्रकार अपने ज्ञानानन्दमय चैतन्य ज्योतिका सामान्योपयोग बनाकर दर्शन कर लें तो इसके प्रतापसे सर्व संकट दूर हो जायेंगे।

अब यह नियम बतलाते हैं कि ज्ञान तो मोक्षका कारण है और अज्ञान बंधका कारण है।

वदरिणयमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुर्वंता।

परमट्टबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विदंति ॥ १५३ ॥

जो पुरुष परमार्थ आत्मस्वरूपकी दृष्टिसे जुदे हैं वे पुरुष व्रत और नियमको भी धारण करें, शील और तपकी भी साधना करें, पर वे निर्वाणको नहीं जानते हैं, निर्वाण भी नहीं अनुभव सकते हैं। ज्ञान ही मोक्षका कारण है।

बंधके विपरीत भावसे बन्धका अभाव देखो एक पुद्गल और दूसरा पुद्गल परस्परमें बंधा हो, जैसे दो रस्सियोंमें परस्परके गांठ लगा दी जाती है तो उसका मोक्ष तो गांठ खुलने की क्रियासे है। पर ऐसे आत्माका तो किसी भी परपदार्थके साथ बंधन नहीं। आत्माका तो भावोंका बंधन है। तो इसमें और क्या क्रियाएँ की जायें? आस्रवके द्वारको ही उल्टा कर लेनेसे बंधन मिट

जाता है। जैसे दो रस्सियोंमें गांठ लगाते हैं तो जिस तरह से गांठ लगाई गई है उससे उल्टा गांठको खोलेंगे तो खुलेगी, याने उस गांठको खोलनेके लिए उल्टा विधि बनाओ तो गांठ खुलेगी। इसी तरह जिस विधिसे आत्माका बंधन हुआ है उससे उल्टा बनो तो बंधन मिटता है।

बन्धका व बन्धाभावका कारण—भैया! बंधन हुआ है अज्ञानसे, परमें आकृष्ट होनेसे तो बंधन मिटेगा परका सच्चा ज्ञान करनेसे, आकर्षण खतम कर देने पर। ये सब काम ज्ञानद्वारा साध्य हैं इसलिए ज्ञान ही मोक्षका कारण है। ज्ञानका अभाव होनेपर स्वयं अज्ञानभूत हुए अज्ञानी जीवके शुभ कर्म को खूब हो, भीतरी भावोंसे व्रत हो, नियम हो, शील हो, तपस्या हो, ऐसे शुभ काम भी हों तो भी मोक्ष नहीं होता है। जैसे बंदरोंका दृष्टान्त है कि जाड़ा मिटानेके लिए वे फूँस भी इकट्ठा कर लें उसमें लाल चीज जुगनू भी डाल दें, फूँक भी लगा दें और तापने के ढंगसे भी बैठ जायें पर जाड़ा न मिटेगा। इसी तरह मोक्षका कारण तो है ज्ञान, आत्मानुभव, ज्ञाता दृष्टा रहनेकी परिणति। ये तो हो नहीं और कितनी ही तपस्यायें और करें, व्रत करें, नियम करें तो उससे मोक्षकी सिद्धि न हो जायगी। ज्ञानही मोक्षका कारण है, बंधका कारण अज्ञान ही है। जैसे शरीरकी चेष्टावोंसे मोक्ष नहीं होता इसी प्रकार शरीरकी चेष्टासे कर्म का बंध या बन्धाभाव भी नहीं होता।

आत्माके भावके अनुसार सर्जन—भैया! कर्मबंध भी भावोंसे होता है और मोक्ष भी भावोंसे होता है। कर्मबंधके योग्य भाव होने पर रहा नहीं जा सकता, सो कायकी चेष्टा करते हैं। मन, वचनकी चेष्टा योग है। यह मन वचनकी चेष्टा भावोंके विकल्पोंके अनुसार है और कभी इस तन, मन, वचनकी क्रियावोंके संयम करनेसे भावोंका संयम भी सम्भव है, इस कारण कायकी क्रियावोंके रोकनेका उपदेश दिया जाता है। बंधका कारण तो अज्ञान भाव ही है। किसी पुरुषमें अज्ञान न हो, स्वयं ज्ञानभूत हो तो ऐसे ज्ञानी जीवके कदाचित् बाह्य व्रत नियम, शील, तप आदिक शुभकर्म न भी हों तो भी उसके मोक्षका सद्भाव होता है।

अव्यक्त साधना—प्रसिद्ध दृष्टान्त है कि भरत चक्रवर्तीने मुनि होनेके बाद क्या तप किया था? अन्तर्मुहूर्तके बाद ही उन्हें केवलज्ञान हो जाता है। पर इस साधनासे पहिले उनके जीवनभर साधना रही है। घरमें रहते हुए भी वे विरागी रहे। हजारों रानियोंके बीच हास्य वचन व्यवहार करते हुए भी अन्तरमें परमात्मतत्त्वकी भावना रही। बहुत सम्मान और दरबारके बड़े प्रसंगोंमें भी उन सबसे विरक्त रहे और इस शुद्ध परमात्मतत्त्व की भावना रही, इस कारण उनके धर्मकी भावना तो आजीवन रही। बादमें मुनि व्रत धारण करके उस ही अन्तर्मुहूर्त में केवल ज्ञानमय सिद्ध हो गए।

क्या बननेका निर्णय—आप सोचो कि आपको क्या बनना है? निर्णय कर लो, कैसा बननेमें आराम मिलेगा? चार-पांच हवेली वाले बन जायें तो आराम मिल जायगा क्या? नहीं मिलेगा। पुत्र स्त्री वाले हो जायें तो आराम मिलेगा क्या? नहीं मिलेगा। दूसरों का वैभव देखकर जी ललचा जाता है कि ऐसा वैभव मेरे न हुआ। अरे जिनके पास वैभव है उनकी दशा तो देखो। वे चैनमें है क्या? शांत है क्या? तो खुद निर्णय कर लो कि आपको क्या बनना है? इस देशके बड़े नेता बन गए तो भी शांति

न मिलेगी। शांति कहाँ मिलेगी सो बतलावो? शांति मिलेगी केवल रह जानेमें। यह आत्मातो सदासे जिस स्वरूप है उतना मात्र रह जाय इसमें शांति मिलेगी। ऐसा हुआ भी है कोई क्या? हाँ हुआ है कौन हुआ। सिद्ध भगवान। वे केवल हैं। उनसे न शरीरका सम्बन्ध है, न वैभवका सम्बन्ध है, न कोई परिग्रह है। केवल निर्दोष ज्ञानमात्र अपनेमें शुद्ध सहज परिणत हैं, यही उत्कृष्ट अवस्था है।

निर्विकल्पता जैसी कुछ स्थितिसे प्रभुके आनन्दका ज्ञान—भैया! आप कह सकते हैं कि सिद्ध भगवानका तो हमें पता ही नहीं है। वह है, कैसा है, कहाँ है, उनका तो पता नहीं है पर आपको अपना तो पता है। अपने आपको ही किसी समय ऐसा बनाकर रखो कि किसी भी पदार्थका विकल्प नहीं है, किसीका सम्बन्ध नहीं है, किसीको मनमें न रखो। और अपने आपको केवल अनुभव करो, उस समय आपको जो आनन्द होगा उससे अनुमान करलो कि सिद्ध प्रभुका, निर्दोष आत्माका कितना अनन्त आनन्द है, कैसा शुद्ध विकास है? एक लक्ष्य होना चाहिए कि हम आपको बनना है क्या? केवल बनना है। अगर केवल बनना है तो केवलका ज्ञान चाहिए, केवलका श्रद्धान चाहिए और केवलका आचरण चाहिए, तब केवल बन सकते हैं।

सही श्रद्धासे ही सही काम—जैसे हम बात तो करें कुछ और काम करें कुछ तो उससे अपनेपर प्रभाव नहीं रहता, व दूसरों पर रहता है। जो उत्कृष्ट काम है उसको सच्चाई के साथ श्रद्धापूर्वक किया जाय तो उसमें फल मिलता है। जैसे घरके काम छोड़कर यहाँ मंदिर आते हैं २ घंटोंके लिए। मंदिरमें आनेका उद्देश्य है आत्मस्मरण, आत्मचिंतन आत्माके उत्कृष्ट स्वरूपकी स्मृति। जो शुद्ध आत्मा हुए हैं उनका ध्यान करें। सो ख्याल तो यहाँ न करें और मंदिरमें बैठकर भी यहाँ वहाँ की चिंताएँ लगाये रहें या कुछ लोगोंसे अपनी महत्ता लूटनेका ढंग बनाएँ तो दोनों ही तरफसे गए। अरे ये घरमें होती तो अब तक लीपा-पोती काम भी देख लेतीं, कुछ काम करा लेतीं, सो घरका काम छोड़कर मंदिर आये तो यहाँ भी कुछ नतीजा न निकाल पाते हैं, कष्ट करते हैं, पर सही श्रद्धाका काम करो तो उसका फल प्राप्त हो।

समृद्धि अर्थात् शून्यता—क्या बनना है आपको? केवल। तो केवलका ज्ञान चाहिए। यह मैं आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप सर्वसे न्यारा अंतः प्रकाशमान हूँ। इसमें जो तरंग उठती है वह उसके स्वरूपदर्शनका बाधक है। दूसरा कोई पुरुश उसके स्वरूपदर्शनका बाधक नहीं है, किन्तु यह ही तो परका ख्याल है, उससे जो भाव उत्पन्न होते हैं ये भाव ही प्रभुदर्शनके बाधक हैं। कुछ तो लाइन क्लियर कर दो। अपने उपयोग को सूना कर दीजिए। क्लियरके मायने है सूना। साफके मायने क्या है? सूना। कपड़ा साफ किया जाय, मायने इस कपड़े को सूना बना दो। इसके जो कुछ दूसरी चीज लगी है उससे शून्य कर दो। स्वच्छता कहो या शून्यता कहो एक बात है। इस कमरेको साफ कर दो, अर्थात् इस कमरेमें जो न रखने लायक परतत्त्व हों उन्हें हटा दो, शून्य बना दो। रेलवे लाइन क्लियर है? हाँ क्लियर है, मायने लाइनपर अब कोई गाड़ी नहीं आ रही है। लाइन साफ है। साफ कहते हैं सूनेको। तुम्हें साफ बनना है तो बन जाओ, साफ बननेके लिए क्या चाहिए कि मेरेमें मेरे

स्वरूपके अतिरिक्त जो भाव तरंग हो गए हैं उन्हें हटा देना चाहिए। यही है अपनी स्वच्छता। ऐसा अनुभव हो उसको ही कहते हैं ज्ञान। और यह ज्ञान ही मोक्षका कारण है।

प्रभुकी ढूँढ़ और मिलनका एक दृष्टान्त—पुनः सोचिये कि मोक्षका कारण क्या है? यह जो ज्ञानात्मक ध्रुव निज प्रभुता है, यह जो प्रतिभास हो रहा है यह तो मोक्षका हेतु है। जैसे ये लड़के लोग छुपा छुपैया, टुका टुकैया खेलते हैं। एकको आँख मींचकर खड़ा कर दिया और दूसरे जो हैं वे कहीं छिप गये। अब आँख मींचने वाला लड़का व्यग्र होकर यहाँ वहाँ ढूँढ़ता है। छुपे हुए लड़कोंको वह ऐसी जगह ढूँढ़ता है जहाँ घुस भी न पाये, छोटे-छोटे छेदोंमें देखता है कि यहाँ तो नहीं छिप गया। वह व्यग्र होकर ढूँढ़ता है। ढूँढ़ते हुएमें जब वह किसी बच्चेको देख लेता है तो वह उसे कितना हँसकर छूता है और जिसको छूता है वह भी हँस पड़ता है। दोनोंके दोनों हँसते हैं।

प्रभुकी ढूँढ़ और मिलन—इसी तरह हमारे भगवान हमारी आँखे मिचेमें हमारे ही अन्दर कहीं छुपकर बिराजे हैं, हम उन्हें ढूँढ़नेके लिए व्यग्र हो रहे हैं। और ऐसे व्यग्र हो रहे हैं कि जहाँ सम्भावना भी नहीं है, ऐसी जगह ढूँढ़ते फिरते हैं। मिल जाय तो कहीं। बड़े व्यग्र होकर ढूँढ़ते हैं मंदिरमें, शास्त्रोंमें, गुरुवोंमें ढूँढ़ते हैं, पर भगवान तो आनन्दका नाम है। सो उस भगवानको दालमें, रोटीमें, विषयोंमें, दुकानमें सब जगह ढूँढ़ते फिरते हैं, यदि कहीं भगवान निकटमें आ जाय, पता पड़ जाय कि लो यह है भगवान छिपे, तो देखने वाला भी प्रसन्न होगा और वह भगवान भी प्रसन्न हो जायगा। देखने वाला तो प्रसन्न होगा ही, क्योंकि निर्मल बना और भगवान भी जो अनादिकालसे दुःखी बैठे थे छुपे हुए तो उनका भी तो उद्धार होता है। जब हम अपने उपयोगसे भगवानको दृष्टिमें लेते हैं तो भगवानका ही तो उद्धार होता है। तो भगवान भी प्रसन्न हो जाता है। तो अब इन सबमें आँखमिचौनी हो रही है, पर जिसके लिए आँखमिचौनीका खेल बना है उसे ढूँढ़ने, पर अब तक नहीं पाया है। व्यग्र होता हुआ यत्र तत्र ढूँढ़ रहा है। लो ज्ञानात्मक यह ध्रुव अचल आत्मतत्व यह है भगवान। तो यह मोक्षका कारण है।

प्रभुको छुए बिना उपयोगपर धैयाका भार—और भी देखो भैया! वह बच्चा जिस पर धाई चढ़ी। जो कसूर वाला माना जाता है कि आँखें मींचता ही रहेगा जब तक पता न पाड़ ले तो धैया चढ़ी ही है। तब तक उस पर धैया चढ़ी रहेगी जब तक कि वह अन्य बच्चेको देख न ले, छू न ले। और जब देख लिया बच्चेको तो उस पर धैयाका बोझा उतर जाता है। इसी प्रकार जब तक प्रभुको नहीं देख लेता यह उपयोग बालक तब तक इस पर धैया चढ़ी रहेगी। और जहाँ आत्माको छू लिया तो फिर उस परसे धैया उतर जायगी। देख लिया, ढूँढ़ लिया, हमारी शरण हमारा परम पिता, हमारा सर्वस्व कहाँ जा छिपा हुआ है? इस गुप्त स्वरूपमें। गुप्त पद्धतिसे गुप्त मिलन होता है। ऐसे प्रभुसे मिलते समय बड़ा अनोखा सामा बांधता है।

चैतन्य प्रभु और उपयोग भक्तका अपूर्व मिलन—रामलीला होनेके बाद जब भरत राम मिलनेका दिन होता है तो लोगोंके दिलको देखा होगा, कैसी उत्सुकतासे उस स्थानको तकते हैं।

यह है प्रभु और भक्तका अनोखा मिलन। इस अनोखे मिलनका कितना महान सामा बनेगा, उसकी कथनी कौन कर सकता है? हम आप जितने भी संकटोंमें पड़े हैं इस प्रभुसे विमुख होनेके कारण संकटोंमें पड़े हैं। अन्यथा संकटोंका तो कोई नाम निशान ही नहीं है। यों देख लो। यह है मोक्षका हेतु और मोक्षका हेतु ही नहीं, स्वयं ही यह मोक्ष तत्त्व है। इसके अन्दर जो कुछ भी तरंगे हैं वे सब बंधके ही कारण है। इस कारण अपने आपको जितना देखोगे, अपने आपको जितना ज्ञानमात्र अनुभवमें लगावोगे उतना ही आप भगवानके निकट पहुंचेंगे। आत्मानुभवका सीधा उपाय है अपनेको जाननमात्र अनुभव लेना। जैसे लोग अनुभवते हैं ना कि मैं बच्चा वाला हूँ, मैं लखपति हूँ, मैं बलवान हूँ, मैं पंडित हूँ, मैं साधू हूँ मैं गृहस्थ हूँ इत्यादि रूपसे अपनेको अनुभवते हैं ऐसा अनुभवन न होकर यह अनुभव हो जाय कि मैं जाननमात्र जो प्रतिभास है, जो ज्ञान है बस यही मैं आत्मा हूँ, इसके अतिरिक्त और कुछ मैं नहीं हूँ। ऐसा अनुभवमें आए उसको ही कहते हैं आत्मानुभव, मोक्षका हेतु। सौ जितने भी बंधके हेतु हैं उन सबको टालकर और शिवके हेतुकी रुचि करो।

भ्रमके कारण बन्धकी विशेषता—यहाँ ज्ञानको तो मोक्षका कारण बताया और अज्ञानको बंधका कारण बताया। जैसे कोई छोटा बालक हो और आगे कोई जाती हुई ऐसी महिला देखे कि उसे भ्रम हो जाय कि यह मेरी माँ है तो वह उसके पीछे दौड़ेगा। बड़ी जल्दी जायगा। आगे जाकर धोती पकड़कर खड़ा हो जायगा। और जब उसकी शकल देखा, अरे यह तो मेरी माँ नहीं है तो बंध टूट गया, इसे दुःखभरा विश्राम समझो या सुख भरा विश्राम समझो, ऐसे मिश्रित विश्रामसे वह वहाँसे लौट गया, अब एक स्थानपर बैठ जायगा। भ्रम हुआ तो बन्धन था और भ्रम मिटा तो बंधन मिटा। भ्रम मिटनेके मायने यथार्थ ज्ञान होता है। और बन्धन छूटनेके मायने मोक्ष होना है। तो मोक्ष तो होता है यथार्थ ज्ञानसे, आत्माके यथार्थस्वरूपके बोधसे, पर जो रागद्वेष होता है वह है बन्धन और होता है वह अज्ञानसे। ज्ञानमात्र आत्माके अवगमसे जो तरंग मिट जाया करती है यह है मोक्षका स्वरूप। अब जो पुण्यकर्मके पक्षपाती हैं उन्हें समझानेके लिए आत्मतत्त्वके निकट उन्हें बिठाते हैं।

परमट्ठवाहिरा जे ते अण्णापेण पुण्णमिच्छंति।

संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउं विअजाणंता ॥ १५४ ॥

पुण्यकी चाहका मूल अज्ञान—जो परमार्थसे सून हैं वे अज्ञानसे पुण्यकी इच्छा करते हैं। पुण्यकी चाह करना भली बात नहीं है। पुण्यकार्यमें लगना तो कथंचित् उपादेय है। पर पुण्यकर्मको चाहकर लक्ष्य बनाना यह किसी भी प्रकार उपादेय नहीं है। पुण्यकर्ममें लगना, यह अज्ञानीका काम है। उस अज्ञानीकी ऐसी प्रवृत्ति है कि पुण्य ही मेरा स्वरूप है, यह पुण्य ही मोक्षका कारण है, ऐसी रुचिपूर्वक पुण्यकर्मको चाहे तो यह भाव हेय है। जो परमार्थसे बाह्य है ऐसे अज्ञानीजन पुण्यकी चाह करते हैं। कारण कि उन्हें भ्रम हो गया है कि यह पुण्य ही मोक्षका कारण है। सो यद्यपि यह पुण्य संसारमें घुमानेका हेतु है फिर भी इसकी चाह करते हैं।

ज्ञानकी उपयोगशीलता—भैया! सबसे बड़ा वैभव है यथार्थ बात समझमें आ जाना। अभी चले जा रहे हैं, रास्तेमें कोई विचित्र घटना हो रही हो, या साधारण बातें हो रही हों, कुछ दिखनेमें आ जाय तो उसके सम्बन्धमें ऐसा जाननेकी इच्छा होती है कि आखिर मामला है क्या? अरे उससे तुम्हारा सम्बन्ध भी कुछ नहीं, और जान जावोगे तो क्या मिल जायगा? कुछ भी तो न मिलेगा। पर इस आत्माकी ऐसी आदत है, प्रकृति है यह सही जाननेके लिए उत्सुक रहा करता है। सही ज्ञानका न आना भी इसके लिए एक दुःख है। अभी ऐसे ही किसी बच्चेसे पूछ दें कि बतलावो तेरह नम्मा कितने होते हैं? तो किसीने कुछ कहा, किसीने कुछ। अब सही जाननेकी व्यग्रता हो रही है। किसीने बता दिया कि तेरह नम्मा एक सौ सत्रह। अब तो बताने बाला हँसने लगा और कुछ कुछ सब हँसने लगे। अरे क्यों हँसे, क्या मजा आया? कुछ खानेको तो नहीं दिया, पर सही जानकारी कर लेनेका विचित्र आनन्द है। लेन-देनसे कुछ नहीं आनन्द मिलता, लाभसे कुछ आनन्द नहीं मिलता है, पर यथार्थ ज्ञानसे आनन्द मिलता है। सारे विश्वके सम्बन्धमें यथार्थ ज्ञान हो तो अनन्त आनन्द मिलता है।

आत्मोपलाब्धिका उपाय सर्वकर्मपक्षत्याग—आज प्रकरण यह चल रहा है कि जो जीव आत्माके शुद्ध स्वरूपको तो जानते नहीं हैं जो कि मोक्षका कारण है और अज्ञानसे बाहरी क्रियाकांडोंमें ही अपनी तीव्रता रखते हैं ऐसे जन ही पुण्यकी इच्छा करते हैं। उन जीवोंने मोक्षकी चाह तो की थी, चाहे वह देखादेखी की हो, चाहे मनमें बात आई हो, पर उन्होंने मोक्षकी अभिलाषा तो जरूर की है, किन्तु मोक्ष कैसा है? यह स्वरूप उन्हें विदित नहीं है। मोक्षका स्वरूप है कि समस्त कर्मोंके पक्षके त्यागमें आत्मलाभकी जिसके दृष्टि हुई हैं उन्हें मोक्षस्वरूपी आत्माकी प्राप्ति सर्व प्रकारके कामोंके पक्ष छोड़नेसे होता है। बड़े ध्यानसे सुनने लायक बात है, चित्त विशुद्ध करके सुननेमें बात समझमें आ जाती है। इस जगतमें कोई हम आपका शरण नहीं हैं। पुत्र, मित्र, स्त्री ये कोई भी आपके शरण नहीं हैं। शरण है तो एक अपने आपका धर्म है। उस ही की बात यहाँ चल रही है। धर्मकी सिद्धि तब कहलाती है कि जैसा अपने आपका शुद्ध स्वरूप है तैसा प्रसिद्ध हो जाय, प्राप्त हो जाय इसे कहते हैं धर्मलाभ।

सर्वकर्मपक्षत्यागका संक्षिप्त संकेत—यह आत्मस्वरूप कैसे प्राप्त होता है, उसका उपाय यहाँ बताया है कि मोक्ष सर्वप्रकारकी क्रियाओंका पक्ष छोड़नेसे होता है। मैं दुकान करता हूँ, यह पक्ष संसारका कारण है। मैं जाता हूँ, आता हूँ, खाता हूँ, बोलता हूँ, इतने जीवोंको पालता हूँ, पोषता हूँ यह सब कर्मोंकी बुद्धि जगजालमें रुताने वाली होती है, कर्मों को बांधने वाली होती है और मैं पूजा करता हूँ, भक्ति करता हूँ, सत्संगमें रहता हूँ, ज्ञान करता हूँ, स्वाध्याय करता हूँ, तप करता हूँ, व्रत पालता हूँ, उपवास करता हूँ ऐसी भी कर्म बुद्धि कर्मोंका बंध करने वाली होती है। क्या मेरा स्वरूप ज्ञाता दृष्टमात्र रहनेके अतिरिक्त और कुछ भी करनेका नहीं? व्रत आदि करना आत्माका स्वभाव होता तो सिद्ध भगवानको भी करते रहना चाहिए। क्यों वे विरामी हो गए?

शुभोपयोगका प्रयोजन—भाई! जैसे किसी दुष्टके संगमें फँस गये हो तो भली-भली बातें करके दुष्टोंके शिकंजेसे निकलनेका उपाय किया जाता है, इसी प्रकार दुष्ट कर्मोंके, विभावोंके बंधमें फँस गए हैं तो जप, तप, पूजा, नियम भली-भली बातें करके इन दुष्टोंके संगसे निकलना है। जो दुष्टोंके संगमें फँस गए हैं उन दुष्टोंसे भली-भली बातें करते तो हैं पर दिल देकर नहीं करते। उन दुष्टोंके शिकंजेसे निकलना है। इसलिये ये सब क्रियायें करते हैं। इसी प्रकार ज्ञानी जीव जप, तप, नियम आदि भली-भली बातें तो करता है पर यह मेरा स्वरूप नहीं है यह श्रद्धा रखता है, यह ही मेरा अंतिम काम है ऐसा दिल बनाकर नहीं करता है।

मोक्षके स्वरूपके ज्ञानपूर्वक आचरणका महत्त्व—सर्व कर्मोंके विनाशसे यह आत्मलाभ उत्पन्न होता है। ऐसे मोक्षकी अभिलाषा भी इसने की। की तो है, पर मोक्षपर की है। मोक्षका ऐसा स्वरूप है ऐसा जानकर मोक्षकी अभिलाषा नहीं की। मोक्षका स्वरूप जान जाय तो यह ज्ञानी हो गया। उस ज्ञानकी बात यहाँ नहीं कही जा रही है। ये अज्ञानी जन किसी कारणसे मोक्षकी इच्छा भी करने लगते हैं और मोक्षके कारणभूत जो समता परिणाम है उसकी प्रतिज्ञा भी करते हैं, महाव्रत अंगीकार करते हैं, समस्त परिग्रहोंका त्याग करते हैं और नामसे तो समताकी भी प्रतिज्ञा करते हैं। कैसी है यह समता? परमार्थभूत जो ज्ञान है उस ज्ञानरूप ही बने रहना ऐसी एकाग्रता रूप है। ज्ञानरूपका बनाए रहना होता है सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्रके अभेद परिणमनसे।

अज्ञानभावमें मोक्षसिद्धिकी अहेतुता—भैया! अन्तरमें सामायिककी प्रतिज्ञा भी कर ली, मोक्षकी चाह भी कर ली, किन्तु ये अज्ञानीजन मोक्षस्वरूप आत्मस्वरूपका बोध न होने से अपने क्रियाकांडोंसे उत्तीर्ण नहीं हो सकते। क्रियाकांडका विपाक अच्छा नहीं है; अर्थात् ज्ञानशून्य क्रियाओंके कार्यसे शांतिका लाभ नहीं मिलता। वह इस कर्मचक्रसे पार होनेमें क्लीब है, कायर है। सो परमार्थभूत जो ज्ञानका अनुभवन एतावन्मात्र जो सामान्य पारिणामिक आत्माका स्वभाव है उसे नहीं प्राप्त करते हैं। यहाँ चर्चा चल रही है कि अज्ञानी जीव संसारके जन्ममरणरूप संकटोंसे मुक्त नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हें आत्माके स्वरूपका परिचय नहीं हुआ है, किन्तु देखादेखी या अपनी कुल परम्पराके कारण क्रियाकांडोंसे लगे चले जा रहे हैं।

मन्दकषायका सीमित और अध्रुव लाभ—यद्यपि देखादेखी ही सही, कुलपरम्परा से ही सही, इस कार्यके करनेमें पुण्यबंध होता है, मंद कषाय होती है, एकदम दुर्गति नहीं मिलती है लेकिन संसारमें धनी बनकर फायदा क्या उठा लोगे? देव और इन्द्र बनकर भी लाभ क्या पा लोगे? लाभ तो आत्माके विशुद्ध विकासमें है। जहाँ समस्त विश्वका पूर्ण यथार्थ परिज्ञान हो रहा है, अनन्त आनन्दमें मग्नता हो रही है, चाहिए तो वह पद, परन्तु उस पदका ज्ञान न होनेके कारण यह जीव क्रियाकांड और पुण्य भावोंकी इच्छा करता है। तो मन्दकषायमें रहनेसे पूजा, दान, तप, व्रत, नियम इन कामोंमें रहनेपर स्थूल संक्लेश परिणाम तो रहते नहीं, इतना तो लाभ है और स्थूल मोटे-मोटे विशुद्ध परिणाम रहते हैं, इतना ही लाभ है।

क्रियामें ही मोक्षहेतुताकी कल्पनाका कारण—मन्दगषायके सीमित व अधुव लाभके दरम्यान कर्मोंका अनुभवन भी बहुत कम रह गया है; अर्थात् उसे असाता और दुःख नहीं सता रहे हैं। ऐसी स्थितिमें अपने चित्तमें संतोष धारण कर ले तो भिन्न-भिन्न लक्ष्य बनाकर समस्त क्रियाकांडोंको न छोड़ते हुए यह अज्ञानी जीव स्वयं अज्ञानसे ऐसा मानता है कि जो पापका काम है यह ही बंधका कारण है और नियम, शील, व्रत, तप आदिक जो शुद्ध कर्म हैं ये बंधके कारण नहीं है। वे यह नहीं समझते हैं कि शुभकर्म भी बंधके कारण हैं और अशुभकर्म तो बंधकके कारण हैं ही। ऐसा नहीं जानते हैं तो वे क्रियाकांडोंको मोक्षका हेतु मानते हैं।

प्रवृत्तिमें ही धर्मकी धुन होनेपर विडम्बना एक वर्तमान प्रदर्शन—शुद्ध नहा-धोकर आ गए, पूजा करने खड़े हो गए या रास्तोंमें आ रहे हैं और किसीने छू लिया तो एकदम क्रोध आ जाता है। क्या यह क्रोध आना चाहिए था? नहीं जो अपना शोध कर रहा है क्या उसे ऐसा गुस्सा आना चाहिए था? नहीं। मालूम होता है कि अन्तरका उसने शोध नहीं किया था और बाहरी शोधमें ही धर्मका आग्रह था और धर्मका उसे व्यामोह था, इस कारण गुस्सा आ गया। नहीं तो कर्तव्य क्या था कि अपने जानभर शुद्ध होकर आए, किसीने छू लिया और आपको सुविधाएँ हैं तो दूसरा पकड़ा बदल सकते हैं। आप फिरसे कपड़े बदलकर आ जाइए और अगर आपको सुविधा नहीं है तो भगवानसे दूर-दूर ही खड़े होकर तो उनकी भक्ति करना है। मूर्ति तो नहीं छूना है दूरसे ही पूजा करना, देवदर्शन करना यह तो सब किया जा सकता है न सुविधा हो और पूजा करनेका आपका नियम है तो ऐसी हालतमें थोड़े छींटे डालकर खड़े हो जाइए। कैसा भी कर लीजिए पर गुस्सा करना तो अत्यन्त निषिद्ध है। किसलिए तुम पूजा कर रहे थे? इसलिए कि कर्म बंध न हो। और गुस्सा करके कर्म बंध कर लिया। क्या लाभ हुआ? अरे भैया! आत्माकी पहुँच, प्रभुके दरबारकी पहुँच बड़ी उदारता हो तो सकती है। अनुदार व्यक्ति महान् आत्माके दरबारमें नहीं पहुँच सकता है।

ज्ञान बिना कठिन तप भी मोक्षका अहेतु—अब जरा अज्ञानी साधु पुरुषोंकी बात देखो। उन्हींका यह प्रकरण चल रहा है। इतना कठिन तप करते हैं कि यह शरीर सूख जाता है, हड्डियाँ निकल आती हैं पर अपनी बाबत ऐसी दृष्टि रखते हैं कि मैं मुनि हूँ और मैं तप कर रहा हूँ, ठीक कर रहा हूँ, इस भवसे ही मोक्ष होगा। अरे उसने तो अपने आत्माके शुद्ध तत्त्वके विकासको ढक दिया। पहिली प्रतीति तो यह होनी चाहिए कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, केवल ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी स्थिति ही तो यह धर्म है। इससे मोक्ष मिलता है। और इस स्थितिको बनानेके लिए ही ये व्रत तप आदि करना अंगीकार किया है। अपना लक्ष्य विशुद्ध रखना चाहिए था, किन्तु लक्ष्यको तो छोड़ दिया और जो शरीरसे, मनसे, वचनसे जो क्रियाएँ करते हैं उन क्रियावोंमें ही रत हो गए। अब यह बतलावो कि मोक्ष कहाँ होता है? अज्ञानी जीव मोक्षके रचनेका काम नहीं कर सकता। इसी प्रकार ज्ञानी जीव संसारके रचनेका काम नहीं कर सकता। कल्याणका उपाय बहुत सुगम है। जिस ओर को देख रहे हैं उस ओरसे मुड़ना है और जिसको हम देख नहीं पा रहे हैं उस ओर आना है। बस यही तो

मोक्षका मार्ग है। प्रत्येक सम्भव उपाय द्वारा इस आत्माकी रुचि को उत्पन्न करो। धन वैभवको ही उपयोगमें स्थान न दो। सहायक कोई न होगा।

परसे परकी अशरणता—पूर्वकालमें बाल्मीकि ऋषि हुए हैं, उनके सम्बन्धमें एक कथा है कि वे पहिले जंगलमें रहते थे और डकैतीका काम करते थे। जो उस रास्ते से निकलता थ उसे लूट लेते थे। लुटने वालेने कुछ गड़बड़ किया ते ठोक दें, यह उनका काम था। वर्षों यह काम चला। एक बार एक संन्यासी उस रास्तेसे निकला। बाल्मीकिने टोका, खड़े रहो, खड़ा हो गया। तुम्हारे पास क्या है? यह कम्बल है और यह डंडा है और एक छोटी-सी बाल्टी है। रख दो ये। रख दिया। क्यों रखा लिया? अरे तुझे पता नहीं है कि यहाँ बाल्मीकि रहता है उसका यही काम है।...अच्छा ठीक है रखा लो पर एक काम करो कि सामान चाहे अपने पास ले लो चाहे यहीं रख दो, हम बैठे हैं, यहाँ से हम नहीं जायेंगे पर अपने घर जावो और घरवालोंसे सबसे पूछकर आवो कि हम तुम्हारे लिए जो पाप करते हैं, डाका डालते हैं, दूसरोंको सताते हैं तो उसमें जो पाप बंधेंगे उनका तुम भी बाँट लोगे क्या?

बाल्मीकिने कहा अच्छा। अपने घर गया, क्रमशः सबसे पूछा। माँ ने कहा कि बेटा जो तुम पाप करते हो, सैकड़ोंको लूटते हो, दुःखी करते हो उससे जो पाप बंध होता है वे पाप तो आपको ही मिलेंगे, हम कैस बाँट लेंगी। पापका नाम बोलते ही डर लगता है, क्योंकि ऐसा लगता है कि यदि कह दिया पाप तो समझो पाप लग जायेगा। सो माँ ने मना कर दिया, स्त्रीने भी मना कर दिया, जब सबने मना कर दिया तो उसका चित्त बिल्कुल पलट गया। अहो यह जीव अकेले ही पाप करता है और अकेले ही उसका फल भोगता है। कोई किसीका शरण नहीं है। बाल्मीकिने भक्ति जगी और साधुके पास आकर बोले साधु महाराज, मुझे आपका कुछ नहीं लूटना है। मुझे तो आप अपने जैसा बना लें। मैं देख चुका हूँ इस जगत के सब रंग तरंग।

अपनेको परसे सशरण मत मानो—सो यहाँ अपने आपके बारेमें समझो कि मेरा शरण कोई दूसरा जीव नहीं है। किसीका विश्वास न करो, कोई मुझे संकटोंसे नहीं बचा सकता, घरमें बहुत आराम है और कदाचित् घरके किसी पुरुषका दिमाग चलित हो जाय तो उसे आप आराम तो ऊपरी शरीरका दे देंगे पर वह शरीरके आरामसे मौजमें नहीं रहता, उसका दिमाग खोटा हो गया, अर्ध पागल हो गया। अब बतलावो मेरी शरण कौन हो सकता है? ज्यादाह मुहब्बत बढ़ गई तो आप आगराके पागलखानेमें ले जाये जायेंगे। और आप करेंगे क्या? कदाचित् उसे समझाते हुएमें आपको ऐसा दिखने लगेगा कि इसका दिमाग पागल होने वाला है तो उसकी तरफ आप झाकेंगे भी नहीं। कौन किसका शरण है?

अपने परमशरणकी दृष्टि—तब फिर अपना जो परमशरण है उस शरणकी दृष्टि करिये। किसी भी समय तो उपयोगको सबके बन्धनसे सर्वथा निकाल दीजिए। मैं आकिञ्चन्य हूँ, मेरा कहीं कुछ नहीं है। इन जीवोंको अन्तःस्वरूपमें देख लीजिए और अपने आपमें बसे हुए परमात्मस्वरूपके

दर्शन कर लीजिए। यह ज्ञायकस्वभावी भगवान अनादिसे है और अनन्तकाल तक है, एक स्वरूप है। इसकी दृष्टि किए बिना यह संसारको समस्त जीव लोक नाना योनियोंमें, कुलोंमें भ्रमण करता जा रहा है। इसके संकट मिट सकते हैं। तो स्वरूपमें ही प्रवेश करनेपर मिट सकते हैं।

मेरे लिए भले-बुरेकी समीक्षा—मेरे लिए बड़ा कौन? मैं। और मेरे लिए बुरा कौन? मैं। सब जगह देखते जावें, पर मेरे लिए बुरा कोई दूसरा नहीं मिलेगा। दूसरे अटपट चलते हैं तो वे अपने लिए ही बुरे हैं, मेरे लिए बुरे नहीं हैं। मैं अटपट चलूँ तो अपने लिए बुरा हूँ। मेरे लिए भला कोई भी दूसरा नहीं है। व्यवहारतः मेरे लिए यदि भले हैं तो वे अरहंत और सिद्ध ही भले हैं। अरहंत भगवान अपने लिए भले हैं क्योंकि उनके निर्दोष रहनेसे वे ही आनन्दमग्न हैं और वे ही ज्ञानका आनन्द लूट रहे हैं। उनका ध्यान करके अपना पुरुषार्थ बनाकर मैं उस मार्गकी ओर चलूँ तो मैं अपने लिए भला हो सकता हूँ। इसलिए अपने आपका समस्त भविष्य अपने आपपर निर्भर जानकर एक आत्मकल्याणके मार्गमें लगूँ।

आत्मविकाससे आत्माका महत्त्व—देखिए जैनदर्शनमें जो ५ परमपद कहे गए हैं अरहंत, सिद्ध, उपाध्याय, आचार्य और साधु, इसमें कोई पक्षपात नहीं है। किसी व्यक्तिको हमने बड़ा बना दिया हो और उनकी भक्ति किया करते हों ऐसा यहाँ नहीं है। जो भी आत्मा समस्त आरम्भ परिग्रहण त्याग करके अपने आत्मतत्त्वकी भावनाके बलसे कर्मोंका विनाश कर लेता है उसे कहते हैं आचार्य उपाध्याय और साधु। वहाँ किसी भी पुरुषका कोई पक्ष नहीं है। जो भी आत्मा, आत्माकी साधना कर सके उसे साधु कहते हैं। उन साधुओंमें जो मुख्य हो, दूसरोंको शिक्षा दीक्षा देकर परकल्याण भी कर सके उसे आचार्य कहते हैं। जो ज्ञानमें बहुत बढ़ा-चढ़ा हो और साधुओंको भी ज्ञानकी बात सिखा सके उसे उपाध्याय कहते हैं। कोई पक्षकी बात है क्या यह?

परमात्मपद—ये तीनों परमेष्ठी आचार्य, उपाध्याय व साधु अपने ज्ञान, तपस्याके बलसे जब चार घातिया कर्मोंको नष्ट कर देते हैं; अर्थात् वीतराग, निर्दोष विश्वके ज्ञाता बन जाते हैं तो उनका नाम है अरहंत। यहाँ किसी व्यक्तिका नाम नहीं लिया गया। जो भी वीतराग निर्दोष पूज्य बन गया है उसे कहते हैं अरहंत। और यह अरहंत जब शेष अघातिया कर्मोंका भी क्षय कर देता है, संसारसे भी पृथक् हो जाता है, सर्वथा सिद्ध हो जाता है तो उसे कहते हैं सिद्ध। तो किसीको ऐसा शुद्ध निर्दोष परिपूर्ण बनना है तो वह पदोंका आचरण करे। इस आत्माकी पवित्र स्थितियोंकी पूजा करे। यह णमोकार मंत्रका मर्म है। यहाँ कुछ भी पक्ष नहीं और इसी कारण यह मंत्र प्रत्येक कल्याणार्थीका मंत्र है। जो इन परम पदोंकी आराधना करेगा वह आत्मस्वभावको पहिचानेगा।

उक्त उपायसे वह आत्मलक्ष्यके समीप पहुँचेगा। इसके विपरीत यदि कोई मोही शरीरासक्त भोगलम्पटी पुरुषके साथ संगति करेगा। वह संसारमें रुलेगा। चाहे अपना नाम गुरु प्रसिद्ध करा रखा हो। यदि वह आरम्भमें परिग्रहणमें विषयोंमें आसक्ति रखता है, लौकिक स्वार्थ साधना ही जिसका लक्ष्य है उसकी संगतिमें इसकी उपासनामें भक्तजनोंको लाभ नहीं हो सकता। चाहिए हमें

आत्मकल्याण। तो जो आत्मकल्याणमें लगे हुए हैं, आत्मकल्याण कर लेते हैं ऐसे आत्माओं की हमें उपासना करना है। और वे आत्म हैं ५। सिद्ध, अरहंत, उपाध्याय, आचार्य और साधु। इनमें मोक्षस्वरूपका सम्बन्ध है, इसलिए इनकी श्रद्धा करके हमें अपने आपकी उपासना करना चाहिए। पुण्यकर्म मोक्षका हेतु नहीं है। इस वर्णनके बाद यह प्रश्न होना स्वाभाविक है तब फिर परमार्थसे मोक्षका हेतु क्या है? इसही के उत्तरमें रत्नत्रय ही मोक्षका मार्ग है यह बात दिखलाते हैं।

**जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपदो ॥ १५५ ॥**

जीव आदिक सात तत्वोंका श्रद्धान करनेसे तो सम्यक्त्व है और उन ही तत्वोंका ज्ञान करना सो ज्ञान है और रागादिक भावोंका त्याग करना सो चारित्र है। मोक्षका मार्ग यही रत्नत्रय है।

मोक्षमार्गकी आत्मरूपता—मोक्षका कारण सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है। ये तीनोंके तीनों आत्माके एक परिणमन रूप हैं, एकस्वभाव रूप है, किन्तु भेददृष्टिसे इनको अलग-अलग बताया है। जैसे अग्निका काम एक है और वह काम क्या है एक? सो ऐसा विलक्षण काम है कि उसको मुखसे नहीं बताया जा सकता है। आप कहेंगे कि हम बताते हैं तो सुनो। अग्निका काम है जला देना। यही अग्निका काम है तो क्या प्रकाश करना अग्निका काम नहीं है? बता ही नहीं सकते मुखसे। अग्निका काम जो एक है। पर उसही कामको प्रयोजनके वशसे भेदरूपसे कहा करते हैं कि यह जलाती है, प्रकाशित करती है और अच्छी बुरी भी लगती है। किसीको अग्नि अच्छी लगती है, किसीको अग्नि बुरी लगती है तो क्या पचासों अग्निके काम हैं। उसका तो एक स्वभाव है और एक कार्य है। इसी प्रकार आत्माका तो एक स्वभाव है और एक ही कार्य है। मोक्षमार्गके प्रकरणमें उस एक कार्यको इन तीनों रूपोंमें बता सकते हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, पर इन सबका सम्बन्ध ज्ञानसे है।

आत्माकी खोजमें ज्ञानका माध्यम—इसी कारण आध्यात्मिक पद्धतिमें इसका यह लक्षण बनता है कि जीवादिकके श्रद्धानके स्वभावसे ज्ञानके होनेका नाम है। सम्यग्दर्शन। इसके अन्तरमें मिलेगा क्या? ज्ञान। अच्छा जरा श्रद्धानसे तो ढूँढो कि आत्मामें कहीं श्रद्धा छुपी है? अच्छा जरा आनन्दको भी ढूँढो। जैसे अपने घरमें ढूँढते हैं तो वहाँ पुस्तक चौकी कोई न कोई चीज मिल जाती है, इसी प्रकार जरा अपने आत्माके घरको ढूँढो, वहाँ आनन्द ढूँढो, श्रद्धान ढूँढो, कुछ न मिलेगा, ज्ञान मिलेगा। वे श्रद्धान आनन्द वगैरह ज्ञानके माध्यम में उपस्थित होंगे। आनन्द क्या चीज है? ज्ञानका इस ढंगसे होना जिससे कि आनन्दका अनुभव हो उसका नाम आनन्द है। दुःख किसका नाम है? ज्ञानका विपरीत कल्पनाके रूपमें उपस्थित होना इसका नाम दुःख है। सुहावने रूपमें उपस्थित होना उसका नाम सुख है। तो आत्माको खोजो, इसमें ज्ञानके सिवाय और कुछ न मिलेगा। सुख, दुःख, आनन्द, सम्यग्दर्शन विपरीत श्रद्धा जितनी भी बातें लगावो, वे सब ज्ञानके रूपमें मिलेंगी। ज्ञानके सिवाय आत्मा में और कुछ प्रतीत न होगा।

रत्नत्रयकी ज्ञानरूपता—मोक्षका मार्ग जो ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं ये भी ज्ञानके विशेषरूपक हैं। जीवादिक ७ तत्त्वोंके श्रद्धानके स्वभावसे ज्ञानके होनेका नाम सम्यग्दर्शन है। जीवादिक तत्त्वोंके जाननेके स्वभावसे ज्ञानके होनेका नाम सम्यग्ज्ञान है। और रागादिकोंसे दूर बने रहने के स्वभावसे ज्ञानके होनेका नाम सम्यक्चारित्र है। अपन जो तप, व्रत, नियम रखते हैं, पालते हैं और शरीरी चेष्टाएँ भी बड़ी भली-भली करते हैं। इन सब प्रसंगोंमें जितना ज्ञान रागादिकसे दूर रहेगा उतना तो है। चारित्र और बाकी चलना, उठना, बैठना, शुद्ध खाना ये सब केवल व्यवहार है। जो ज्ञानी अध्यात्मरंगसे रंगा है वह चले तो कैसे चले, उसीका नाम व्यवहार धर्म है। पर जिस ज्योतिके होनेपर उठना, बैठना, चलना भी धर्म कहलाने लगा उस ज्योतिका तो कोई ख्याल नहीं करते और केवल उस ज्ञानीके चलने उठने, बैठनेको ही निरखा जाय, उसे ही धर्म मानें तो धर्मका दर्शन नहीं हो सकता है।

परमार्थदृष्टि रहितका व्यवहारमें प्रवृत्त होनेका एक दृष्टान्त—कोई धनी व्यापारी चावलके मिल पर गया। चावल खरीदा तथा १ हजार बोरी धान खरीदा। धान तो आप जानते हैं? खरीद लिया। पीछे रहता था एक अज्ञानी गरीब पुरुष। उसने सोचा कि यह कैसे धनी बन गया है, इसकी कुछ करतूत तो देखें। जो यह करे सो हम करें तो हम भी धनी बन जायेंगे। पीछे रहता था, उसने देखा कि यह जो खरीद रहा है वह कुछ मटमैला सा है। दूसरे दिन उसने भी वैसी ही चीज, उसी प्रकारकी उसी रंगकी मिल पर ढेर लगा हुआ देखा, सो खरीद लिया। अब ऐसी मशीनें चल गई हैं कि धानमें से चावल निकल आता है और वह छोक ज्योंकात्यों साबुत रहता है। बिल्कुल साबुत रहता है। होता क्या है कि चावल तो उससे निकल जाता है और चावल निकल जानेके बाद वह छेद मुँद जाता है। यह स्वाभाविक बात है। अभी आप किसी कागजमें छेद करदें तो बादमें अपने आप सिकुड़ जाता है। तो उसने तो खरीदा २० रुपये मन और इसने खरीद लिया १० मनमें सोचा कि हम बेचेंगे तो ज्यादाह लाभ मिलेगा। खरीद लिया, बाजार में गया। सारा ही टोटा पड़ गया। सोचा कि काम तो वैसा ही किया जैसा कि उस व्यापारीने किया था। वही चीज, वही रंग, वही ढंग, वही प्रसंग। तो भाई पूरा कैसे पड़े? उसके भीतर जो सार तत्व चीज है चावल, उसका तो ज्ञान नहीं किया, खरीदा तो छिलका, लाभ कैसे मिले?

परमार्थदृष्टि रहित व्यामोहीका प्रवर्तन—इसी प्रकार इस ज्ञानी जीवके जो विवेक सहित चलना, उठना, बैठना खाना है वह तो छिलका है और अन्दरमें जो ज्ञानज्योति दमक रही है वही सार है और इस ही कारण वह छिलका भी मूल्य रख रहा है। सार निकल गया, फिर छिलकेका मूल्य क्या? प्रवृत्ति हो तो धार्मिक प्रसंगोंमें और सारको निकाल बैठे और केवल क्रियाकांडों में ही लगे रहे तो ये क्रियाकांड ज्ञानका बिल्कुल मूल्य नहीं रखते। देखो अन्तरमें केवल ज्ञानका ही सारा समारोह दिख रहा है।

मोक्षका हेतु अज्ञानमय रागादिकसे अलग रहते हुएके रूपसे रहनेका नाम सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र तीनोंकी एकता ही ज्ञान का होना कहलाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमार्थभूत मोक्षका कारण ज्ञान ही है। सभी दर्शनोंने ज्ञानकी महिमा गाई है। कोई कहता है कि प्रकृति और पुरुषका यथार्थ भेदज्ञान हो जाय तो उससे मोक्ष होता है। कोई कहता है कि ब्रह्मका सत्य यथार्थ ज्ञान हो जाय तो मोक्ष होता है। जैनदर्शन कहता है कि वस्तुओंके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान हो जाय तो मोक्ष होता है। उसमें वीतराग चारित्रके अविनाभूत ज्ञानको कहा है। ज्ञान ही परमार्थ मोक्षका कारण है। अब बतलाते हैं कि परमार्थभूत मोक्षका कारण जो ज्ञान है उस ज्ञानसे अतिरिक्त जो अन्य कुछ कर्म हैं, क्रियाएँ हैं वे हैं, मोक्षका हेतु नहीं है ऐसा दिखाते हैं।

**मोक्षोण णिच्छयट्ठं ववहारेण विहुसा पवहंति।
परमट्ठमस्सिदाण हु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥ १५६ ॥**

योगचेष्टामें द्रव्यान्तरस्वभावता कोई लोग परमार्थ मोक्षका कारण ज्ञान नहीं माना करते। व्रत, तप आदि शुभकर्मोंको मानते हैं वह प्रतिसिद्ध है, युक्तवाद नहीं है। ये व्रत, तप आदि तो द्रव्यान्तरके स्वभाव मन, वचन, कायके परिणमन हैं। मन, वचन, कायके परिहरण स्वभावरूपसे ज्ञानका होना बनता है। ज्ञानके सम्बन्धके कारण इन व्रत, तप आदिक का मूल्य है। मोक्षमार्गमें। ज्ञानका सम्बन्ध न रहे तो इनका कोई मूल्य नहीं है। व्यवहारमें यों बहुतसी बातें बोलते हैं जैसे घी का डिब्बा। तो यह घीका डिब्बा है क्या? नहीं। अरे घीका डिब्बा बनावो तो जाड़ेमें बन सकता है पर आगपर तपनेको धर दिया तो वह घीका डिब्बा खत्म हो गया। होता है क्या घीका डिब्बा? नहीं। जिस डिब्बेमें घी रखा जाता है उसका नाम ही है घीका डिब्बा।

उपचारमें बेढब व्यवहार उपचारकी बात तो कही बड़ी बेढब भी हो जाती है। ये मेहतर लोग होते हैं तो घर कमाया करते हैं। किसीके चार हवेली लगी हैं तो किसीके १० हवेली लगी हैं। उनका विष्टा ये मेहतर लोग उठाया करते हैं। तो वे मेहतर लोग आपसमें बातें करते हैं कि हमारेसे तुम्हारे पास ६ हवेली ज्यादा हैं, ८ हवेली ज्यादा हैं और ब्याहकाजमें हवेली को गिरवी भी रख देते हैं। १० हवेली बाले ने २ हवेली गिरवी में रखदी तो उसके पास ८ हवेली बची। अमुक सेठकी और अमुक ऑफिसरकी हवेली गिरवीमें रख दी और ब्याहमें जब दाम आ गए तब हवेली उठाली। उनका उन हवेलियोंसे थोड़ा सा सम्बन्ध है इसलिए हवेली वाले कहलाते हैं। इसी तरह यह समझो कि जिस घरमें हम और आप रहते हैं वह भी वैसा ही है। हाँ थोड़ासा फर्क इतना हो गया है सो उस घरसे आपको कोई निकाल नहीं सकता है और उस मेहतरको थोड़ीसी सफाई करनी थी, यहाँ बहुत दूर तक की सफाईका काम लगा है। यदि मृत्यु हो जाय तभी इस घरसे आप अलग हो सकते हैं, नहीं तो उस घरसे आपको कोई हटा नहीं सकता है। इतना थोड़ासा लोकव्यवस्थाके नाते आपको अधिकारसा मिला हुआ है। इतनी ही तो बात है। वास्तविक अधिकार तो नहीं, तिस पर भी तुम कहते हो कि यह मेरी हवेली है। इतना अधिकार तो उन मेहतरोंको भी है। कि उनकी हवेलियोंको

कोई छुड़ा नहीं सकता। हाँ मालिक ही नाराज हो जाय तो वह छुड़ा सकता है। तो इसी प्रकार ये यमराज ही नाराज हो जायें और घर छूट जाय, यह भी तो हो सकता है।

अज्ञानपरिणामनसे मोक्षकी त्रिकाल असम्भवता—अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थोंको ही अपना-अपना कहते फिरते हैं, पर परमार्थसे देखो तो किसीका कोई दूसरा पदार्थ कुछ नहीं है। फिर बाह्य पदार्थ तो मेरे कुछ नहीं हैं। चूँकि यह ईश्वर है, प्रभु है, ज्ञानी है, समर्थ है सो जिस चाहे पदार्थको अपना मान बैठता है। बाह्य पदार्थोंको अपना मान बैठता है। बाह्य पदार्थोंको अपना मान बैठना यह बंधन है और तत्त्वज्ञानके बलसे अन्तरमें यह भ्रम मिट गया, ज्ञान हो गया यथार्थ, इसीके मायने मोक्ष मार्ग है। तो ज्ञानभावके अतिरिक्त जितनी भी तन, मन, वचनकी क्रियाएँ हैं ये मोक्षके कारण नहीं हैं क्योंकि तन, मन, वचन के परिणामन ज्ञानके होनेके रूपसे नहीं होता। मोक्षका मार्ग तो, परमार्थ मोक्षका हेतु तो एक द्रव्यका स्वभाव है।

वास्तवमें मोक्षकी एकद्रव्यस्वभावरूपता—मोक्ष मायने छूटना अर्थात् अलग होना। अलग होना अलग हुए द्रव्यके स्वभावरूप हैं, दूसरे वस्तुके स्वभावरूप नहीं है। जैसे हाथ का हाथसे यह बंधन है। एक हाथसे दूसरा हाथ छूट गया तो इसका जो छूटना है वह किसके स्वभावरूप है सो बतलावो। आप कहेंगे कि इस कमरेमें बैठा हूँ तो इस कमरेके रूप है हाथसे हाथका छूटना। क्या यह उत्तर आपको जंचा? नहीं। आप कहेंगे कि इतने श्रोता लोग सामने बैठे हैं सो यह मोक्ष इन श्रोतावोंके स्वभावरूप है। तो क्या यह छूटना इन श्रोतावोंके स्वभावरूप हैं? नहीं। तो कमरेके स्वभावरूप है? नहीं। दूसरोंके स्वभाव रूप है? नहीं। और कदाचित् दूसरा आदमी इस एक हाथको पकड़कर मसलकर छोड़ दे तो उस दूसरे आदमीके स्वभावरूप भी नहीं है इस हाथ का छूटना। इस हाथकी मुक्ति इस हाथके ही स्वभावरूप है। इसी प्रकार आत्मामें कर्मोंका बंधन लगा है और उस प्रसंगसे आत्मा छूट जाय तो आत्माका यह छूट जाना कर्मोंके स्वभावरूप है या व्रत एवं तपस्यावोंके स्वभाव रूप है या आत्माके स्वभावरूप है? यह आत्माका छूटना आत्माके स्वभावरूप है।

हितके लिये ज्ञानकी वर्तना आवश्यक—यह आत्मा ज्ञानको ही अन्य कल्पनामें जकड़कर बंध रहा था और ज्ञानको ही सुधारकर छूट गया। तो चूँकि आत्माका मोक्ष ज्ञानके होने रूप है तो मोक्षका मार्ग भी ज्ञानके होने रूप है। इसलिए शांति पानेके लिए एक आत्मतत्वका आराधन करो, ज्ञानस्वभावका आराधन करो। प्रवृत्तिसे सबके उपकारी रहो पर भीतरमें अपने आत्माका ही नाता रखो। आप कहेंगे कि यह तो मायाचार हुआ। मायाचार नहीं है। हमें कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं करना है। कदाचित् मेरे ज्ञानमें इतनी प्रबलता आ जाय कि साक्षात् परिवारको छोड़कर, एकाकी साधु बनकर मैं ज्ञानसाधनामें रह सकूँ। पर यह तो करना कठिन दिख रहा है, क्योंकि रागका उदय है, कमजोरी है, कर नहीं सकते हैं, इस कारण परिवारके लोग छोड़े नहीं जा सकते तो भला वार्तालाप कीजिए, न्यायपूर्ण व्यवहार कीजिए, और अपने आत्मतत्वका स्मरण कीजिए। परमार्थ ज्ञानस्वरूप ही हम और आपके लिए शरण है। अन्य कोई पदार्थ हमारे लिए शरण नहीं है।

धर्म सजावटसे अत्यन्त दूर—ज्ञानका होना ज्ञानके स्वभाव रूप है और यह ज्ञानका होना एक द्रव्यके स्वभावरूप है। इसलिए मोक्षका हित ज्ञानस्वरूप है, अन्य कुछ नहीं है। मोक्ष कोई दिखावटी काम नहीं है, बनावटी काम नहीं है, सजावटी काम नहीं है। यह तो दिखावटसे बिल्कुल दूर रह जाय, बनावटसे बिल्कुल दूर रह जाय, सजावटसे बिल्कुल दूर रह जाय, उसका काम है। धर्म दिखाने, बनाने, सजानेसे नहीं होता। दिखाने, बनाने, सजाने में जितना अधिक रहोगे उतना ही अधिक ज्यादा धर्म है। यह गुप्त आत्मा गुप्तरीतिसे गुप्त में गुप्त हो जाय, बस यही धर्मका पालन है। इस ज्ञानकी साधना अधिकाधिक कर लीजिए अन्यथा मनुष्य भवके ये क्षण व्यतीत होते चले जा रहे हैं। समय बिल्कुल निकट आ जायगा जब कि इन लौकिक जीवोंसे विदा लेना होगा। सबकी हालत देख लो, वही हाल अपना होगा। इस कारण जो जीवन शेष रह गया है। इस शेष जीवनमें आत्मश्रद्धा, आत्मज्ञान और आत्मरमणकी प्रक्रियाको अधिक बना लो तो इस भोगसे, इस समाधिसे हमारा आपका कल्याण है।

गृहस्थके षट् कर्तव्य—अब आप गृहस्थ हैं तो इस गृहस्थके नाते आपका क्या कर्तव्य है कि धर्ममार्ग भी आसानीसे मिले और तुम्हारा काम भी ठीक चले। उसके लिए ६ कर्तव्य आपको बता दिये गए। गृहस्थको प्रतिदिन देवपूजा, देवदर्शन करना चाहिए संस्कार तो बने रहेंगे। आत्मदर्शनके लिए बहुत काम है। दूसरा काम है गुरुवोंकी उपासना करना, सत्संग करना, सेवा करना और विनयपूर्वक उनसे कुछ अपने ज्ञानका लाभ लेना। तीसरा काम है प्रतिदिन स्वाध्याय करना। चौथा काम है संयम करना, शुद्ध खाना, जीव रक्षा करना। ५वां काम है तप करना। पुण्योदयसे जो मिला है उसमें ही गुजारा करके प्रसन्न रहो। दूसरों की बढ़ती हुई सम्पदाको देखकर मनसे इच्छा न करो कि मेरे भी यह सब हो जाय। धन ज्यादा हो गया तो क्या, कम रह गया तो क्या। विनाशीक ही तो है, परद्रव्य ही तो हैं। यही है गृहस्थका तप। और छठवां कर्तव्य है प्रतिदिन यथावश्यक दान करना। ये गृहस्थके ६ कर्तव्य हैं। अपने इन ६ कर्तव्योंमें बराबर गृहस्थ लगा रहे तो इसका भविष्यमें बहुत उद्धारके अवसर आयेंगे।

हितका उपाय—विषय कषायोंमें लगनेसे इस गृहस्थको कोई हित नहीं हैं तीन घंटे, २ घंटे समय अपना धर्मकार्य में व्यतीत हो और आत्मानुभवके लिए ५-७ मिनटका भी अभ्यास बना रहे तो प्रक्रियावोंसे अपना भविष्य उज्ज्वल होगा। किए बिना कोई काम पूरा नहीं पड़ता। आत्मा का कार्य पूरा करना है तो विधिपूर्वक हमें करना चाहिए। इस प्रसंगमें कषाय न जगेगी। किसी भी पदार्थमें ईर्ष्या नहीं होती। किसी भी धर्मकी योजनाको उठाने के लिए जो सामर्थ्य है वह तो साधें, पर किसीको कोई बाधा न दे। इस विधिसे चलनेपर अपना उत्थान होगा।

संकटोंसे मुक्तिका उपाय—यह प्रकरण चल रहा है कि मोक्ष कैसे होता है? यह सारा संसार दुःखमय है, इससे छूटनेमें ही भला है। इससे छूटनेका उपाय क्या है, इसका प्रकरण यह चल रहा है छूटनेका उपाय बताया है ज्ञान। लोकमें परमार्थके अपरिचितोंकी बहुलता है इस कारण यह प्रसिद्ध

हो गया है कि बड़े-बड़े तप करना, व्रत करना, मन, वचन, काय की अच्छी चेष्टा करना इनसे मुक्ति होती है। दीन दुखियोंका उपकार करना, देशसेवा करना, इससे मुक्ति होगी ऐसा प्रायः लौकिक पुरुषोंने कहा है। यद्यपि ये बातें परकृत उपेक्षा है। दीनोंका उपकार करना, व्रत नियम करना, तपस्या करना, तो भी जब यह विचार करते हैं कि इस क्लेशमय संसारमें सदाके लिए कैसे छूटें, तो उन उपायोंमें उपाय शामिल नहीं है। सदाके लिए संकटोंसे छूटनेका उपाय आत्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान है।

मोक्षमार्गमें ज्ञानविकासका अनुसारित्व—यथार्थ ज्ञान होनेपर भी जब तक इस जीव के राग चलता है तब कि इसे रागका काम करना पड़ेगा। ज्ञानी जीवसे विषयकषाय विडम्बना राग करते नहीं बन सकता। ज्ञानी जीवके राग हो तो वे तप, व्रत, संयम, नियम शील, उपकार, भक्ति, सत्संग इस प्रकारका ही राग किया करते हैं। तो भी जितना रागका अंश है उतना तो पुण्यका कारण है और पुण्यके फलमें संसारका रहना होता है और जितने अंशमें उसका ज्ञान है, सदा वीतराग ज्ञानस्वरूपकी ओर झुकते रहना है, इतना ही मोक्षका हेतु है। मन, वचन, काय पुद्गलके स्वभावसे होते हैं, और वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान, ज्ञानके स्वभावसे होता है। आत्मा है ज्ञानमय इसलिए आत्माके स्वभावसे जो कार्य होगा वह तो मोक्षका कारण बनेगा और आत्माके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंके स्वभावसे जो कार्य होगा वह आत्माके मोक्षका कारण न बनेगा। ये मन, वचन, कायकी क्रियाएँ पुद्गलद्रव्यके स्वभाव से होती है। कर्मके स्वभावसे अर्थात् प्रकृतिका निमित्त पाकर जो होता है वह ज्ञान का होना नहीं कहलाता है, वह अन्य द्रव्योंके स्वभावसे होता है। इस कारण वह मोक्षका कारण नहीं है।

शुभ व्यवहारकी साधकता व बाधकता—यद्यपि मन, वचन, काय की चेष्टाएँ व्रत, तप, नियम आदिक ये सभी कार्य अवसर तो देते हैं इस जीवको कि मोक्षके मार्गमें लगे तथापि साक्षात् मोक्षको तिरोहित करते हैं, ये बंधरूप हैं इसलिए इनका निषेध किया जाता है। जैसे कोई पुरुष सिखरजी की यात्राको चले, आधे पहाड़ पर चढ़ गया, थक गया बेचारा तो अब एक वृक्ष के नीचे १० मिनटके लिए बैठ जाता है। अब १० मिनटको जो वह बैठ गया उसका यह बैठना यात्राका साधक है या बाधक? यह प्रश्न सामने आता है। उत्तर दोनों मिलेंगे। यात्राका साधक भी है और बाधक भी। बाधकतो स्पष्ट है कि १० मिनटको यात्रा रुक गई। और साधक यों है कि थका हुआ था, आगे इस स्थितिमें जानमें वह असमर्थ था। तो बैठकर अपनी शक्ति बढ़ा रहा है और अपनी शक्तिको उत्पन्न करके फिर आगे आसानीसे यात्रा कर सकेगा। इस कारण उसका १० मिनटको बैठना उसके लिए साधक है। इसी प्रकार ये व्रत, तप, नियम जो किए जाते हैं यह बतलावो कि ये मोक्ष के साधक हैं या बाधक? बाधक तो प्रकट है, क्योंकि जब उपयोग परद्रव्योंमें लग रहा है, तप, व्रत, नियम ये परभाव हैं। इनसे जब उपयोग चल रहा है तो उपयोग, उपयोगमें नहीं जा रहा है। इसलिए बाधक है। और साधक इसलिए है कि यह सन्मार्गमें उपयोगमें चलते थक गया है,

पुराने रागका उदय आता है तो उस थकानसे कहीं थक कर यह वापिस न लौट आये, विषय कषायोंमें न चल जाय, इस कारण इन शुभ भावोंमें लगता है और यह अपनी शक्तिको प्रकट करता है, ज्ञानभावना बढ़ाता है, फिर आगे आसानीसे यह चल सकता है।

ज्ञानकी प्रथम आवश्यकता—भैया! कुछ भी हो, प्रत्येक स्थितिमें आत्माका यथार्थ ज्ञान करना हितके लिए आवश्यक है। जो हितका मार्ग है वह करते नहीं भी बनता तो भी उसका सच्चा ज्ञान तो आवश्यक है, क्योंकि जितना भी फल जीवको मिलता है वह ज्ञानकी विधिसे मिलता है। यहाँ जिस प्रकारका ज्ञानका उपयोग रहता है उस ही प्रकारका सुख-दुःख आनन्द मिलता है। कोई जानता हो कि हमारे घरके लोग बड़े आज्ञाकारी विनयशील हैं इस कारण इनमें हमें आनन्द मिलता है यह सोचना भ्रम है। उनसे आनन्द नहीं मिलता, किन्तु उनका ख्याल करके अपने आपमें जो एक साताका परिणाम बन जाता है और उस प्रकारका ज्ञान बन जाता है उस ज्ञानसे आनन्द मिलता है। पुत्र, मित्र, स्त्री आदिसे आनन्द नहीं मिलता है।

एकत्वका मर्म—यह आत्मा देहरूपी मंदिरमें अकेला विराजमान है और यह अपने में अपनी परिणतिसे काम करता चला जा रहा है, यह दूसरेका कुछ नहीं करता है और न दूसरे इसका कुछ करते हैं। यह अपने स्वरूपके दृढ़ किले में बैठे-बैठे अपने ज्ञानके अनुसार अपनी भाव रचना बनाता है। यह मर्म जिसने जाना है वह संसारसे मुक्त हो सकता है। और यह मर्म न जानकर बाह्य पदार्थोंसे ही अपना हित मानकर, उनसे सम्बन्ध मानकर उनकी ही ओर जो आकृष्ट हो रहे हैं उनको इस संसारमें जन्म मरणके चक्र लगाना पड़ता है।

सदाचारकी अविफलता—जैसे एक घटना की बात है कि दो मित्रोंमें एक चर्चा छिड़ी परभावोंके बारेमें। एकने कहा था कि परलोक कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह सब यहीं की चीज हैं। मरेके बाद फिर इसका निशान भी नहीं रहता। परभव कुछ भी नहीं है। यह तो खाने कमानेके लिए कुछ लोगोंने दान दक्षिणा मिलती रहे सो एक परभवका भूत लगा दिया। दूसरे मित्रने कहा कि परलोक अवश्य है। और जैसे इस लोकमें यह अपना कार्य करता है उसके अनुसार ही इसे परलोकमें सुख दुःख भोगने पड़ते हैं। बात बहुत देर तक चली। चलने के बाद अंतमें एक बात रखी गई कि अच्छा यह बतलावो परभव न सही, पर तुम किसीको पीटोगे, गाली दोगे, सतावोगे तो तुम सुखसे रह सकते हो क्या? नहीं रह सकते हैं। तो इस लोकमें सुखी रहनेके लिए किसीका दिल दुखाना, किसीका घात न करना यह जरूरी है कि नहीं? है। झूठ बोलोगे, चुगली निन्दा करोगे तो तुम सुख से बैठ सकते हो क्या? नहीं। क्या तुम पर हाथापाई न होगी? हे भाई होगी। तो इस लोकमें सुखसे रहनेके लिए असत्यका त्याग करना चाहिए। ठीक है ना? इसी प्रकार चोरी, डकैती करो तो चैनसे रह सकते हो क्या? नहीं। तो उन चोरीका त्याग करना पड़ेगा। इसी तरह मनको स्वच्छन्द बनाकर जिस चाहे स्त्रीको जैसा चाहे बोल देना, जैसा चाहे व्यवहार रखना, इस प्रवृत्तिमें आफत आयगी या न आयगी, जरूरी आयगी। तो इस लोकमें सुखी रहनेके लिए परस्त्री से नेह न

लगाना आवश्यक है। इसी तरह किसीको परिग्रहण का संचय करनेकी धुन लग जाय तो परिग्रहणकी धुनमें कई तरहके आरम्भ करने पड़ेंगे और झूठ सच भी बोलना पड़ेगा। इस लोकमें भी सुखसे जीना धर्मसे ही हो सकता है और यदि परभव निकल आया तो परभवमें सुख होगा।

परसंचयकी बुद्धिसे विमुख करनेका उद्देश्य—जैसे समुद्रका भराव स्वच्छ जलसे नहीं हुआ करता, गंदी नदियोंसे जलसे समुद्र भरा करता है। जैसे टंकीका फिल्टर पानी को स्वच्छ रखता है, ऐसे स्वच्छ जलसे समुद्र भरा है क्या? नहीं। वह तो मटमैले गंदे पानी से भरा है, इसी प्रकार जो अधिक धन आता है विषयोंका साधन जुटाया जाता है वह स्वच्छ विचारोंसे आता है क्या? नहीं। अभी जो बड़े-बड़े पुरुष हैं, जैसे बिरला, टाटा, बाटा, डाल्मिया साहू आदि जितने भी हैं, और इनकी जितनी कमाई है उनके निकट सम्बन्धी जानने वाले पुरुष समझते होंगे कि कितनी खटपटें, कितनी आपत्तियाँ और कितने ही झंझट उन्हें करने पड़ते हैं। छोटे लोग इतना अन्याय कर सकते हैं क्या, जितना कि बड़े-बड़े लोग किया करते हैं। हमें ज्यादा पता नहीं है पर करीब ऐसी ही बात है। तो परिग्रहण की धुनमें जो परिग्रहण के कार्य करता है वह चैनसे रह सकता है क्या? नहीं। राज उसे चार डाकू हैरान करेंगे। राजा भी सतायेगा, पब्लिक भी सताएगी। तो सुखसे रहनेके लिए परिग्रह कम कर लो। परकी चीजको भ्रमसे मान लिया कि यह मेरी है तो ऐसा भ्रमपूर्वक विपरीत ख्याल करके किसीको चैन मिलती है क्या? नहीं। तो यथार्थ ज्ञान भी शांतिके लिए आवश्यक है। तो अब हम अपनी शांतिके लिए यथार्थ ज्ञान करें, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहका त्याग करें और देखो ऐसा करते हुएमें इस लोकमें तो शांति होगी ही, और परलोकके मामलेमें भी टोटा न रहेगा।

आत्माका सच, आनन्द व उपाय—अब प्राकृति बातको देखो मोक्ष है या नहीं? ऐसी यदि दो तरहकी चर्चा चली हो तो उसमें विचार कर लो। यह आत्मा जब धीरताको त्यागकर, गम्भीरताको अलग कर बाह्य पदार्थोंकी ओर झुकता है और क्षोभमें आता है उस समय यह जीव दुःखी है। और जब बाहरी पदार्थोंमें उलझता नहीं है, विश्रामसे बैठता है, इस ओर संतोष करता है उस कालमें ही इसे शांति मिलती है और आत्मा हो तो, परमात्मा हो तो, मोक्ष हो तो उसकी झलक भी इसे आ जाती है तो जैसे लौकिक आपत्तियों से बचनेके लिए ५ पापोंका त्याग करना जरूरी है। इस प्रकार स्वाधीन सत्य आनन्द पानेके लिए अपने आपके सत्य स्वरूपकी ओर रुचि करना आवश्यक है। हम आप हैं या नहीं पहिले यह विचार कीजिए। यदि कहो कि नहीं हैं तब तो इससे बढ़िया और बात क्या हो सकती है। हम यदि न हों तो बहुत भलेकी बात है। यदि हम न हों तो सुख दुःख ही क्या होंगे, हमें आकुलताएं ही क्या होंगी? यदि हम आप न हों तो यह सर्वोत्कृष्ट बात होगी। मगर हम हैं। जब हैं तो अपने सत्वकी वजहसे जैसे हैं तैसे ही अपनेको जान जायें तो यह है मिथ्याज्ञान।

सहज स्वरूपकी जानकारीके लिये एक मोटा दृष्टान्त—जैसे यह चौकी है, तो चौकी को आप कितना मानते हैं? जितना कि पाटिया आप पहिले लाये थे और बढईने साफ करके रंदा फेरकर

बनाया था। इतनी है यह चौकी। और जो चिकनी-चापड़ी लग रही है, यह चौकी नहीं है। चौकी है तो वह अपनी सत्ताके कारण जितनी है उतनी है, जरा सोचो। चौकी ऐसी पीली नहीं है, क्योंकि चौकीका जो काठ है उस काठके सत्वके कारण यह रंग नहीं हो सकता। इस चौकीके सत्वके कारण जोबात इस चौकी में है। वह सहज है। इसी प्रकार हम हैं, अपने सत्वके कारण जो स्वरूप मेरा हो सकता है बस वही है परमात्मतत्व। उसकी दृष्टि हो तो हम शाश्वत शुद्ध आनन्द पा सकते हैं। हमारे सत्वके कारण जो मेरा सहजस्वरूप है, ज्ञानमात्र प्रतिभास मात्र, उसको तो मानें कि यह मैं हूँ। और अगर यह माना कि मैं रागद्वेष क्रोध करने वाला, अनेक पर्यायों वाला हूँ तो यह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व दो तरहके होते हैं (१) गृहीत मिथ्यात्व और अगृहीत मिथ्यात्व। कुदेव, कुशास्त्र कुगुरु की उपासना करना गृहीत मिथ्यात्व है और अपने आपकी सत्ताके कारण जैसा मेरा स्वरूप हो सकता है उस स्वरूप रूप अपनेको न मानकर जो पर-उपाधिके सम्बन्ध से विडम्बना होती है उस विडम्बनारूप अपनेको मानना यह है अगृहीत मिथ्यात्व।

लौकिक विज्ञानसे आध्यात्मिक ज्ञानकी उत्कृष्टता—लोकमें ज्ञान नाना प्रकारके हैं। कितने विषय हैं? यंत्रोंके चलानेका विषय, मकानके बनवानेका विषय, कोई विज्ञानके आविष्कार करनेका विषय, इतिहासके जाननेका विषय, इस दुनियाको नीति समझानेका विषय आदि, अनेक विषय हैं और बहुतसे लोग एक-एक या दो-दो विषयोंमें अत्यन्त निपुण हैं, उनके पास लौकिक ज्ञान है पर अध्यात्म ज्ञान वह ज्ञान है कि जिस ज्ञानके कारण चाहे लौकिक पुरुषोंमें वाहवाही न मिल सके, क्योंकि लौकिक पुरुष तो वही वाहवाही करेंगे जो स्वार्थसाधक ज्ञानका प्रयोजक हो। इस अध्यात्म ज्ञानीकी वाहवाही नहीं कर सकते, किन्तु यह अध्यात्म ज्ञान ऐसा समर्थ ज्ञान है कि अनन्तकाल तकके लिए सर्व संकटोंसे छुटाकर अनन्त आनन्दमय पदमें पहुँचाता है।

कल्याणार्थीका साहस—कल्याणार्थी जो पुरुष होते हैं उनमें ऐसा अपूर्व साहस होता है कि दुनिया उन्हें कुछ न जाने, सारी दुनिया चाहे उन्हें बुरा कहे, पर उन्हें यह पूर्ण विश्वास होता है कि मैं समस्त जीवोंके लिये कुछ नहीं हूँ। मैं न थिङ्ग हूँ। ऐसा एक बड़ा साहस ज्ञानी पुरुषके अन्तर में रहता है जिसके कारण उसे बाह्य पदार्थोंमें तृष्णा नहीं लगती। बाह्य मोही पुरुषोंके संगके लिए उसके उत्साह नहीं जागता। करने पड़ते हैं उसे अपने घरके सब काम। ऑफिसका काम, दूकानका काम, घरका काम, मगर जिसके ज्ञानमें यह बात लग गई है कि मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूँ, और इस ज्ञानमात्र निज स्वरूपमें ही मेरा सारा भला है। इससे बाहर मेरा किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकारसे जो सबसे अलग है वह बाहरके कामोंको करता हुआ भी न कर्ता होता है, लोगोंसे बोलता हुआ भी न बोलता हुआ होता है, जाता हुआ भी न जाता हुआ होता है।

कर्तृत्वका मूल करनेकी रुचि—भैया! जब इस लोकमें ही किसी इष्टका वियोग हो जानेपर उस इष्टके मिलापकी धुनमें यह इतना बेहोशसा हो जाता है कि इसे खाने बोलनेकी भी व्यवहारवत् सुधबुध नहीं रहती है। रिश्तेदार लोग समझते हैं, इसे जबरदस्ती खिलाते हैं तो भी खाता हुआ भी

न खाता हुआ होता हैं, क्योंकि करनेकी बात उसमें मानी जाती है जिसमें अपना दिल उपयोग रुचि लगाया है। जो कार्य दिलसे नहीं किया जाता, रुचि से नहीं किया जाता वह न करनेकी तरह है। आपका ही नौकर आपसे कुछ रुठ जाय, आपके कार्य करने का दिल न रहे और आपके रूतवाके कारण उसे काम करना पड़ता है तो वह इस प्रक्रियाको करता है कि अगर आपको देख लिया तो थोड़ासा मुंह बनाकर काम करने लगा, तो ऐसा देखकर आप कहते हैं कि क्यों बे! काम कुछ भी नहीं करता। अरे काम क्यों नहीं कर तो काम कर तो रहा है, घास खोद रहा है, पानी भी डाल रहा है फिर भी आप कहते हैं कि यह काम बिल्कुल नहीं कर रहा है। अरे वह रुचिसे नहीं करता, दिलसे नहीं करता, इसलिए उसे अकर्तामें शामिल कर लिया है।

आत्मामें हो सकने वाली क्रिया—इसी प्रकार जिसको यह विश्वास है कि यह मैं आत्मा चैतन्यस्वरूप हूँ कुछ कर पाता हूँ तो चैतन्यका ही काम कर पाता हूँ। अपनी इस सीमासे बाहर मैं कुछ नहीं कर सकता हूँ। मैं किसी परका करने वाला नहीं हूँ। मैं निमित्त पड़ जाता हूँ। जो होना है वह परके परिणमनसे अथवा परकी योग्यतासे स्वयमेव होता है। कोई चीज उठाकर एक जगहसे दूसरी जगह धरी तो इस प्रसंगमें मुझ आत्माने कितना काम किया कि ज्ञान किया, इच्छा की इस चीजको उठाकर धर दें ऐसा मनमें परिणाम हुआ और उस परिणामकी चाहके कारण ये आत्मप्रदेश हिल गए। ये आत्मप्रदेश इतने गम्भीर हैं, इतने शांत है, इतने कोमल हैं कि इनमें इच्छाकी रंच भी तरंग उठी तो इन प्रदेशोंमें हलन-चलन हो गया, बस यहाँ तक तो मेरी करतूत थी। इसके आगे मेरी कुछ भी करतूत नहीं है, इससे बाहर अन्य पदार्थोंकी परिणति स्वयमेव होती है।

आत्माका आत्मगत कार्य—ज्ञान, इच्छा और प्रदेशोंका हलन-चलन यहाँ तक तो आत्माका काम है और इसका निमित्त पाकर इस शरीर की वायुका फिरना स्वयमेव होता है। इस वायुके फिरनेसे चूँकि ज्ञान इच्छा जिस ढंगकी थी उस ही ढंगसे ये हिल गए अंग, ये हाथ वैसे ही हिल गए और हाथोंका निमित्त पाकर दोनों हाथोंके बीच में पड़ी हुई वस्तुमें भी गति हो गई। ये सारे काम स्वयमेव होते हैं। आत्मातो अपने आपके प्रदेशोंमें जानकारी, इच्छा, हलन-चलन, लोभ इतने ही मात्र करता है। इसके आगे आत्माका कोई कार्य नहीं होता। ऐसा जिसे स्पष्ट बोध है वह पुरुष जाता हुआ भी नहीं जाता है, बोलता हुआ भी न बोलता हुआ होता है, सुनता हुआ भी न सुनता हुआ होता है। उसे यह विश्वास है कि मैं केवल अपने भावात्मक काम किया करता हूँ। इससे बाहर और किसी पदार्थमें कुछ कर देनेकी प्रकिया नहीं होती।

जीवके स्वभावके आविर्भावका कारण शुद्ध ज्ञातृत्व—तो भैया! आत्माने ज्ञान और इच्छा किया, योग किया और शरीरके माध्यमसे ज्ञानी पुरुषके तपका, नियमका, व्रतका पालन रूप परिणमन हुआ। यह ज्ञानी जान रहा है कि समितिपूर्वक पदार्थ भी यहाँसे वहाँ रखा जा रहा हो, मगर यह उसका काम नहीं है। उसका काम अन्दरमें ज्ञान और इच्छा कर लेना भर है। इस कारण यह व्रत, नियम, तप करते हुए भी न करते हुएकी तरह है। यह द्रव्यांतरका स्वभाव है। यह मोक्षके

हितका तिरोधान करनेवाला है। मोक्षका तिरोधान होनेसे इन सब पुण्य कार्योका भी मोक्षके लिए निषेध किया गया है। देखिए सुरक्षा इसीमें है कि व्यवहारतो पुण्यकार्योका बना रहे, व्रत, नियम, तप, ध्यान सब कुछ बना रहे और इस प्रसंगमें रहता हुए भीतर अपने आपके ज्ञानमें डुबकी लगाया करे तो यह प्रक्रिया हम और आपके लिए संसारके संकटोंसे बचाने वाली होगी। यह आत्माके संकटोंसे बचानेकी बात कहीं गई है।

स्वरूपाचरण की नींव—ऐसे ज्ञानी पुरुष जब व्यवहारमें आयेंगे तो व्यवहार भला स्वयमेव होगा। जिस भले व्यवहारके लिए ज्ञानावस्थामें बड़े-बड़े व्याख्यान दिए जाते, बड़े-बड़े विचार किए जाते और सर्वत्र बोल-बालासा दिखता है, इतनी बड़ी मेहनतसे जिस सदाचारको पालनेके लिए व्यायाम करना पड़ता है वह सदाचार स्वयमेव पल जाता है। अन्तरङ्गमें यथार्थ ज्ञान होना चाहिए। तो यह प्रक्रिया यथार्थ ज्ञान वाली मौलिक प्रक्रिया है जिसके ऊपर सदाचारका महल निर्बाध खड़ा हो सकता है। सच्चा ज्ञान, सच्चा विश्वास और सच्चा आचरण ही हम और आपका रक्षक है ऐसा जानकर इस रत्नत्रयके ही ध्यानमें रहना चाहिए।

अब यहाँ यह बात सिद्ध करते हैं कि कर्म मोक्षके हेतुका तिरोधान करते हैं याने कर्मोंके कारण मुक्तिका मार्ग प्रकट नहीं हो सकता।

वत्थस्स खेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।

मिच्छत्तमलोच्छणं तह सम्मत्तं खु णायव्वं ॥ १५७ ॥

कार्यसिद्धिमें विश्वास, ज्ञान व आचरणकी साधकतमता—किसी भी कार्यको करनेके लिए श्रद्धान, ज्ञान और आचरण आवश्यक होता है। कोईसा भी कार्य ले लीजिए, व्यापार का काम है। उसमें भी श्रद्धान ज्ञान और आचरण चाहिए याने व्यापार सम्बन्धी बातोंका विश्वास चाहिए कि इस प्रकार व्यवहार करनेसे, लेन-देन करनेसे, इस तरह बैठनेसे व्यापार चलता है। जिसे यह विश्वास नहीं होता वह व्यापार क्या करेगा? फिर व्यापार सम्बन्धी ज्ञान भी चाहिए। किस तरह बैंकमें हिसाब रखा जाता है, किस तरह हुण्डियाँ की जाती हैं, किस तरह रोकड़खाता लिखा जाता है किस तरह बोला जाता है यह सब ज्ञान भी चाहिए और फिर ऐसा कर भी लेना चाहिए, इसका नाम है आचरण।

बोध विश्वास विधानसे कार्यसिद्ध होनेके कुछ दृष्टान्त—व्यापार सम्बन्धी विश्वास, ज्ञान और आचरणके बिना व्यापार नहीं चल सकता। जो लोग सरकारी कार्य करते हैं, दफ्तरोंका कार्य करते हैं उन्हें तत्सम्बन्धी विश्वास, ज्ञान और आचरणका ज्ञान होना चाहिए। महिलाएँ रसोई बनाती हैं तो उन्हें रसोई सम्बन्धी विश्वास, ज्ञान और आचरण चाहिए। आटेसे ही रोटी बनती है ऐसा विश्वास होता है। क्या कभी वे ऐसा भी सोचती हैं कि आटे से रोटी बन सकती हैं या नहीं। नहीं बन सकती हैं ऐसा अविश्वास भी होता है क्या? नहीं। जिस-जिस क्रियावोंसे रसाईका कार्य होता है उस सम्बन्धी उन्हें पूर्ण विश्वास है, पूर्ण ज्ञान है, पूर्ण आचरण है सो वैसे ही हाथ चलाती हैं,

वैसा ही कार्य करती हैं और रसोई बन जाती है। किसीको संगीतमें निपुण होना है तो संगीत सम्बन्धी विश्वास भी चाहिए कि मैं ऐसा हो सकता हूँ। पहिले ही सोच ले कि मैं ऐसा हो ही नहीं सकता तो वह हारमोनियाम में हाथ लगायेगा ही क्यों? उसका ज्ञान भी चाहिए। सा रे, गा मा पा, ध नी सा सा, नि ध प र म ग रे सा, सा रे गा रे गा मा आदि स्वरोंका ज्ञान चाहिए, फिर तत्सम्बन्धी आचरण भी। रट लिया ऐसा ही। अगर न रटा, न सीखा तो संगीतो जान ही कैसे सकते हैं?

संसार व मोक्षविषयक बोध, विश्वास व विधान—इसी तरह संसारमें फँसना भी एक काम है। जिसे संसारमें फँसे रहनेकी बात चाहिए उसे संसारमें फँसनेका विश्वास चाहिए, ज्ञान चाहिए और आचरण चाहिए। तो संसारमें फँसने लायक जो विश्वास है कि मेरा अमुक शरण है, मेरा अमुक कुछ लगता है, मेरा मकान है, यह मैं हूँ, इस तरहका विश्वास चाहिए। तो इस विश्वासके आधारपर यह संसार बढ़ता है और फिर ज्ञान भी चाहिए। जिन चीजोंको देखते हैं उनमें से कितना कर्ता बनना है? किसका अधिकारी बनना है? उसका ज्ञान भी चाहिए और आचरण भी चाहिए। इसी तरह फँसना भी चाहें तो संसारके फँसनेका काम बन जायेगा। और किसीको संसारसे मुक्त होनेकी वाञ्छा है, मोक्षमें लगना चाहता है तो जैसे मोक्षमार्गका, मोक्षका विश्वास चाहिए, मोक्षकी विधियोंका ज्ञान चाहिए और मोक्षकी क्रियाओंमें लग भी जाना चाहिए। इस प्रकार मोक्ष होगा तो मोक्षके विश्वास का नाम है सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्त्व, मोक्षकी विधियोंके ज्ञान का नाम है सम्यग्ज्ञान और उसमें लग जानेका नाम है सम्यक्चारित्र।

आत्महितकी बात—सम्यग्दर्शनका संक्षिप्त स्वरूप यह है कि अपने आत्माके सम्बन्धमें आत्माका जैसा सहज, एक्सल्यूट, अपेक्षा बिना जैसा इसका भाव है उस स्वभावरूपमें अपने को देख लेना, जान लेना, अनुभव कर लेना, इसका नाम है सम्यग्दर्शन। सो चूँकि मोक्ष आत्मा ही है। तो आत्माका सच्चा विश्वास होना चाहिए। यहाँ यह बात चल रही है कि निजका भला किस तरह हो सकता है? उसका यह प्रकरण है। इसमें धर्म, मजहब, पंथ, किसीका पक्ष नहीं है। यहाँ तो केवल यह विचार चल रहा है कि मेरा उद्धार किस तरह हो? और उसका मौलिक आधार यह लेना है कि चूँकि मुझे अपना उद्धार करना है तो मुझे सही स्वरूप जानना पहिले आवश्यक है, बस इस आत्माके यथार्थ स्वरूपके ज्ञानपर ही हमारा उद्धार निर्भर है और यही हमारा धर्म है।

परमार्थसाधकताके नाते व्यवहार धर्ममें धर्मत्व—व्यवहारमें जो मंदिर जाना, गुरुवोंके पास बैठना, भगवानका जाप करना, भक्ति करना ये जो बातें बताई गई हैं, ये बातें तो मेरे आत्माकी सही जानकारी बनाए रहनेमें सहायक हैं, तो यह धर्म हैं, और मेरे आत्माकी सही जानकारीमें यह सहायक नहीं है। इसके विपरीत पर्यायबुद्धिके पोषक हैं तो यह धर्म नहीं है। अपने आपके सहज स्वरूपका ज्ञान करना, धर्मकी रुचि करना, अन्तरङ्गमें निरन्तर जानकारी बनाए रहना बस यही उद्धारका उपाय है, यही प्रत्येक आत्माका धर्म है और इस ही धर्मकी परिस्थितिमें हमारा उत्थान

होगा। तो पहिली बात क्या है? सम्यक्त्व। इस सम्यक्त्वसे ही अपने आपके आत्माके सहजस्वरूपका परिचय होगा।

भ्रमकी बाधकता—इस सम्यक्त्वमें बाधा डालने वाला कौन है, उसे यहाँ बताया जा रहा है। मेरे सम्यक्त्वमें साक्षात् बाधा डालने वाले तो मेरे भ्रम भाव हैं और निमित्तकारण दर्शन मोहका उदय है। इस मोक्षमार्गके कारणको तीन बातोंमें विभक्त किया सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अर्थात् आत्माके सत्यस्वरूपका ज्ञान और आचरण है। और बांधने वाले जो कर्म हैं वे भी तीन भागोंमें विभक्त हैं। मिथ्यात्वपरिणाम, अज्ञान और कषाय। सम्यक्त्वका घात करने वाला है मिथ्यात्व परिणाम, विपरीत अभिप्राय। जैसे मैं अमुक कामका करने वाला हूँ, मैं अमुक बच्चोंका पालने पोषने वाला हूँ, मैं इतने मकानों का मालिक हूँ, मैं इतने बच्चोंका पिता हूँ, मैं इतने देशकी सेवा करने वाला हूँ, ऐसा विपरीत अभिप्राय जो है वह आत्माके यथार्थस्वरूपके विश्वासका बाधक है क्योंकि यह सब आत्माका स्वरूप नहीं है। बच्चों वाला होना क्या आत्माका स्वरूप है? नहीं। ये तो सब जगतके मायामय दृश्य हैं। क्या तुम्हारे इस आत्मासे महलोंका सम्बन्ध है? नहीं। आत्मा तो मात्र आत्मा है। क्या कोई दुकान मकान वगैरहका करने वाला है? नहीं। आत्मा तो अपने आपमें है चूँकि यह आत्मा ही है ना जितना कि देहके अन्दर अनुभव हो रहा है सो उतना ही अपने जाननेका, समझनेका, विश्वासका या आनन्दका ही काम कर रहा है। यह दुकान, मकानका करनेवाला नहीं है।

परकर्तृत्वका आशय मिथ्या—एक सेठ साहब थे तो उन्होंने बहुत बड़ी हवेली बनवाई। और उस हवेली को बहुतसे इन्जीनियरोंकी देखरेखमें बनवाया। बन चुकनेके बाद हवेलीका उद्घाटन कराया। सो अपने नगरके सभी प्रमुख लोगोंको बुलाया और साधारण जनोंको भी बुलाया। जब सब लोग जुड़ गए, सभी भरी तो लोगोंमें व्याख्यान हुए। अनेक लोगोंने सेठ साहबकी और इन्जीनियरोंकी तारीफ की। बड़ी सुन्दर हवेली बनी और बड़ी चतुराईसे बनी। सबके बोल चुकनेके बाद सेठ साहब आभार प्रदर्शन करनेके लिए खड़े हुए। सेठ साहब कहते हैं कि भाइयों, इस हवेलीमें यदि कोई गलती किसी भी जगह रह गई हो नापमें या किसी चीजमें तो आप लोग बतलावो, उस गलतीको ठीक करवा दिया जायगा। खर्चेकी कोई परवाह नहीं है। चाहे कोई हिस्सा तुड़वाकर बनावाना पड़े तो भी बन जायगा। कोई गलती हो तो आप लोग बता दो। किसीने कुछ न कहा। थोड़ी देरमें एक जैन उठा, बोला महाराज इस हवेलीमें हमें दो गलतियाँ बहुत बड़ी दिखीं। तो पासमें जो इन्जीनियर बैठे थे उनसे सेठने कहा सुनो, ये दो गलतियाँ बतलाते हैं और उन्हें ठीक करना है। बतलावो क्या दो गलतियाँ दिखीं? पहिली गलती तो यह समझमें आई कि यह हवेली सदा न रहेगी। सब लोग सुनकर सोचने लगे कि इसका इलाज क्या किया जाय? अच्छा साहब, इन्जीनियर लोग बोले कि अच्छा दूसरी गलती बतावो। वह बोला दूसरी गलती यह है कि इस हवेलीका बनवाने वाला भी सदा न रहेगा। अब बतावो इस गलतीका क्या इलाज करें?

सम्बन्धबुद्धिमें मिथ्यात्व—किसी भी परपदार्थका अपनेको स्वामी समझना और अपनेको उसका कर्ता समझना यह है विपरीत आशय और विपरीत आशय सम्यक्त्वका बाधक है। सम्यक्त्वका अर्थ है आत्माके सत्यस्वरूपका विश्वास हो जाना। खोटा उपयोग चल रहा है जिस उपयोगके कारण बाह्य पदार्थोंमें आकर्षण हो रहा है। उसके फलमें उपयोगकी स्थितिमें आत्माके निरंजन निरपेक्ष शुद्ध आत्मस्वभावका विश्वास भी हो सकता है क्या? नहीं। तो आत्माके सम्यक्त्वका बाधक है मिथ्यात्व। मिथ्यात्वका अर्थ है खोटापन। मिथ्या और त्व। मिथ्याका अर्थ खोटा भी नहीं है। मिथ्याका अर्थ है सम्बन्ध। मिथ्या शब्द मिथ धातुसे बना और मिथका सम्बन्ध है। दो पदार्थोंके स्वरूपमें सम्बन्ध बताना सो यही मिथ्यात्व है। और यह मिथ्यात्व ही सम्यक्त्वका बाधक है, आत्माके सहज सत्य स्वरूपके विश्वास में बाधा डालने वाला मिथ्याकर्म है।

कर्मका अर्थ—कर्मका अर्थ क्या है? जो किया जाय सो कर्म है। आत्माके द्वारा जो किया जाय सो कर्म है। कहते हैं ना सभी कि जैसा कर्म हो तैसा फल मिलता है। तो वह कर्म चीज क्या है? वह कर्म है आत्माके द्वारा जो किया उसे कर्म कहते हैं। अब कोई कहे कि आत्माके द्वारा तो बहुतसी बातें की जाती हैं। शांतिका उपाय भी किया जाता है तो क्या शांतिका परिणाम भी कर्म हो गया? यदि शांतिका परिणामका नाम कर्म है तो मुझे शांतिके फलमें भी संसारमें रुलना चाहिए। उत्तर यह है कि शांतिपरिणामका नाम कर्म नहीं है। निराकुलता नाम कर्म नहीं है, शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहनेका नाम कर्म नहीं है, क्योंकि शांतिका परिणाम किया नहीं जाता, किन्तु शांतिका परिणाम होता है। जो हो उसका नाम कर्म है। जो किया जाय उसका नाम कर्म है। निराकुलता की नहीं जाती है। निराकुलताकी स्थिति आ जानेपर निराकुलता स्वयं हो जाती है। और आकुलता की जाती है। विपरीत अभिप्राय किया जाता है।

करने और होनेके अन्तरका परिज्ञान—यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि हम इसमें यह विभाग कैसे करें कि यह तो होता है और यह किया जाता है। याने निराकुलता तो होती है और आकुलता की जाती है। इसके उत्तरमें दो दृष्टियाँ लो। पहिली तो यह दृष्टि लो कि की जाने वाली बातमें कैसे क्षोभ खड़ा होता है, कैसे उपयोग लगाना पड़ता है, कैसे दंद-फंद किए जाते हैं। जहाँ इतनी बात की जाती हो वहाँ उसे किया जाना कहना ही चाहिए। और शांति की नहीं जाती। क्षोभ कषाय, विकल्प, भ्रम आदि हटावो तो स्वयमेव ही जैसे पहाड़से झरना फूट निकलता है इस प्रकार इस आत्मासे निराकुलता फूट निकलती है। दूसरी दृष्टि यह देखिए कि किसी परपदार्थकी उपेक्षा करके जो बात होती है, उसको तो किया जाता है, कहा जाता है और परवस्तुकी उपेक्षा किए बिना केवल अपने आत्माराम से जो बात होती है उसे किया जाता है नहीं कहा जाता। करनेमें परकी अपेक्षा है। होनेमें परकी अपेक्षा नहीं है।

अपेक्षामें कर्म व अनपेक्षामें भवनकी सिद्धि—फिर आप प्रश्न कर सकते हैं कि परकी अपेक्षामें करना बताया व परकी अपेक्षा न होनेमें होना बताया। ये विभाग कैसे समझे जायें तो इसे

जरा शब्दशास्त्रकी पद्धतिसे जानो। करनेकी जो क्रिया है वह सकर्मक है और होने की जो क्रिया है वह अकर्मक है। अकर्मक क्रियाकी अपेक्षा होती है और अकर्मक क्रिया की अपेक्षा नहीं होती है। यों शब्दशास्त्रसे भी किया जानेका काम पराधीन है और होनेका काम स्वाधीन है। निराकुलता तो होती है, किन्तु आकुलता की जाती है।

आत्माका परिणामन आत्माका कार्य—भैया! प्रकरण यह चल रहा था कि आत्मा का कर्म क्या है? जो आत्माके द्वारा किया जाय उसे कर्म कहते हैं। आत्माके द्वारा किए जाते हैं विषय, इच्छा, कषाय भ्रम, विपरीत आशय आदि। इस कारण ये कर्म हैं। तो कर्म नाम आत्माके खोटे परिणामोंका है, विभावोंका है, सापेक्ष भावोंका है। अब एक और बात है जिसका वर्णन जैनसिद्धान्तमें ही मिलता है, वह क्या कि आत्माके इन कर्मोंका याने रागद्वेष भ्रम आदि भावोंका निमित्त पाकर इस लोकमें जो सूक्ष्मकार्माण नामका मेटर पुद्गलकार्माण है जो लोकमें सर्वत्र भरा हुआ है वह कर्मरूप बन जाता है, वह सूक्ष्म मेटर आत्माके साथ बंधको प्राप्त हो जाता है और उनकी स्थिति भी पड़ जाती है कि यह लाख वर्ष तक रहेगा, यह करोड़ वर्ष तक रहेगा। रहता भी अनगिनते वर्ष तक है। तो समग्र समय पर जब इसका निकलना होता है, तो उसका निमित्त पाकर फिर आत्मामें खोटे परिणाम होते हैं।

कर्मयोग्य द्रव्य—आप सोचेंगे कि ऐसे सूक्ष्म मेटर भी होते हैं क्या और वे जीवके साथ बंधनको भी प्राप्त होते हैं क्या? हाँ होते हैं, निश्चित है अन्यथा आप यह बतलाएँ कि आत्मका स्वरूप तो शुद्ध बुद्ध निरंजन ज्ञाता दृष्टा मात्र है, अनन्त आनन्दमय है, किसी भी पदार्थका स्वरूप उस पदार्थके नाश करनेके लिए नहीं होता। तो मेरे आत्माका जो सत्यस्वरूप है वह मेरे आत्माको दुःखी करनेके लिए नहीं हो सकता है। किसी भी पदार्थका स्वरूप उस पदार्थका विनाश करनेके लिए नहीं होता। फिर जब मैं सहज ज्ञानानन्दमात्र हूँ तो उसमें फिर ये रागद्वेष झंझट कैसे आ गए? क्या मेरे आत्माके स्वरूपके कारण आ गए? यदि मेरे आत्माके स्वरूपके कारण आ गए हैं तो ये मेरे स्वरूप बन गए। इनका कभी नाश न होगा। फिर उद्धारका कोई उपाय ही न रह गया। वहाँ यह निश्चय करना ही होगा कि मेरेसे अतिरिक्त कोई परद्रव्य साथ लगे हुए हैं जिनका निमित्त पाकर जीवकी विचित्र दशायेँ हो जाती हैं। तो परद्रव्य क्या है? कोई मोटी चीज तो है नहीं, कोई सूक्ष्म है और वह सूक्ष्म जो कुछ मेटर है, विजातीय है। सजातीयसे खोटे भाव नहीं हो सकते।

द्विविध कर्म—मेरा आत्मा चेतन है। और ये अचेतन निमित्त हो गए, जिसके कारण रागद्वेष कर्म होते हैं। परद्रव्योंका नाम कुछ रख लिया जाय, पर साक्षात् कर्म तो है रागद्वेष। असली नाम कर्मका है रागद्वेषके लिए और उसका निमित्त पाकर जो कर्म बन गए उसका भी नाम रखा है कर्म उपचारसे। इस तरह आत्मामें दो प्रकारके कर्म हो गए। एक तो साक्षात् कर्म रागद्वेष भाव और निमित्त पाकर जो सूक्ष्म मेटर आत्मामें चिपट गए हैं वे द्रव्य कर्म कहे जाते हैं।

मोक्षहेतुतिरोधायक निमित्त—यहाँ प्रकरण यह चल रहा है कि मोक्षके हेतुका तिरोधान कौन करता है? मोक्षके हेतुमें पहिला हेतु बताया है आत्माका सच्चा विश्वास। उस आत्माके सच्चे

विश्वासका तिरोधान करने वाला कर्म है मिथ्यात्व, आशय, खोटा अभिप्राय। यह मैं आत्मा केवल ज्ञानानन्दमात्र हूँ, भावात्मक सत् हूँ जानन और एक आल्हाद होना यह जो परिणामन है इसकी मूल आधारभूत जो शक्ति है तावन्मात्र मैं आत्मा हूँ। यह मैं आत्मा जाननके सिवाय और कोई काम नहीं करता। इसने जाननेकी इच्छा की, इतना काम इस निज प्रभुका है। फिर इसके बाद सारे काम होने लगना, हाथ पैर चलना और काम होना ये सब ओटोमेटिक निमित्तनैमित्तिक भावपूर्वक होते हैं। यह आत्मा तो अपने आपमें रहता हुआ ज्ञान और इच्छा करता है। आप हम सिवाय परिणाम करनेके और कुछ नहीं करते।

आत्माका परमें कुछ कर सकनेका असामर्थ्य—कोई चाहे कि मैं दूसरेका बुरा कर दूँ तो उसमें सामर्थ्य नहीं है कि वह दूसरेका बुरा कर सके। किसीका बुरा कर देनेकी इस आत्मामें सामर्थ्य है क्या? नहीं है। मैं दूसरेका नाश कर दूँ ऐसे परिणाम बना लेनेकी सामर्थ्य तो इस जीवमें है, पर दूसरे जीवोंका बुरा कर दे ऐसी सामर्थ्य किसी जीवमें नहीं है। तो बुरा तो हम किसीका कर नहीं सकते। अब रह गया यह कि बुरा करनेका परिणाम तो कर लेते हैं। तो बुरा करनेका परिणाम कर लेनेमें आपको मुनाफा मिलता हो तो करते रहिए। मुनाफा चाहिए। बुरा तो कर नहीं सकते किसीका। रह गयी बुरा करनेका परिणाम बनानेकी बात। तो ऐसा परिणाम निकालनेमें आपको कोई मुनाफा मालूम पड़ता हो तो करो और हमें मालूम नहीं है। सो वह मुनाफा हमें भी बता दो तो हम भी जान जायेंगे। है नहीं मुनाफा, सब नुकसान है। बुरा करनेका परिणाम करनेसे बुरे कर्म बनते हैं और वे जो सूक्ष्म मेटर बनते हैं, ना वे भी पाप नामके मेटर बनते हैं जिनके फलमें क्लेश ही भोगना पड़ता है और पापके परिणामोंके समय भी यह क्लेशोंमें जलता रहता है।

मिथ्या आशय त्यागनेका उपदेश—इस कारण दूसरेका बुरा करनेका परिणाम, परद्रव्योंमें अपनेको मालिक माननेका परिणाम, बच्चोंका पालन-पोषण करता हूँ, सुखी करता हूँ ऐसा मानने का परिणाम ये सब मिथ्यात्व हैं, खोटे परिणाम हैं। इन खोटे परिणामोंके कारण आत्मविश्वास न होनेसे सही बात तिरोभूत हो जाती है। फिर हमें संसारके संकटोंसे छूटनेका उपाय नहीं मिल सकता। अपनेको संसार संकटोंसे मुक्त होनेके लिए चाहिए कि हम वस्तुस्वरूपका यथार्थ विश्वास करें। आत्माके सही स्वरूपके विश्वासमें इस जीवको संकट नहीं रह सकते हैं।

सम्यक्त्वका तिरोधायी भाव—मोक्षके हेतु तीन भाव हैं सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र। यह सम्यक्त्व मिथ्यात्वरूपी मैलसे ढका है। मिथ्यात्वका अर्थ है मिथ्यापरिणाम। आत्माका स्वरूप जैसा है उससे उल्टा आशय बने इसका नाम मिथ्यात्व है। तो जैसे वस्त्रका श्वेतभाव मलके संसर्गसे नष्ट हो जाता है इसी प्रकार सम्यक्त्वभाव मिथ्यात्व मलसे ढक जाता है और नष्ट हो जाता है। जैसे सफेद वस्त्र है और १०-२० दिमें वह मैला हो जाता है तो वस्त्रकी सफेदी कहीं वस्त्रसे बाहर नहीं चली गई। वह सफेदी तो वस्त्रमें ही है पर इसपर जो मैलका संसर्ग होता है उस संसर्गके कारण वस्त्रकी सफेदी ढक गई है। साबुन या सोड़ा लगाकर वस्त्रको सफेद कर सकते हैं। वह तो वस्त्रके ऊपर लगे हुए

मलसे सफेदी ढक गई है। सफेदी तो उस वस्त्रमें थी ही, जैसी सफेदी थी वैसी ही सफेदी उस वस्त्रमें प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार सम्यक्त्वको उत्पन्न नहीं किया जाता। सम्यक्त्व स्वभाव रूप तो यह आत्मा स्वयं है। पर उसके ढकने वाला जो मिथ्या अभिप्राय है वह मिथ्या अभिप्राय दूर किया जाता है। और इस प्रकार मिथ्या अभिप्राय दूर होने पर आत्माका सम्यक्त्व प्रकट होता है और मिथ्यात्वमलके रहनेपर आत्माका सम्यक्त्व भाव तिरोहित हो जाता है। अब सम्यक्त्व विषयका तिरोभाव बताकर अब ज्ञानका तिरोभाव क्यों होता है? इसका वर्णन करते हैं।

**वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं ॥ १५८ ॥**

सम्यग्ज्ञानका बाधक भाव—इसमें यह बता रहे हैं कि आत्माका सम्यग्ज्ञान जो परिणाम है उसका घात करने वाले कौन हैं? जैसे पूछा जाय कि यह अंगुली सीधी है और टेढ़ी किए जानेपर बतलावो कि इस अंगुलीके सीधेपनका घात किसने किया? यह तो सामने की बात है और सीधी बात है। इस अंगुलीका सीधापन किसने मिटाया? इस अंगुलीके सीधेपनको टेढ़ेपनने मिटा दिया। तो आत्माके सीधेपनको किसने मिटाया? आत्माके टेढ़ेपनने मिटा दिया। आत्माके वैराग्य परिणामको किसने मिटाया? विषय कषायके परिणामोंने मिटाया। यह रूबरूह साक्षात् बात चल रही है। फिर निमित्त की बात लेना है। आत्माका सब सही जान जाना स्वभावपरिणमनकी बात है। स्वरसतः आत्मामें ऐसी कला है कि वह पदार्थोंको सही सही जान लिया करे। इस सीधे और भोले काममें बाधा डालने वाला कौन है? अज्ञान। वस्तु की सही जानकारी न हो, यही है वस्तुकी सही जानकारीका बाधक। जैसे वस्त्रका श्वेत परिणामन मलके द्वारा ढक जाता है तो सफेदीका घात हो जाता है। इसी प्रकार आत्माका सम्यग्ज्ञान अज्ञानरूपी मैलसे ढक जाता है तो सम्यग्ज्ञान प्रकट नहीं होता है। सम्यग्ज्ञान बनाना है तो वस्तुस्वरूपका सही-सही ज्ञान करनेमें लग जावो।

सन्तोषकी पद्धति—देखिए आत्मामें जब भी संतोष होता है तब अपनेमें झुकते हुए संतोष होता है। लौकिक बातोंको भी देख लो? कोई आप बड़ा काम कर रहे हैं, बहुत दिनोंकी लिखा-पढ़ी पढ़ी है, निर्णय करना पड़ा है, बड़ा विवेचनाका काम पड़ा है तो २ घंटे खूब परेशान हुए। इसको यों किया, उसको यों किया, खूब बड़ा परिश्रम किया। दो घंटेमें आपका सारा काम बन गया, काम साफ हो गया तो आप आराम लेते हैं, विश्राम करते हैं। तो आप यह बतावो कि अपनी तरफ लिपटकर आप विश्राम करते हैं या कागज पत्रोंसे लिपटकर विश्राम करते हैं? तो उसकी शैली क्या है कि आप अपनी तरफ ही लिपटकर विश्राम लेते हैं? आप अपनी ओर ही झुककर विश्राम लिया करते हैं, बाह्य पदार्थोंकी ओर झुककर विश्राम नहीं किया करते हैं। इससे ही सिद्ध है कि आराम और विश्राम अपनेको किसी भी बाह्य पदार्थमें मिलेगा। वह अपने आपमें ही मिलेगा। विश्राम, परम आराम तब होता है जब कि यह राम अपने आपके उपयोगमें आए। आ, राम तो आराम मिलता है। यह राम अपने आपमें आए तो आराम मिलता है।

विश्वके परिज्ञानमें प्रथम निर्णय भैया! वस्तुओंका सम्यग्ज्ञान करना है तो आप विधिपूर्वक क्रमशः सुनिए। हम कि तरहसे इस विश्वको जानें कि हमारे ज्ञानमें, हमारी आत्मामें हमारे उपयोगमें सही ज्ञात हो जाय? क्या जानना है तुम्हें, समस्त पदार्थोंका स्वरूप? समस्त पदार्थ कितने हैं यह जाने बिना उनका स्वरूप क्या समझोगे, इसलिए यह जानना आवश्यक है कि समस्त पदार्थ लोकमें कितने हैं? बातें सुनतेमें एक भी बात सुनने से खाली न रह जाय, नहीं तो आगेकी बातोंका सिलसिला मिट जायगा। पहिली बात यह कही जा रही है कि इस विश्वका स्वरूप तब समझमें आयगा जब हम यह जान जायें कि यह सारा विश्व है कितना तो विश्व कोई अलग चीज नहीं है। पदार्थोंका समूहका नाम विश्व है। विश्व जगतका नाम नहीं है, किन्तु विश्व समूहका नाम है। विश्व शब्द संस्कृत का है। और संस्कृत कोषमें विश्वका अर्थ है समूह। यह विश्व पदार्थोंका समूह है।

एक पदार्थ कितना होता है? अब तुम्हें यह जानना आवश्यक हो गया कि सर्व पदार्थ हैं कितने दुनिया में? यह जाननेके लिए जानना आवश्यक है कि आखिर एक पदार्थ होता है कितना? एक पदार्थका स्वरूप न मालूम हो तो पदार्थ कितने हैं, यह कैसे जाना जा सकता है? टोकरीमें केले भरे पड़े हैं ३०, ३५ केले होंगे। ये केले ३५ हैं यह तभी जान सकते हैं जब कि यह मालूम हो कि एक केला इतना होता है। एकका स्वरूप जाने बिना हम गिनती ही नहीं समझ सकते हैं। तो यह जानना जरूरी है कि एक पदार्थ कितना होता है? एक पदार्थ उतना होता है जिसका की तीन कालमें भी कभी दूसरा टुकड़ा न हो सके। एकका टुकड़ा कभी नहीं होता है। टुकड़ा हो जाय तो समझो कि उसमें अनके चीजें थीं सो वे बिखर गईं। रुपयेका तो टुकड़ा हो जाता है, क्योंकि १०० पैसेका नाम रुपया है और एक नये पैसेका टुकड़ा नहीं होता और मान लो टुकड़ा हो जाय तो उससे भी कम कीमतका कोई दाम है। जो कमसे कम कीमतका दाम हो उसका टुकड़ा नहीं होता है। एक कहते ही उसे हैं जिसका अंश न हो। यह हम मोटी परिभाषा कह रहे हैं। बारीकी में जायें तो और ही ढंगसे कहना पड़ेगा।

एकका स्वरूप समझनेके लिये एक दृष्टान्त दृष्टान्तमें पहिले इसीको ले लो। यह चौकी रखी है, यह एक चीज है क्योंकि इसके टुकड़े हो सकते हैं। यह अनेक चीजोंसे मिलकर बनी हुई है, क्योंकि इसके टुकड़े हो जायेंगे। देखनेमें जो कुछ आ रहे हैं वे एक चीज नहीं है, किन्तु अनेक चीजोंके मिले हुए पिण्ड हैं। इसलिए ये सब मायारूप हैं, वास्तविक चीज नहीं हैं। तो एक क्या होता है कि जिसका दूसरा अंश न हो सके। तब दिखने वाले पदार्थोंमें जो अविभागी अंश हैं, एक परमाणु है, ऐसा एक परमाणु ही वास्तविक चीज है। जो परमाणु मिलकर बने हों वे पिण्ड हैं, ये वास्तविक पदार्थ एक-एक परमाणु है। वह परमाणु कितना है? इस चौकीमें कितने परमाणु होंगे? कुछ अनुमान कीजिए। शायद २० परमाणु होंगे। अरे २० परमाणु तो सूईकी नोकके बराबर जगहमें हो सकते हैं। अनन्त परमाणु हैं। उनमें जो एक-एक परमाणु है, स्वतंत्र सत् है। उन परमाणुओं का जो यह

पिण्ड बन गया है यह स्कन्ध रूप है। यह परमार्थ वस्तु नहीं है। ऐसे इस लोक में अनन्त परमाणु हैं।

एक चेतन कितना है? अब चेतन तत्वपर आइए। एक चेतन कितना है जिसका दूसरा अंश न हो सके। आप हम सब एक-एक चेतन हैं, मुझ चेतनका कभी टुकड़ा नहीं हो सकता। ऐसा कहा जाय कि आप आधे तो वहाँ बैठे रहो और आधे आप मेरे पास आ जावो तो ऐसा कोई नहीं कर सकता। जो एक चेतन है वह अविभागी है। उसका अंश नहीं हो सकता। एक चीज निरंश होती है। अंश होने लगे तो समझो कि अनेक चीजें हैं।

चेतन द्रव्योंका परिमाण जैसे एक आप चेतन हैं वैसे ही और कितने चेतन हैं? जरा अंदाज तो कीजिए। पहिले मनुष्य बतलावो। आजकी मानी हुई आत्मामें मनुष्य तीन चार अरब तो होंगे ही। इन तीन चार अरबकी बात देख लो, मगर एक दृष्टि तो कर लो कि आपको दृष्टि कहाँ तक है? यह आजकी परिचित दुनियाकी बात कह रहे हैं। दुनिया तो इससे असंख्यात गुणी है। इतनी ही दुनिया नहीं है। बहुत बड़ी विस्तृत जमीन पर एक कोनेमें पृथ्वीका एक मल उठ खड़ा हुआ है, जो आजकलके समयमें खूब बढ़ा चढ़ा हुआ है और यह आठ हजार कोस तकका ऊंचा मलमा उठ जाता है और यह उठा है ठिगने हाथ की तरह और यह गोल उठा हुआ है जिसे लोग नारंगीकी तरह गोल कहते हैं। और इसके चारों ओर बस्तियाँ बसी हुई हैं जिसे देश विदेश कहते हैं और यह एक स्थानसे घूमकर उसी स्थानपर आ जाया करती है। इस तरह बहुतसे आवागमन गोल रूप हो जानेसे आज यह प्रसिद्ध हो गया कि दुनिया गोल है और इतनी ही है। इसके अतिरिक्त कितनी दुनिया है इसको कोई अपनी दृष्टिमें नहीं ले सकता है। सब जगहोंके भी मनुष्य जोड़ लीजिए तो मनुष्योंकी ही गिनती कई संख प्रमाण हो जाती है।

मनुष्यातिरिक्त जीवोंकी बहुलता फिर पशुओंको देखो कितने हैं? फिर पक्षियोंको देखो कितने हैं? कीड़े-मकोड़ों को देखो एक ही जगह निकल पड़ें तो अरबोंकी संख्या हो जाती है। फिर जरा इस वनस्पतिको देखो एक पेड़में असंख्यात वनस्पतिके जीव रहते हैं, फिर इस वनस्पतिमें और अन्य सूक्ष्म वनस्पति हैं जो इस पोलके अन्दर ठसाठस भरे हुए हैं। उन वनस्पति जीवोंका शरीर इतना सूक्ष्म है कि वे हाथ चलानेसे भी नहीं हटते, अग्नि जलाने से भी नहीं हटते, किन्तु अपनी ही मौतसे एक सेकेण्डमें २३ बार जन्म मरण करते हैं ऐसे जीवोंसे यह लोकाकाश ठसाठस भरा हुआ है। अनुमानके लिए कह चलते हैं कि इस लोकमें जीव कितने हैं? जीव अनन्तानन्त हैं। और पुद्गल जीवोंसे भी अनंतानंतगुणे अनन्तानन्त हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, कालकी तो चर्चा ही छोड़ो। पर विशद जाननके लिए जीव और पुद्गल दोनोंको लीजिए। अब समझ गए कि पदार्थ कितने होते हैं?

अनन्तोंमें एककी पुनः व्याख्या वस्तुकी सही जानकारीका यह प्रकरण चल रहा है। अनन्त जीव, अनन्त अणु उनमें से एक पदार्थका स्वरूप कितना है जितना कि वह अपने प्रदेशमें है। जितने प्रदेशको वह अपने आपमें ही ओकोपाई किए हुए है, व्याप रहा है उतना ही एक पदार्थ है। प्रत्येक

पदार्थ अपने स्वरूपसे है, परके स्वरूपसे नहीं है, वह अपनी-अपनी सत्तासे है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थके द्वारा अपने सत्वका निर्माण नहीं करता, किन्तु यदि कोई पदार्थ है तो वह अनादिसे ही अपने स्वरूपसे है। उसकी कन्डीशन्स बदल जाये, पर्याय परिवर्तित हो जाय, किन्तु वह पदार्थ मूलतः सत् वही का वही है तो प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे है, परके स्वरूपसे नहीं है। उन प्रत्येक पदार्थोंमें परिणमते रहनेका स्वभाव पड़ा हुआ है और अपने उस परिणमन स्वभावके कारण अपने आपमें निरंतर परिणमते रहते हैं। अब जैसी अपने उस परिणमन स्वभावके कारण अपने आपमें निरंतर परिणमते रहते हैं। अब जैसी उनकी योग्यता है और जैसा उनको अनुकूल निमित्त मिलता है उस अनुकूल वह स्वयं परिणम जाता है।

समस्त अविनाशी पदार्थोंमें अपने आपमें अपने आपका परिणमन—ये सब पदार्थ अपने आपमें ही परिणमते हैं। ये प्रत्येक पदार्थ दूसरे पदार्थोंका परिणमन लेकन नहीं परिणमते। अपने प्रदेशमें है और किसी न किसीके द्वारा प्रमेय हैं। ऐसे प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपके दृढ़ किलेमें सुरक्षित है। कोई किसी पदार्थका विनाश नहीं कर सकता। किसीने अपराध किया, राजाने फांसी दिया। तो फांसी होनेमें किसी पदार्थका विनाश होता है क्या? नहीं। शरीरके परमाणु भी बिखर जाँएँ तो भी वे परमाणु अपने स्वरूपके परमाणुरूप रहते ही हैं। इस शरीरसे जीव विदा हो गया तो वह जीव परिपूर्ण अखण्ड वहीका वही रहता हुआ आगे किसी और शरीरमें पहुँच गया। किसी लकड़ीको जला दिया, राख हो गई, कुछ उड़ भी गई, उससे किसी पदार्थ का नाश होता है क्या? नहीं। जितने परमाणु थे लकड़ीमें और वे पिण्डरूप होनेसे वजनदार भी थे। अब जल जानेपर कुछ धुवाँके रूपमें एक एक अणु ही नहीं, किन्तु अनन्त अणुवोंके स्कंध धुवाँके रूपमें बिखर जाते हैं, कुछ राखके रूपमें प्रकट हो जाते हैं, कुछ हवा चल जानेसे सर्वत्र व्याप जाते हैं। फैल गए, सब कुछ हो गया, मगर एक भी परमाणुका नाश हुआ क्या? नहीं।

निजस्वरूप—जगतमें जितने पदार्थ हैं वे सब अविनाशी हैं सुरक्षित हैं। उनका विनाश तीन कालमें भी नहीं हो सकता। तो यह पदार्थ जो इस देहरूपी मंदिरमें विराजमान हुआ भीतर ही बना-बना सारा लोक जानता रहता है, व्यवस्था करता है और खुद अमूर्त है पिण्डरूप नहीं है। इसमें कोई रूप नहीं कि आँखों देख लिया जाय, कोई रस नहीं कि जिह्वासे चख लिया जाये, कोई गंध नहीं कि नाकसे सूँघ लिया जाये, कोई स्पर्श नहीं जो पकड़कर समझ लिया जाय, कोई गंध नहीं कि नाकसे सूँघ लिया जाय, कोई रस नहीं की जिह्वासे चख लिया जाय, इसमें कोई शब्द नहीं कि कानोंसे सुन लिया जाय कि यह आत्मा है। यह तो ज्ञानज्योति स्वरूप सद्भूत पदार्थ है। यह ज्ञानज्योति स्वरूप सद्भूत पदार्थ निरंतर ज्ञान करता रहता है, इसका जानन देखन ही कार्य है। इसके अतिरिक्त बाह्य पदार्थोंमें यह आत्मा कुछ नहीं करता है।

अनुभवात्मक ज्ञानसे आत्माका यथार्थ परिचय—भैया! सर्व पदार्थोंसे भिन्न अपने आपके स्वरूपमें तन्मय यह मैं सद्भूत आत्मा हूँ, ऐसा निर्णय करो। इस आत्माको अनुभवात्मक ज्ञानसे

मोक्षके निकट पहुँचना है। सर्व संकटोंके विनाशका कारण बनता है। अनुभवात्मक ज्ञान किसे कहते हैं? जैसे मिश्रीका स्वाद हम बताना चाहें तो मुखसे कहकर हम आपके अनुभावत्मक ज्ञानके कारण नहीं बन सकते। हम आपके सामने मिश्रीके स्वादका वर्णन करें इससे तो अच्छा है कि २ आनेकी मिश्री लाकर आपके मुखमें धर दें। २ घंटे भी बोलकर हम मिश्रीका स्वाद आपको बताएं तो आपको उसका ज्ञान न हो सकेगा। वह ज्ञान आप मिश्रीकी डली मुखमें रखकर कर लेंगे। वह है आपका अनुभवात्मक ज्ञान। यह मिश्री ऐसी है कि वचनोंसे इसका ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार आत्माके सम्बन्धमें वचनोंसे हम कितना ही कहें उसका असर न होगा, किन्तु स्वयं निर्विकल्प होकर अनुभव कर लो।

आत्मपरिचय—जिसे आत्माका परिचय है वह तो उन सबका अर्थ जानकर अपने आपके अनुभवमें लग जायगा, किन्तु जैसे आत्मतत्त्वका परिचय नहीं है वह इस आत्माकी चर्चाको सुनकर ऊब जायगा। क्या रोज रोज वही चर्चा लगा रखी है, कुछ चटपटी बातें नहीं सुनाते तो मन कैसे लगेगा, ऊब जायगा। और जिसे आत्माका थोड़ा-बहुत परिचय है वह अनुभवके समीपवर्ती ढंगमें लगता जायगा और आत्माका अनुभवात्मक ज्ञान तो तब होगा जब कि आप सबको भूल जायें, बात सुनना भी समाप्त कर दें, किसीको अपने उपयोगमें न लें, बड़े परम विश्रामसहित अपने उपयोगको बना लें तो अपने आपही इस आत्माके सहज स्वरूपका ज्ञान उमड़ आयेगा, तब अनुभवात्मक ज्ञान होता है। अनुभवात्मक ज्ञानमें क्या चाहिए? यह चाहिए कि यह ज्ञानमें आ जाय कि ज्ञानका स्वरूप ऐसा है। ज्ञानका ज्ञान हो जानेका नाम ही आत्मानुभव है।

जाननका जानन—जैसे हम बहुतसे पदार्थोंका ज्ञान किया करते हैं, दरवाजा जान लिया, खम्भा जान लिया, घड़ी जान लिया, ठीक है, मगर घड़ीका जो जानन है उस जाननको भी जाना की नहीं। घड़ीको तो जाना, पर घड़ीके जाननको भी जाना की नहीं? वह जानन क्रियात्मक होता है। बस वह जानन, वह प्रतिभास इसके जाननमें आ जाय, इसीका नाम है आत्माका अनुभवात्मक बोध होना। जिसका जो लक्षण है उस लक्षण द्वारा समझो वह समझमें आयगा नहीं तो न आयगा।

अनुपायोंसे आत्मस्वरूप जानना टेढ़ी खीर—एक बालक था, सो एक सूरदाससे बोला, सूरदास जी खीर खावोगे? सूरदार बोले खीर कैसी होती है? कहा खीर सफेद होती है। उस बेचारेने कभी देखा नहीं कि सफेद कैसा होता है। सो पूछा सफेद कैसा? बालक बोला बगला जैसा सफेद। बगला कैसा होता है? वह बालक हाथ टेढ़ा करके बताता है कि बगला ऐसा होता है। उसने उस हाथ को टटोला तो वह टेढ़ा था। तो वह कहता है अरे ऐसी खीर टेढ़ी-मेढ़ी में नहीं खाऊँगा जो कि पेटमें भी गड़े। अरे भाई उस बालकने क्या अपराध किया? खीर सफेद होती है। बगला जैसी होती है, बगला टेढ़ा-मेढ़ा होता है। बतावो बच्चेसे चूक क्या हो गई जो कि वह सूरदास ठीक-ठीक समझ न सका। चूक यह हो गई कि अव्वल तो खीरका स्वाद बताना था। जैसे उसने पूछा था कि खीर कैसी होती है तो उसे यह बताना था कि खीर मीठी-मीठी होती है। अरे खीरके

रूपको हम क्या करें? बढ़िया खीर भी आप बना दें और कहें कि देखो यह खीर है। अरे तो देखने से पेट भरेगा क्या? मुँहके पास लावो तब तो उस खीरके स्वादको समझें। उसका रस मुख से वर्णन करना था। खीर, रूपका वर्णन किया तो रूपका ही वर्णन करे पर वह तो आकार में पहुँच गया। तो यह आकार खाना है कि रूप खाना है। खानेकी तो बात कह रहे हैं और जो खाया नहीं जा सकता है उसको सामने धर दो। इसीलिए तो लोग कहते हैं कि यह काम बड़ा टेढ़ी खीर जैसा है। ऐसा लोकव्यवहारमें कहते हैं। वह टेढ़ी खीर यही तो है जहाँ बात समझमें न आए और सारे काममें टेढ़ापन रहे। तो इसी प्रकार हम आत्माको समझने तो बैठे और आत्माके लक्षणकी बात न कहें और कहें तो आत्मा तो देहके बराबर का होता है। अब देखते जवो देहको। इतना लम्बा-चौड़ा है, इससे आत्माका क्या कुछ पता पड़ेगा? नहीं। वह तो टेढ़ी खीर बन गया।

वस्तुस्वरूपके परिचयका उपाय—खीरका पता कब पड़े उसे? जब यह समझाया जाय कि सूरदास जी! तुमने दूध तो पिया ही होगा, शक्कर खाया ही होगा, चावल खाया ही होगा। कैसे चावल जो बिना माँड निकला हो। अब वे सब मिलाकर जो स्वाद बनेगा वह खीरका स्वाद होगा। तो कुछ-कुछ समझमें आयगा। इसी तरह आत्माके सम्बन्धमें जब ज्ञान मुखेन वर्णन किया जायगा, देखो जो जानन है वह आत्मा है। जाननका किसे परिचय नहीं है? उस ज्ञानका ज्ञान करनेकी दिशामें उसे लगाया जाय तो वह समझ जायगा कि आत्मा इसका नाम है। पर आत्माका लक्षण जो ज्ञान है उस ज्ञान लक्षणको तो छोड़ दें और द्रव्य, पिण्ड, प्रदेश, परिणति इनकी दृष्टिसे वर्णन करने लगे तो आत्मा टेढ़ी खीर बन गई।

आत्माके परिचयका उपाय ज्ञानपरिज्ञान—इस कारण आत्माको ज्ञानी संत पुरुष ज्ञानमुखेन वर्णन करते हैं। जो ज्ञानस्वरूप है वह आत्मा है। तो अपने आपको केवल जानन रूपमें निरखो। जो जानन है वह मैं हूँ। यह पिण्डकी दृष्टि छोड़ दो। हाथ, पैर, नाक आदि सबको भूल जावो। केवल एक ज्ञान उजाला प्रतिभासमात्र उस ज्ञान उजाले रूपमें ही अपने को मानने लगे। यह एतावन्मात्र मैं हूँ तो इस ज्ञानके ज्ञानात्मक अनुभवन द्वारा इस ज्ञानमय आत्माका प्रत्यय हो जायगा। तो यह मैं नवाब साहब केवलज्ञानमय निकला, और यह केवल जाननका काम करता है। जाननके अतिरिक्त हमारा कोई काम नहीं है, ऐसे ज्ञानमय अनुभवसे सम्यग्ज्ञान जागृत होता है।

रत्नत्रयका साक्षात् बाधक विकारभाव—यहाँ प्रकरण चल रहा है कि मोक्षके हेतुका तिरोधान कौन करता है? मोक्षके हेतु हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इनका बाधक कौन है? यहाँ बताया गया है कि सम्यक्त्वका बाधक है अज्ञान परिणाम और सम्यक्चारित्रका बाधक है कषाय भाव। रत्नत्रयके बाधक कर्म नहीं हैं। कर्म तो परद्रव्य हैं, कर्मोंका आत्मामें अत्यन्तभाव है। रत्नत्रयका बाधक साक्षात् बताया कि आत्माका विकार भाव है और आत्माके विकारभावके उत्पन्न होनेमें कर्मोंका उदय निमित्त है। कर्मोदय निमित्तके बिना विकारभाव उत्पन्न नहीं हो सकता, यह बात एक अलग है पर रत्नत्रयका तिरोधान करने वाले कर्म नहीं हो सकते हैं।

साक्षात् बाधकके स्पष्टीकरणके लिये एक दृष्टान्त—जैसे पूछा जाय कि यह टेढ़ी अंगुली है, इसके टेढ़ेपनका तिरोधान हो गया तो इसके टेढ़ेपनका तिरोधान करने वाला क्या है? क्या यह मंदिर है? मंदिरने इस अंगुलीको दबा दिया क्या? क्या इस चौकी, पुस्तक, श्रोतावों आदिने इस अंगुलीको टेढ़ा कर दिया है? कोई कहेगा कि श्रोतावोंको समझानेके लिए सीधी किया तो श्रोता हो गए इस सीधी अंगुलीके बाधक, तो श्रोता नहीं हैं इस टेढ़ी अंगुलीके बाधक, किन्तु यह सीधी पर्याय है इस टेढ़ी पर्यायका साक्षात् बाधक। साक्षात् वह कहलाता है जिसके अंतरङ्गमें दूसरेकी अपेक्षा न पड़े। यहाँ तक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बाधककी चर्चा तो हो चुकी, आज सम्यक्चारित्रका बाधक क्या है इसका प्रकरण है।

वत्थस्स सेदभावो जह रणासेदि मलमेलणासत्तो।

कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णायव्वणां ॥ १५९ ॥

सम्यक्चारित्रका साक्षात् बाधक कषायपरिणाम—जिस प्रकार वस्त्रमें रहने वाली सफेदीको मलका सद्भाव नष्ट कर देता है इसी प्रकार चारित्रको कषायरूपी मल उच्छिन्न कर देता है। वस्त्र स्वभावतः सफेद है और महीने भर तक पहिने रहे, धोयें नहीं तो मैला हो जाता है। तो वस्त्रकी सफेदीका साक्षात् बाधक कौन है? उसपर लगा हुआ मल। इसी प्रकार आत्माके सम्यक्चारित्रका बाधक कौन है? आत्मामें लगा हुआ कषाय परिणाम। कषाय परिणाम चारित्रका साक्षात् बाधक है, क्योंकि कषाय परिणाम भी आत्माकी परिणति है और सम्यक्चारित्र भी आत्माकी परिणति है। और कषाय परिणति सम्यक्चारित्रसे विरुद्ध परिणति है। ये दोनों एक साथ नहीं रह सकते। सो सम्यक्चारित्रका नाश करने वाला विरोधी कषाय परिणमन है।

एक प्रासंगिक प्रश्नोत्तर—यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि जब सम्यक्चारित्र हो जाय तब क्या कह दोगे कि कषायका तिरोधान करने वाला सम्यक्चारित्र है? जैसे अभी कहा जा रहा है कि सम्यक्चारित्रका तिरोधान करनेवाला कषाय है और जब सम्यक्चारित्र उत्पन्न हो जायगा तब क्या यह कहोगे कि कषायका तिरोधान करने वाला सम्यक्चारित्र है? सो भैया! कषायका नाश करनेवाला सम्यक्चारित्र है यह तो कह दोगे, पर कषायका तिरोधान करनेवाला सम्यक्चारित्र है, यह नहीं कह सकते। इन दोनोंमें अन्तर है। तिरोधानका अर्थ है दबा देना। जैसे मटकामें दीपक धर दिया और ऊपरसे थाली धर दिया तो उसका तिरोधान कर दिया। इसका सीधा भाव यह है कि सम्यक्चारित्र तो आत्माका स्वभाव है और वह बढ़नेके लिए स्वरसतः तैयार बैठा है और स्वभाव भाव है शक्तिस्वरूप, सो उसका तो तिरोधान कहलाता है पर आत्माका कषायभाव स्वभाव भाव नहीं है। स्वरसतः होता नहीं है, अपने आप बढ़नेके लिए तैयार बैठा नहीं है, इस कारण कषाय का तिरोधान सम्यक्चारित्रके द्वारा कैसे कह सकें? सम्यक्चारित्रका तिरोभाव होता है कषाय के द्वारा।

चारित्रका प्रकाश—वह चारित्र भी क्या है? ज्ञानका चारित्र है। ज्ञानका सम्यक्त्व होना सम्यग्दर्शन, ज्ञानका ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान और ज्ञानका चारित्र होना सम्यक्चारित्र। आत्मा

ज्ञानलक्षणात्मक है और लक्षण और लक्ष्यका भेद चलनेसे आत्मा और ज्ञान ये दो बातें कही जाती है, पर आत्मा ही ज्ञान है व ज्ञान ही आत्मा है, कोई भेद नहीं है। यह ज्ञान उपाधिका निमित्त पाकर मलिन बन रहा है। विपरीत अभिप्राय को मिथ्यात्व कहते हैं। वह अभिप्राय क्या है? ज्ञानकी ही तो करतूत है, ज्ञानका ही तो अभिप्राय बनता है। तो मिथ्यात्वका जो विरोधी अभिप्राय बनता है वह ज्ञानकी मलिनता है। यह मलिनता दूर हो जाय, ज्ञानकी समीचीनता आ जाय, इसका नाम है सम्यक्त्व और ज्ञानमें ज्ञानका ज्ञान हो जाय, इसका नाम है सम्यग्ज्ञान, और ज्ञान ज्ञानरूप ही बर्तता रहे, इसका नाम है सम्यक्चारित्र। तो ये तीनों ही चीजें ज्ञानरूप पड़ती हैं। ज्ञानका ऐसा आचरण मोक्षका हेतु है और वह स्वभाव है।

चारित्रके तिरोधानका हेतु—यह ज्ञानचर्यारूप स्वकषाय नामक परभावोंसे कर्म मलिनतासे अवच्छन्न होनेसे, रुद्ध होनेसे यह तिरोहित होता है, दब जाता है। जैसे कि वस्त्रकी सफेदी किसके द्वार मिटेगी? किसी परभावके द्वारा। वस्त्रके ही द्वारा वस्त्रकी सफेदी न मिटेगी। किसी परवस्तुके द्वारा वस्त्रकी सफेदी तिरोहित होगी। इसी तरह आत्माका सम्यक्चारित्र तो स्वभाव है वह स्वभाव कषायमलरूपी परभावसे ढका हुआ है। तब कषाय करना, अज्ञान करना मिथ्या अभिप्राय रखना ये चीजें हेय हैं कि उपादेय हैं? हेय हैं, आत्माके अकल्याणस्वरूप हैं। और कषाय क्या है? कर्म। ज्ञानावरणादिकको यहाँ कर्म नहीं कह रहे हैं, किन्तु आत्माके द्वारा जो किया जाए उसको कर्म कहते हैं। आत्माके द्वारा क्या किया जाता है? ये मिथ्यात्व अज्ञान और कषाय।

कर्मकी उद्भूतिका कारण—क्या आत्माके द्वारा पुद्गल कर्म नहीं किए जाते हैं? नहीं। तो फिर ये लग कैसे गए? आत्माके द्वारा किए गए विभाव कर्मोंका निमित्त पाकर ऐसा ही कार्माणवर्गणों में योग्यता है कि वे अपनी परिणतिसे कर्मरूप बनकर आत्माके साथ स्थित रहते हैं। कर्म किसे कहते हैं? जो आत्माके द्वारा किए जाएं। आत्माके द्वारा पुण्यभाव और पापभाव किए जाते हैं, ऐसे पुण्यके परिणाम और पापके परिणाम ये दोनों कर्म हैं और कर्म रत्नत्रयके बाधक हैं। चाहे पुण्यकर्म हो और चाहे पापकर्म हो, वह आत्माके शुद्धभावोंका बाधक है। इस कारण ज्ञानके उद्योगमें दोनों ही प्रकारके कर्म प्रतिषेधके योग्य होते हैं। कर्म नाम वास्तवमें विभावोंका है और पुद्गल वर्णणावोंका कर्म नाम उपचारसे है। जैसे सिंह नाम जंगलमें रहने वाले उस पशुका साक्षात् है और यहाँ किसी पुरुषका सिंह नाम रख दिया जाय तो वह उपचारसे है। इसी प्रकार कर्म नाम आत्माके विकार भावोंका है, उस विकार भावका निमित्त पाकर पुद्गल वर्णणावोंमें जो उसके अनुकूल स्थिति बनती है उसका नाम कर्म है। यह उपचारसे है।

आत्मविकारको कर्म कहनेका कारण—आत्माके विकारको कर्म क्यों कहते हैं? क्रियते इति कर्मः। जो किया जाय उसे कर्म कहते हैं। तो ज्ञान नहीं किया जाता क्या? नहीं। श्रद्धान नहीं किया जाता क्या? नहीं। ज्ञान किया नहीं जाता है, ज्ञान होता है। श्रद्धान किया नहीं जाता, श्रद्धान होता है और रागादिक विभाव किए जाते हैं। किया जाने में और होनेमें किस कारणसे अन्तर है? जो

परकी अपेक्षा रखकर होता है उसे तो करना करते हैं और जो परकी अपेक्षा नहीं करके होता है उसे होना कहते हैं। होने और करनेकी ये दो व्याख्याएँ हैं। ज्ञान दर्शन आदिक परकी अपेक्षासे नहीं होते हैं, पर रागादिक विकार ये पर-उपाधि निमित्तकी अपेक्षा करके होते हैं। इसलिए इन रागादि विभावोंका नाम कर्म है। तो ये सर्व प्रकारके कर्म मोक्षके हेतुको तिरोहित करते हैं, इसलिए ये प्रतिषेधयके योग्य हैं।

पुण्यकर्मकी कुशलता—भैया! समयसारमें यह पुण्य-पाप नामक अधिकार चल रहा है। जहाँ यह बताया है कि पापको सभी लोग कुशील कहते हैं, क्योंकि उसका फल पाप है, पर वह पुण्यकर्म भी सुशील कैसा जो संसारमें प्रवेश कराता है। पुण्यका उदय हुआ, ठाठ-बाट, वैभव, चमत्कार मिला तो उन ठाठ-बाट, चमत्कारोंको निमित्त पाकर इस जीवने अपने आपमें मलिनता बढ़ायी, आसक्ति बढ़ायी, कषाय बढ़ायी, विषयेच्छा बढ़ायी, जिसके फलमें इसकी दुर्गति होगी तो यह पुण्यका दोष नहीं है। यह है अज्ञानका दोष। मगर पुण्यका और पुण्यफलके अज्ञानका प्रायः सम्बन्ध ऐसा है कि जहाँ पुण्यफल विशेष मिले वहाँ अज्ञान रहता है, नियम नहीं है पर प्रायः ऐसी बात है।

पुण्यकी कुशीलताका प्रदर्शन—एक नीतिकारने कहा है कि यौवन धन-सम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता। एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥ जवानी, धन-सम्पदा और प्रभुता याने लोगोंपर अपना असर दबाव और अज्ञान ये चार ऐसे कुतत्व हैं कि इनमें एक भी हो तो अनर्थ होता है, फिर जिस मनुष्यमें ये चारों हो जायें तो उसके अनर्थको क्या कहना है। जवानी, धन-सम्पदा व प्रभुता ये पुण्यके ही तो फल हैं। जवानी अकेले अनर्थ करनेके लिए है। धन-सम्पदा लोगोंपर, प्रभाव, अज्ञानभाव ये अकेले ही अकेले अनर्थ कर सकते हैं। पर जहाँ ये चारों मिल जायें वहाँ तो कहना ही क्या है?

समुदायकी अनर्थकारिता—चार पंडित थे। एक तो थे ज्योतिषी, एक वैद्य, एक व्याकरणके पंडित और एक दार्शनिक विद्वान। चारों पढ़े-लिखे खूब थे, मगर मूर्खतामें भी कम न थे। सो एक घोड़ा सबने लिया और वे चल दिये, एक जंगलमें से निकले। सबने सोचा कि आजके दिन यहीं कहीं पिकनिक कर लें, अच्छी तरह भोजन कर लें, मौज मान लें। कहा यहीं बस जावो क्योंकि सुहावना जंगल है। बस गए। सोचा कि घोड़ेको चरनेके लिए कहाँ छोड़ा जाय ज्योतिषीसे पूछा, उसने सोच विचारकर बताया कि पश्चिम दिशामें छोड़ दो। छोड़ दिया तो वह स्वतंत्र होकर भाग गया। खैर, कहा अच्छा रसोई बनावो। अब यह काम किसे दिया जाय? सबने कहा कि जो सबसे कमजोरसा हो व्यवहारकी चतुराईमें उसे यह काम दिया जाय? भाई वैद्य साहबकी तो आजकल बड़ी पूछ है, वे तो फोकट में हैं नहीं, ज्योतिषियोंकी भी कम इज्जत नहीं है, उनको भी लोग बहुत पूछते हैं।

वैयाकरणजीकी करतूत—अब रह गए वैयाकरण महाराज। सोचा कि यह काम वैयाकरण महाराजको दिया जाय, सो खाना बनानेका काम वैयाकरण महाराजको दिया गया। अच्छा तो साग

सब्जी कौन जाए? विचार हुआ कि वैद्य जी अच्छी लायेंगे, क्योंकि वे जानते हैं कि कौनसी सब्जी कैसी है। सो वैद्य जी सब्जी लेने गए। विचार किया कि पालक भाजी लें तो यह जुकाम करेगी, मेथी लें तो यह भी नुकसान करती है। इस तरहसे उन्हें सबसे अच्छी जंची नीमकी पत्ती। सो नीमकी पत्ती लाकर धर दिया। अब उसे चक्कूसे काटकर छोंक दिया। साग बन रहा है तो वह फुद् फुद् बोले। सो वैयाकरण महाराज सोचते हैं कि फुद् फुद् तो कोई शब्द ही नहीं है, पोथीमें भी उलट-पलट कर देखा कहीं फुद्-फुद् न था। फुद्-फुद्की शब्दसिद्धि व्याकरणमें मिली नहीं। तब कहा यह पतेली झूठ बोलती है, यह फुद्-फुद् क्यों कहती है? यह पतेली झूठ बोलती है इसलिए झूठ बोलने वाले के मुखमें मिट्टी झोंक दो। सोचा कि यह फुद्-फुद् तो कोई शब्द ही नहीं है तो उसने पतेलीमें मिट्टी झोंक दिया, क्योंकि शुद्ध संस्कृत जाननेवालेको अशुद्ध शब्द सुईकी तरह चुभता है। अभी कोई भक्तामरस्तोत्र पढ़ रहा हो और अशुद्ध पढ़ जाये तो संस्कृत पढ़े हुए व्यक्तिके वे शब्द सुईकी तरह चुभेंगे।

दार्शनिककी अकल—उनमेंसे दार्शनिक घी लेनेके लिए गया। एक गिलासमें पाव-डेढ़ पाव घी लिया, और आते समय रास्तेमें उसे एक शंका हुई कि घी पात्रके आधारपर है या पात्र घीके आधारपर है। सीधे शब्दोंमें यह कहो कि घीमें पात्र है कि पात्रमें घी है। उसको यह शंका हो गई कि पात्रके आधारमें घी है या घीके आधारमें पात्र है। सो वह डेढ़ पाव घी था, उससे गिलास भर गया था। उसके यह शंका हुई तो उस घीको औंधा दिया। सारा घी बह गया, गिलासकी पेंदमें थोड़ासा घी बचा। और जब आगे गया तो उसे फिर शंका हो गई सो उसने सोचा कि दुबारा पक्की तरहसे निर्णय कर लें, सो दुबारा फिर औंधा दिया। साराका सारा घी बह गया। अब वहाँ सागभाजीकी क्या दशा थी कि वह तो सारीकी सारी खराब ही हो चुकी थी? अब खाना पीना सब खराब हो गया, पिकनिक का टाइम भी पूरा हो चुका। सबने सोचा कि अब चलना है। कहा लावो घोडा। घोड़ेको ढूँढने गए तो वह नदारत।

दृष्टान्तके उपसंहारपूर्वक पुण्यफलसे अनर्थकी विवेचना—तो वहाँ चारों मूर्ख थे इसलिए इतनी विडम्बना हुई, यदि एक ही मूर्ख होता तो इतनी विडम्बना न होती। जब चारों ही मूर्ख हो गए तो हर तरहकी विडम्बना हो गई तो ये चारों कुतत्व, जवानी, सम्पत्ति, मिथ्यात्व और अज्ञान ये अकेले-अकेले हों तो कितनी विडम्बना बन सकती, और चारों मिल जायें तो उसकी विडम्बनाका क्या ठिकाना? तो पुण्यके उदयमें होता और क्या है कि इस विडम्बनाके ही साधन मिलते हैं। तो यह पुण्यकर्म सुशील कैसा जो संसार में प्रवेश कराता हो। पुण्यकर्म करना ठीक नहीं है। पुण्यकर्म हो जाय तो होने दो, मगर इस आशयसे यदि पुण्यकर्म किया जाय कि मैं पुण्यकर्म करूँ तो इसके मायने हैं कि संसार की वाञ्छा की, मुक्तिकी वाञ्छा नहीं की। शुद्ध आत्मतत्वका दर्शन करते हुए शुभ रागवश पुण्यकर्म बंधे तो वह सातिशय पुण्य बंधता है और उस पुण्यसे जबरदस्त धोखा नहीं होता है, क्योंकि उसका लक्ष्य पुण्यका न था, उसका लक्ष्य मोक्षका था।

आत्मस्वभावविकासका बाधक आत्मविभाव भैया! जिसका लक्ष्य ही पुण्यकर्मके करनेका हो उसको पुण्यकर्म धोखा ही देगा क्योंकि मूलमें अभिप्राय ही उसका खोटा है। तो ये दोनों प्रकारके कर्म मोक्षके हेतुका तिरोधान करते हैं इसलिए इन कर्मोंका प्रतिषेध किया गया है। ये कर्म मुझे बांधते हैं ऐसा नहीं है, किन्तु कर्म ही स्वयं बंधन है। आत्माके ये कर्म आत्मासे अलग नहीं हैं। कर्म शब्द कहनेपर आप ज्ञानावरणादिक पुद्गल कर्मोंका रंच ख्याल न करें और ऐसा सोचकर इस प्रकरणको सुनिए कि आत्मा है एक पदार्थ और उसमें जो विकार होते हैं वे इसके कर्म। यद्यपि पुद्गल कर्म हैं और बंधते हैं, सर्व प्रकारकी स्थिति है पर एक निश्चयकी मुख्यताके प्रकरणमें दूसरे पदार्थोंका ख्याल नहीं किया जाता।

साक्षात् और निमित्तरूप कारण दूसरे पदार्थ हैं, उनका निषेध नहीं है। जब वैज्ञानिक बात कहनेमें उतरेंगे तो सब बातें कही जायेंगी कि मिथ्यात्व नामक प्रक्रियावोंके उदयका निमित्त पाकर मिथ्यादर्शन होता है और मिथ्यादर्शन होनेसे मोक्षका मार्ग नहीं मिलता। इसलिए मोक्षका बाधक मिथ्यात्व नामक प्रक्रियावोंका उदय है। वहाँ तीसरेको बताया गया है। स्वयं तो है सम्यग्दर्शन और उसका बाधक है दूसरा, मिथ्यादर्शन और मिथ्यादर्शनका उदय है निमित्त प्रक्रिया, इसलिए साक्षात् में दूसरेको निमित्तमें तीसरेको बताया गया है।

परम्परा निमित्तका उदाहरण जैसे एक ट्रेनमें दस-बीस डिब्बे लगे हैं, इंजन चलाता है सबको ऐसा व्यवहारमें कथन है। निकट व्यवहारकी बात देखो तो इंजन केवल अपने पीछे लगे हुए डिब्बेको खींच रहा है और उसके पीछे लगे हुए डिब्बोंको नहीं खींच रहा है। इंजन अपने पीछे वाले डिब्बेको खींच रहा है, तीसरे डिब्बेको दूसरा डिब्बा खींच रहा है और चौथे डिब्बेको तीसरा डिब्बा खींच रहा है। इंजन तो केवल अपने पासके लगे हुए पहिले डिब्बेको खींच रहा है। यह साक्षात् व्यवहारकी बात कह रहे हैं। और निश्चयसे देखा जाय तो इंजन पहिले डिब्बेको भी नहीं खींच रहा है। इंजनमें तुम किसको देखोगे? पहियोंमें लगे हुए उस डंडेको देखोगे। तो डंडा किसको क्या कर रहा है निश्चयसे बतलावो? वह डंडा अपनेमें अपनी क्रिया कर रहा है। उसका निमित्त पाकर चूँकि पहिया चुपका हुआ है ना, इसलिए वह भी चल रहा है। एक एक पुर्जा अपने अपने में अपनी-अपनी क्रिया कर रहा है। कोई पुर्जा, कोई स्कंध किसी दूसरे स्कंधका परिणमन नहीं करता है। ये तो सब निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके कारण चलते हैं।

श्रोता व वक्ताकी क्रियामें उपचार कारणता श्रोतावोंका निमित्त पाकर वक्ता हाथ भी हिलाता, वचन भी बोलता, मनमें विकल्प भी करता तो इन तीनों चेष्टावोंका करने वाला श्रोता नहीं है, कराने वाले श्रोता नहीं है वह समर्थन करने वाले भी श्रोता नहीं हैं और कारण भी नहीं हैं। हाँ निमित्त कारण है और श्रोताजन जो कुछ अपने आपमें सोचते हैं, ज्ञानका विकास होता है उनका करनेवाला वक्ता नहीं है, उसका कराने वाले वक्ता नहीं हैं, उसका समर्थन करने वाला वक्ता नहीं है। हाँ निमित्त कारण है। तो इसी प्रकार आत्मा में जो मिथ्यादर्शन होता है, मिथ्याज्ञान होता है,

मिथ्याचारित्र होता है उसका करने वाला कर्म नहीं, कराने वाला भी कर्म नहीं, समर्थन करने वाला भी कर्म नहीं, उपादान कारण भी कर्म नहीं, हाँ निमित्त कारण है। तो यह समझो कि हमारे कल्याणका, मोक्षका साक्षात् बाधक विकारपरिणाम ही है। कोई अन्य द्रव्य नहीं हो सकते।

विकारोंके परित्यागका कर्तव्य—भैया! किसी भी उपायसे हम विकारोंको छोड़ सकें तो हम कल्याण कर सकते हैं। विकार छोड़नेके लिए दूसरोंसे मिन्नत करना काम न देगा, किन्तु अपने सहज स्वभावका दर्शन, सहज स्वभावका ज्ञान और सहजस्वभावमें ही रत होना यह प्रक्रिया काम देगी। सो पुण्य-पाप दोनों कर्मोंका आग्रह छोड़कर हमें आत्मस्वभावके दर्शनमें लगना चाहिए।

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेणवच्छणो।

संसार समावणो ण विजाणदि सबदो सव्वं ॥ १६० ॥

यह आत्मा स्वभावसे सबको जानने वाला और देखने वाला है, तो भी अपने कर्मरूपी रजसे होता आच्छादित होता हुआ, संसारको प्राप्त हुआ सर्व प्रकार से सब वस्तुओंको नहीं जानता है। कहना तो यह था कि कर्म ही बंध स्वरूप है और कह क्या दिया कि निज कर्मोंसे अवच्छन्न होकर मायने ढक कर यह सबको नहीं जान सकता है। इसमें दो बातें आईं। अपने गुणोंका विकास न हो पाना, यह बंधन है, सुख-दुःख भी बंधन है और अपने स्वभावके अनुकूल काम न हो पाना यह भी बड़ा बंधन है।

इच्छाका बन्धन—जैसे किसी बालकको यह इच्छा हो जाय कि यहाँसे उठो और घर चलो। और माँ नहीं उठती तो बच्चा कितना तड़फता है। अरे बालक तुमको क्या दुःख हो गया? लो मिठाई खा लो, फल खा लो, अच्छे गद्दे पर सो जावो, तुझे क्लेश क्यों हुआ? उसके क्लेश नहीं मिटाये मिटते हैं चाहे जितने अच्छे पलंग पर सुलावो। उसके तो मनमें एक बात आ गई कि घर जायें और आजादीसे रहें। यहाँ रिश्तेदारके घरमें बैठे हैं तो आजादीसे दिल नहीं लगता, यहाँ खेलनेको मन नहीं करता, तू घर चल। अपने मनके माफिक बात पूरी न बनना भी बंधन है।

अज्ञानका बन्धन—जीवका स्वभाव सब वस्तुओंके जानने देखनेका है, इस मर्मको नहीं जान पाना कि यही विकट बंधन है, क्योंकि यहाँ निज कर्मोंसे ढक गया; अर्थात् आत्मामें जो विकार भाव होता है वह ही कर्म है और उन विकारभूत कर्मोंसे यह जीव दबा है इसलिए गुणोंका विकास नहीं हो सकता। है तो यह स्वयं ज्ञानस्वभावी ज्ञानरूपी। सर्व विश्वको सामान्यरूपसे और विशेषरूपसे जानने का स्वभाव आत्मामें है पर अनादि काल से अपने पौरुष न किये जानेके अवरोधसे प्रकृत्या जो कर्ममल हैं, रागादिक विकार हैं, उन कर्ममलोंसे ढका हुआ होनेके कारण इस बंध अवस्थामें सर्व ओरसे आत्माको न जानता हुआ यह जीव अज्ञानभाव से ऐसा ही ठहर रहा है। इससे यह निश्चित होता है कि ये कर्म स्वयं बंधन है।

ज्ञानगम्य भावात्मक अमूर्त आत्माका भौतिक पदार्थोंसे बन्धनका अभाव—जीव है भावात्मक। इसको लम्बे चौड़े निगाहसे परखो तो अनुभवमें न आयगा। इसे किसी पिण्ड रूप की

निगाहसे देखो तो यह अनुभवमें न आयगा। इसको किसी अवस्थाके रूपमें देखो, यह क्रोधी है, यह मन वाला है इस तरहसे देखो तो जीव अनुभवमें न आयगा, किन्तु जीव का सहज स्वलक्षण जो चैतन्य भाव है उस चैतन्यका क्या स्वरूप है? मात्र प्रतिभास, केवल जानकारी, इस रूपसे यदि जीवको निरखो तो जीव अनुभवमें आयगा। तो ऐसा भावात्मक यह मैं आत्मा सोने चांदीसे बंध जाऊँ तो यह असम्भव है। जो आत्मा है वह वज्रमें से भी निकल जाय और हानि न पहुँचे ऐसा सूक्ष्म है, आकश की तरह अमूर्त है। कुछ ईट-पत्थरसे बंध सकता है क्या? नहीं। इसका बंधन तो भ्रम व राग ही है।

रागजालका प्रयोग—कोई वशमें आपके न होता हो, आपके बंधनमें न पड़ता हो तो एक उपाय ऐसा बता दें कि आपके बंधनमें आ जायगा, आपका दास बन जायगा। ऐसा उपाय बता दें। सुनना है आपको? जो आपके बंधनमें न आए, आपके कब्जेमें न आये वह आपकी गुलामीमें ही पड़ा रहे ऐसा मंत्र बताएंगे। आप लोगोंको जाननेकी इच्छा है? है। क्यों इच्छा न हो, आप तो इस जगतको अपने अधिकारमें करना चाहते हैं। अच्छा सुनो, उसका मंत्र है कि उसकी प्रशंसा कर दो, उसको ऊंचा कह दो, अच्छा बोल दो, तनिक विनयपूर्वक बोल दो इतनी सी बात है फिर तो दिनभर जो चाहे काम करा लो। यह है उसका मूल मंत्र। करते बने तो करके देख लो। मगर इसपर द्वेषकी प्रभुता इतनी विकट है कि जिस जीवपर द्वेष आ जाता है उससे अच्छा बोलने की मंशा ही नहीं होती है। और कोई यदि चतुर हो तो वह अच्छी तरह बोल ले तो उसके सारे कंटक सब खतम हो जायेंगे। राग ही विकट बंधन है। वह रागके बंधनमें पड़ गया, तो अपने आपके आत्मामें जो रागभाव होता है बस यह राग ही बन्धन है। हम किसके आधीन हैं? सब अपने आपमें उठते हुए विकल्पोंके आधीन हैं।

रागमें होने वाली कल्पनाका बन्धन—किसीको आपने दो चार हजारका ड्राफ्ट उधारी में दे दिया। ड्राफ्ट दे दिया, अब कल्पना हो गई कि ये तो कुर्वेमें गए। अब दुबारा नहीं मिलने हैं। अब देखो यह भीतरमें कितना दुःखी हो रहा है? उसको क्या कागजने दुःखी किया? ड्राफ्टने दुःखी किया। अरे उसने रागकी कल्पना बनाई सो यह इतना हताश हो गया कि दिल थामे थामे फिरता है कि हार्ट फेल न हो जाय। तो कौनने दुःखी किया? खुदकी कल्पनाने। तो खुदमें उत्पन्न हुआ विकार भाव है यह ही जीवको बुरी तरहसे सता रहा है। तो यह विकाररूपी कर्म ही स्वयंका बंधन है जिसके बंधनमें पड़ा हुआ जीव अपने ज्ञान, दर्शन, गुणके पूर्ण विकासको नहीं प्राप्त होता है।

अभीष्ट न पा सकनेकी अशक्तिकी परिस्थितिका बन्धन—आपकी इष्ट चीज तीन हाथ दूर पर रखी है जिसे आप हड़पना चाहते हैं और किसी मनुष्यने आपको रोक रखा है, दूर कुछ नहीं है, तीन हाथ दूरका फर्क है, मगर इतनी तकलीफ आप पा रहे हैं। क्यों पा रहे हैं कि जो इष्ट चीज है और बिल्कुल नजदीक है उसको ही तुम नहीं पा सकते तो इसमें मुख्य बंधन क्या है? उस चीजको नहीं पा रहे हैं यह एक बड़ा बंधन बन गया जिससे तुम दुःखी हो रहे हो। उस चीजको तुम नहीं

पा रहे हो इसका कारण बना तुम्हारी अपनी कमजोरी, जो तुम दूसरे से अपनेको छुटाकर एकदम उस वस्तुके पास नहीं पहुँच सकते। इस कमजोरी व परवशतमें जो हमारी यह परिणति बनी है, उसका निमित्त बना है वह दूसरा पुरुष। इसी प्रकार हमारा वह ज्ञानविलास समस्त विश्वको एक साथ स्पष्ट जान ले इस ज्ञान विलासको जो मेरेमें ही मौजूद है शक्ति रूपसे अपना ही विकास है उस को हम नहीं पा रहे हैं तो अंधेरेमें रहकर हम दुःखी हो रहे हैं। यह एक बड़ा बाधक है। हम क्यों नहीं पा रहे हैं अपने उस ज्ञानविकासको, अनन्त आनन्दकी निधि, कि हम स्वयं कमजोर बन गए हैं। रागादिक विकारोंके कारण इस कमजोरीमें रागादिक विकारों की जो स्थिति बनी है उसका कारण है कर्मोंका उदय। तो ऐसे बहिरङ्ग ओर अन्तरङ्ग साधनोंमें फँसा हुआ यह जीव प्रभु नहीं हो पाता है।

संकट नाना, संकट मेटनेका उपाय एक भैया! कितने संकट हैं इस जीवपर, एक बतावें, दो बतावें, अनन्त संकट हैं। ज्ञान नहीं हो पाता, सही ज्ञान सिद्ध नहीं होता, इष्ट वस्तु नहीं मिलती, अनेक प्रकारकी इच्छाएँ होतीं, अनेक रागद्वेष आते, जो चाहते हैं उसकी सिद्धि नहीं होती। कितने संकट हैं इस जीवपर, किन्तु उन सब संकटोंके छूटनेका उपाय एक है। जैसे कोई मनुष्य अर्द्धनिद्रामें सो रहा हो और १०-५ लोग ऊधम कर रहे हों, बातचीत कर रहे हों, तो आप यह कहते हैं कि भैया गप्पें मत करो, नींद आ रही है। जब नहीं मानते हैं तो अपनी चादर तानकर पैर तनिक कड़े बनाकर आँखें मींचकर, टन्नाकर सो जाता है। इसी प्रकार ये संकट हमपर बनते हैं और इन्हें बहुत समझाते हैं भैया तुम ऐसे न परिणमो, तुम जल्दी मेरे पाससे जावो, अथवा कभी न बिछुड़ो, सबको मनाया, पर ये नहीं मानते तो अब अपने ही उपयोगकी चादर तानकर उसके भीतर अपने आपकी ओर झुककर विश्रामसे कुछ क्षण ठहर जावो, सारे संकट अपने आप समाप्त हो जायेंगे।

संकट भी वस्तुतः मात्र एक बहिर्मुखता भैया! इन संकटोंके मिटानेका का एक ही उपाय है। बन्धन भी एक है बहिर्मुखता और बन्धनसे मुक्त होनेका उपाय भी एक है अन्तर्मुखता। अन्तर्मुखता एक तरहकी होती है और बहिर्मुखता भी एक तरहकी होती है और विषय नाना हैं, इसलिए उसके नाना भेद हो जाते हैं। वैसे तो अन्तर्मुखता भी एक ढंगकी है और बहिर्मुखता भी एक ढंग की है, और बाहरमें विषय नाना हैं, इसलिए उसके रूपक नाना बन जायेंगे। बंधन है तो वह बहिर्मुखताका है और मुक्ति है तो वह अन्तर्मुखताके द्वारा है। इस तरह जितने भी हमें बंधन हैं वे रागके बंधन हैं।

कषायके रंगमें सफाईकी डींग कभी-कभी घरके धर्मात्मा अपनी सफाई पेश करते हैं। अजी हमें तो किसीसे कुछ मतलब ही नहीं, कुछ सम्बन्ध ही नहीं, घरमें तो हमें रहना पड़ता है। वह छोटा लड़का है उसकी वहजसे थोड़ा घरमें रहना पड़ता है कि वह पलपुस जाय तो अच्छा हो जाय और हम तो बिल्कुल बेदाम हैं। कितनी सफाई देते हैं? कुछ सफाई देते हैं कि हम क्रोध नहीं करते हैं, हम तो मुँहफट हैं, जो मनमें आता उगल देते हैं। कितनी सफाई देते हैं? अरे यह मुँहफट होना, उगल देना यह सब कषाय है। उन छोटे बच्चोंको तुम दया करके पालते हो या रागमें अंधे

होकर, उनके दास बनकर पालते हो? यदि आपमें दया है तो और भी तो गाँवके बालक हैं, उनपर क्यों दया नहीं आती? एक घरमें पैदा हुए बालक पर भगवान जैसे तुम निर्दोष होकर दयालु बन गये। तो यह सब विषय कषार्योंका रंग है। सफाईसे क्या होता है?

सफाईका लोगोंको धोखा देनेसे कर्मबन्धनमें धोखाका प्रभाव—सफाईसे तो इस चेतनको धोखेमें डाल सकते हैं पर ये कर्म बेचारे तो जड़ हैं, इसलिए ईमानदार हैं, उन्हें धोखेमें नहीं डाल सकते हैं। जो समझदार हैं, चेतन हैं उनकी तो आँखोंमें धूल झोंक दें मगर कर्मोंकी आँखोंमें धूल नहीं झोंक सकते हैं। उनको तो जैसा निमित्त होना चाहिए वैसा निमित्त मिल गया तो वह अपना कर्मरूपी बंधन बना लेगा। इस आत्माका बंधन वास्तवमें आत्माका विकार है।

रागके बन्धनका क्लेश—पुराणोंमें जो चर्चा होती है और देखनेमें भी जो घटनाएँ मिलती हैं कि कोई पुरुष किसी स्त्रीपर मोहित होकर अपनी जान गवां देता है, युद्ध करता है, लड़ाइयोंमें मरता है, अपनेको बड़ी आपत्तिमें फंसा लेता है। वह है क्या? वह है रागका बंधन। एक रागके बंधनसे बंधकर रावणने अपना सर्वनाश कर लिया, और था क्या? बतलावो सारा मामला दूर-दूर, एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें अत्यन्ताभाव। किसी पदार्थसे किसी अन्य पदार्थका रंच सम्बन्ध नहीं? सब अपने-अपने घरमें बैठे हैं, अपने प्रदेशसे बाहर कोई पदार्थ नहीं है, लेकिन अपने आपमें ही अपनी कल्पना बनाकर हम दुःखी होते हैं।

अब कर्म मोक्षके हेतुके तिरोधायी हैं, दबानेवाले हैं, इस प्रकारके निर्णयको बताते हैं

सम्मत्तपडिणिवद्धं मिच्छतं जिणवरेहिं परिकहियं।

तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठत्ति णायव्वो ॥ १६१ ॥

सम्यक्त्वका प्रतिबन्धक निमित्त मिथ्यात्व प्रकृति—सम्यक्त्वको रोकने वाला मिथ्यात्व नामक कर्म है। उसके उदयसे यह जीव मिथ्यादृष्टि होता है ऐसा जानना चाहिए। जैसे अंगुलीकी सीधी पर्यायको रोकने वाली टेढ़ी पर्याय है, टेढ़ी पर्यायको रोकने वाली सीधी पर्याय है इसी प्रकार सम्यक्त्वको रोकनेवाली आत्माकी मिथ्यात्व नामक पर्याय है जो कि तत्काल बाधक है। उस मिथ्यात्व परिणामके होनेका निमित्त कर्मप्रकृतिका उदय है। उसका निमित्त पाकर जीव अपनेमें विपरीत परिणाम करता है और सम्यक्त्वसे दूर रहता है।

छूटकाराकी विधि—जैसे कारागारमें बेड़ीसे बंधा हुआ कैदी यानि बेड़ीसे छूटना चाहता है तो बेड़ीसे छूटने से पहिले उसे विश्वास होना चाहिए, उस उपायका ज्ञान होना चाहिए और उस उपायको कर लेना चाहिए तब वह बंधनमुक्त होता है। इसी प्रकार इस संसार कारागारसे पीड़ित यह कैदी यदि इस बंधनसे छूटना चाहता है तो बंधनसे छूटनेके उपायका विश्वास होना चाहिए, ज्ञान होना चाहिए और फिर उन बंधनोंसे छूटनेका आचरण बनना चाहिए तब छूटना होता है।

व्यर्थका कुटेव—भैया! एक कुटेव भर लगा है। कुटेव छूटे कि लो प्रभुका ही प्रभु है। वह कुटेव नहीं छोड़ा जाता जो व्यर्थ है, असार है, कोई तत्व नहीं है। छोड़नेमें कष्ट नहीं है बल्कि आनन्द

है। ऐसा वह रागद्वेषका कुटेव नहीं छोड़ा जाता है। इतना ही मात्र बंधन है जिससे प्रभुमें और मुझमें इतना बड़ा अन्तर हो गया है कि वह तो ज्ञानी और अनन्त आनन्दमय है और यह हम और आप अज्ञानी और दुःखी रहा करते हैं।

भिखारीका परघर फिरन—परघर फिरत बहुत दिन बीते नाम अनेक धराये। अभी तक यह जीव परघरमें ही फिरता रहा, परवस्तुकी आशा रखना परघर फिरना कहलाता है। यह उपयोग अपने निज ज्ञायक स्वरूप निजगृह को छोड़कर बाह्य पदार्थरूपी परगृहमें डोलता रह आया है, इन पंजेन्द्रियके विषयोंमें रुचि करता आया है। मुझे अब इसमें आनन्द मिलेगा। भोजन कर चुके, पेट भर गया, क्षुधा शांत हो गई तो इच्छा होती है कि खुशबूदार इत्र भी लगा लें। अरे इत्र न लगावो तो क्या मरे जाते हो। भोजन बिना तो मरे जाते, पर खुशबूदार इत्रकी क्यों मंशा हो रही है? अरे क्यों मंशा न हो? जब मलिनता है तो किसी न किसी रूपमें व्यक्त होनी चाहिए। पेट भर गया तो इत्रका शौक होना चाहिए। अच्छा शौक कर लो। पर सनीमा देखना चाहिए, सरकस, नाटक आदि खेल देखना चाहिए। अरे इनको न देखे तो क्या कोई प्राणोंपर संकट आ रहे हैं? पर क्या करें, रागमें ऐसा बंधे हुए हैं कि उनके कुछ न कुछ इच्छा जग ही जाती है। लो सनीमा देख लिया। अब कोई सुरीला राग चाहिए, सुन्दर शब्द सुनने चाहिए, लो अब उसकी तलाशमें फिर रहे हैं। फिर इतनी देरमें भूख लग आई। फिर पेट भरनेको चाहिए। यह जीव क्या कर रहा है? सुबहसे दूसरे सुबह तक २४ घंटे कोई विवेकाक काम, ज्ञानका काम कर रहा है क्या? रागके बंधनमें बंधा हुआ, विषयोंकी ओर झुका हुआ परघर फिर कर यह जीव अपने अमूल्य क्षणोंको व्यतीत कर रहा है।

विषयोंकी खाज खुजानेमें अमूल्य अवसरको गवां देना—जैसे सिरका खजोला। अंधा पुरुष किसी नगरमें जाना चाहता है तो कोटपर हाथ धरकर चल रहा है, जहाँ दरवाजा मिलेगा वहाँ ही घुस जायगा। चलता जा रहा है पर हाथ रे दुर्देव, जहाँ ही दरवाजा मिला वहाँ ही सिर तेज खुजलाने लगा तो सिर खुजलानेमें उतना काल व्यतीत कर दिया, पर पैरों से चलना नहीं छोड़ा। अरे खड़े ही खड़े सिरको खूब खुजला लेता, और फिर कोट पर हाथ रखकर चलता, पर उसे इतना गम नहीं है। चल देता है, दरवाजा निकल जाता है, फिर हाथ धरकर चलता है।

इसी तरह एक शांतिनगरमें जानेके लिए यह अंधा विषयोंका विषैला पुरुष उद्यम करता है। चल रहा है पर जैसे ही मनुष्यभव मिला, जो दरवाजा था शांतिनगरमें पहुँचने का, बस वहाँ ही इसके खुजलाहट और तेज हो गई। पशु बेचारे राग करेंगे तो वे उजड़पन से करेंगे, पर मनुष्य राग करेगा तो साहित्यकी कलासे, बड़ी कुशलतासे राग करेगा। तो इसके सिरमें खुजलाहट बहुत तेज हो गई, कषायोंमें आसक्ति हो जाती है, बुद्धिको, ज्ञानको, वचनोंको, सबको रागमें लगा देता है। तो ज्यों ही मनुष्यभव आया था मुक्ति पानेके लिए उस ही मनुष्यभवके दरवाजेपर यह विषयोंकी खाज खुजलाने लगा। खुजा लो खूब, पर समय तो न जाये। जैसे मान लो २५ वर्षके हैं तो २५ के ही रह जाएं और विषयोंकी खाज खुजला लें, सो न होगा। समय तो गुजरता रहता है। निकल गया

अब समय। ऐसी स्थितिमें विरला ही बुद्धिमान पुरुष होगा जो खाजकी पीडाको सह लेगा, मगर उसके प्रतिकारमें बंधन न होगा।

अहितसे निवृत्त रहनेका साधक सतत्त्वज्ञानका बल भैया! यह बल आता है तत्त्वज्ञानसे, सम्यक्त्वसे। जिस पुरुषके सम्यग्दर्शन है वह पुरुष पूर्ण बद्ध कर्मोंके विपाकसे किसी राग और भोगमें भी लग रहा हो तो भी इतना उत्कृष्ट विवेक है कि उससे हटते हुए लग रहा है। जैसे किसीको मालूम है कि यह आग पड़ी है और किसी पुरुषकी जबरदस्तीसे अपना हाथ आगपर जा रहा है तो हटते हुए जायगा, लगते हुए न जायगा। और पीछे आग पड़ी है, कुछ पता नहीं है और हाथ टेककर आराम लेनेकी तुम्हारी धुन होती है तो लगते हुए हाथ धरोगे कि हटाते हुए? जोर देते हुए हाथ धरोगे। तो आप यह बतावो कि ज्यादा कहाँ जलेगा? जबरदस्ती किसीकी प्रेरणासे आपका हाथ धरा जा रहा है तो चूँकि तुममें भी शक्ति है इस कारण तुम हटाते हुए हाथ धरोगे। इसी प्रकार ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवमें एक ज्ञानबल प्रकट हो, जिस ज्ञानबलके कारण यह हटता हुआ लगता है प्रेरणा है रागकी, पूर्वबद्ध कर्मोंकी, सो उस प्रेरणाके कारण लगना तो पड़ता है ज्ञानीको विषयोंको, पर वह हटता हुआ लगता है। वह दोस्ती किस कामकी कि मन फटा हो और दोस्ती बनाई जा रही हो, वह विषयोंमें लगना क्या कि दिल तो हट रहा है और भोगोंसे अलग रह रहे हैं। यों ये ज्ञानी संत सम्यक्त्वके प्रभावसे सुखी हैं।

जीवका ज्ञानस्वभाव जीवका स्वभाव ज्ञान है। ज्ञानके अतिरिक्त जीवकी पहिचान का और कोई उपाय नहीं है। जो जानता है वही जीव है। वह जीव कितना है, कितना जानता है? इसकी कोई हद नहीं बांध सकता है। यह जीव दो कोस तक ही जाना करे इससे आगेको न जाने ऐसी सीमा डालने वाला कौन है? जब यह ज्ञानमय आत्मा अपने आपके प्रदेशोंमें ही रहता हुआ दूरकी बातोंको जानता है तो फिर इसमें कोई हद नहीं डाल सकता कि यह जीव चार कोस तक ही जाने, या इतने क्षेत्र तक ही जाने। यदि यह आत्मा अपने स्वरूपसे उठकर बाहरी पदार्थोंमें जा जाकर बाहरी पदार्थोंको जानता होता तो यह कहना युक्त हो सकता था कि जहाँ तक यह आत्मा पहुँच सके वहीं तक जानेगा, किन्तु यह आत्मा अपने ही प्रदेशोंमें ठहरा हुआ इस देहरूपी मंदिरमें ही पड़ा हुआ यहींसे सर्व कुछ जानता रहता है। तब इसके जाननेकी सीमा नहीं की जा सकती है, लेकिन देखते तो हम आप यह हैं कि किसीका ज्ञान हजार मील तकका है। तो किसीका ज्ञान १० हजार मील तक है, किसीका ज्ञान १० वर्ष पहिलेका है तो किसीका ज्ञान इससे अधिक वर्ष पहिलेका है। ऐसी सीमा देखी जाती है। इसके रोकने वाला कौन है ऐसा प्रश्न होनेपर यह गाथा कही जा रही है।

णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिणहियं।

तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥ १६२ ॥

ज्ञानका प्रतिबंधक अथवा प्रतिकूल भाव अज्ञानभाव है ऐसा जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्रणीत हुआ है। जहाँ अज्ञान है वहाँ ज्ञान नहीं रह सकता है और जहाँ ज्ञान है वहाँ अज्ञान नहीं रह सकता है। तो

ज्ञानका प्रतिकूल विरोधी अथवा प्रतिबंधक अज्ञान भाव है। उस अज्ञानके उदयसे जीव अज्ञानी होता है। ऐसा जानना चाहिए।

ज्ञानका साक्षात् आवरण—भैया! देखिए यह बात साक्षात् आवरणकी कही जा रही है कि जीवके ज्ञानको रोकनेवाला कौन है? जीवके ज्ञानको रोकनेवाला अज्ञान है। ज्ञान न होना ऐसी वृत्ति जीवके ज्ञानको रोकती है। ऐसा सुनकर मनमें यह लगता होगा कि इसमें दूसरी बात क्या कही गई है? ज्ञान न होना सो ज्ञानको रोकता है। बात तो एक ही हुई, किन्तु यहाँ परिणतियाँ दो हैं—ज्ञानपरिणति और अज्ञानपरिणति। तब यह बात बिल्कुल ठीक है कि अज्ञानका परिणमन होगा तो ज्ञानको रोक देगा, किन्तु यह अज्ञान होता क्यों है? यदि आत्माके स्वभावसे ही अज्ञान होता है तब वह भी स्वभाव हो गया, फिर हानि कुछ नहीं। सो ऐसा तो है नहीं।

ज्ञानका प्रतिबन्धक निमित्त ज्ञानावरणकर्म—अज्ञानको उत्पन्न करनेवाला निमित्त ज्ञानावरणादिक कर्मोंका उदय है। यह ज्ञानावरणादिक कर्मोंका उदय उपादान रूपसे अज्ञान को उत्पन्न नहीं करता, किन्तु वह निमित्त मात्र है। सो जीवके ज्ञानको रोका अज्ञानने और अज्ञानकी उत्पत्ति हुई कर्मोंके उदयके निमित्तसे। यह प्रकरण मोक्षमार्गका चल रहा है। मोक्ष तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र रूप है। यह रत्नत्रय जीवमें क्यों प्रकट नहीं हो पाता? इसको तीन गाथावोंमें बताया जा रहा है। उन तीनों गाथावोंमें से यह दूसरे नम्बरकी गाथा है।

व्यवहार संसार—यह समस्त संसार असार है। किसी ओर दृष्टि डालो। संसार कहते किसे हैं? नाना प्रकारके परिवर्तन और परिभ्रमण करनेवाले जीवके समूहका नाम संसार है। कुत्ता, बिल्ली, गधा, सुवा, कीड़ा-मकोड़ा, पशु-पक्षी, मनुष्य अच्छे-बुरे—यह सब जीवोंका जो समूह है इसका ही नाम संसार है कि जगहका नाम संसारहै। स्थानका नाम संसार नहीं है।

स्थानविभागसे संसार मोक्षके विभागका अभाव—यदि स्थानका नाम संसार कहें तो विभाग करके बतलावो कि कितनी जगहका नाम संसार है और कौनसी जगह छूटी, जिसका नाम मोक्ष है। तो यह कहा कि जहाँ सिद्ध भगवान बसते हैं उस जगहका नाम तो मोक्ष है और ये असंख्यात दीप समुद्र जहाँ भरे पड़े हुए हैं, जहाँ स्वर्ग और नरककी रचना है या सर्वात् सिद्ध तक है वह सब संसार है। तो ऐसा कहना तो ठीक नहीं बैठ सकता। इसका कारण यह है कि जितनेको तुमने संसार माना उस संसारमें भी रहने वाले जो अरहंत भगवान हैं, वीतराग सर्वज्ञ देव हैं वहाँ पर अरहंत भगवान तो बड़े सुखी हैं, परमात्मा हैं, तीन लोकके अधिपति हैं, समस्त जीवोंके द्वारा आराध्य हैं। और जिसको मोक्ष माना है उस सिद्ध लोकमें भी अनन्त निगोदिया जीव भरे हैं, जो एक स्वासमें १८ बार जन्म मरण करते हैं तो वहाँ रहकर भी ये निगोदिया जीव दुःखी हैं। सुखी तो नहीं हैं? नहीं। तब जगहके विभागसे संसार और मोक्षका विभाग नहीं हो सकता।

परिणामोंके विभागसे संसार मोक्षका विभाग—परिणामोंके विभागसे संसार और मोक्षका लक्षण बनता है। जो रागद्वेष परिणाम है, जो नानारूपका पर्यायमें परिणमन है वह सब संसार है।

जहाँ रागद्वेष मोह नहीं है केवल शुद्ध ज्ञानका परिणमन है, जहाँ ज्ञानके द्वारा दो लोक और अलोक साक्षात् स्पष्ट जान लिए जाते हैं, केवल जहाँ ज्ञानका वर्तना रहता है ऐसे निर्दोष परिणामका नाम मोक्ष है। परिणामोंसे ही संसार है और परिणामोंसे ही मोक्ष है।

जीवमें संसारभाव आनेसे बिगाड़—जैसे पानीमें नाव पड़ी रहे तो नावका बिगाड़ नहीं होता, पर नावमें पानी आ जाय तो नाव डूब जाती है। इसी प्रकार इस संसारमें हम आप बस रहे हैं, इससे हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं है, पर हम आप अपने चित्तमें संसारको बसा लें, मोह रागद्वेष बसा लें, इन पदार्थोंको अपनेमें ही स्थान दें तो इससे हमारा आपका बिगाड़ है।

संसारकी अज्ञानरूपता—यह सब संसार अज्ञानरूप है। जहाँ तक अज्ञान माना है, परमार्थ संसार वहीं तक है। और मनुष्यको तो १२ गुणस्थान तक माना है। एक दृष्टिसे १२वें में नहीं है क्योंकि वहाँसे लौटनेकी बात नहीं है इसलिए ११वें तक संसार है। और एक दृष्टिसे ११वें गुणस्थानमें संसारभाव नहीं। वस्तुतः जिस जीवको रागद्वेष भावोंसे विरक्त केवल ज्ञानज्योतिर्मय आत्मतत्वका परिचय हो गया उसका संसार छूट गया। उसके अनन्तानुबंधी कषाय नहीं है। अनन्तानुबंधी कषायसे अज्ञान है। इस ज्ञानभावका प्रतिबन्धक कौन है? अज्ञानभाव। यह अज्ञान मुझे मोक्षमार्गसे रोकता है। सीधे शब्दोंमें यों कह लिया जाय कि यह मोह ही मोक्षसे मुझे रोकता है।

प्रभुकी प्रभुताके रूप—मोह और मोक्ष, ये दोनों बराबरके बल वाले परिणमन हैं। मोक्षके परिणमनमें यदि अनन्त सुख भरा है तो मोहके परिणमनमें अनन्त दुःख भरा है। मोहका परिणमन करने वाला जीव मोक्षको नहीं प्राप्त कर सकता है और मोक्षका परिणमन करने वाला जीव मोह नहीं प्राप्त कर सकता है। मोक्षके परिणमनमें यह सारा विश्व आकशमें एक नक्षत्रकी तरह ज्ञात हो रहा है। इतना विराट रूप है केवलज्ञानके भगवान का कि विराट रूपमें यह सारे विराट ज्ञेय पदार्थ, विराट विश्व उनके ज्ञानके एक कोनेमें समाया रहता है। तो यदि प्रभु भगवानका, मुक्त जीवका इतना विराट रूप है तो इस संसारी जीवका भी विराट रूप देखिए। निगोदसे लेकर स्वयंभूरमण समुद्रमें रहने वाले मच्छ तक इतने प्रकारके देहके अवगाहनाके काय हैं, ऐसा विचित्र देहरूप परिणमन कर लेना यह क्या इस आत्माप्रभुका विराट रूप नहीं है? मुक्त जीव और मोही जीव, इन दोनोंका अद्भुत पराक्रम आप देखते चले जा रहे हैं, पर मोही जीवके पराक्रममें केवल आकुलताएँ हैं और मोक्षार्थी जीवके पराक्रममें अनन्त आनन्द है।

आत्मप्रभुकी अनात्मपदार्थों से विविक्तता—हम आप सब समस्त पदार्थोंसे जुदा हैं। जितने भी चेतन अचेतन भौतिक पदार्थ इस जगतमें हैं उन सबसे मैं न्यारा हूँ और घरमें उत्पन्न होने वाले जो ५-७ जीव हैं उनसे भी मैं न्यारा हूँ। मैं इस शरीरसे भी न्यारा हूँ। मैं जो जान रहा हूँ उस जाननहारको तो तकिये। यह सबसे न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप है। इस ज्ञानघन आत्मप्रभुके अंतरङ्गमें किसी भी प्रकार का रागद्वेष नहीं है। ऐसे इस आत्मप्रभु पर हम आप कितना अन्याय करते चले जा रहे हैं? कितने रागद्वेष मोह बनाते चले जा रहे हैं जिनके कारण इस जीवको चारों गतियोंमें

भटकना पड़ रहा है। किसीसे भी विश्वास न करो कि इन पदार्थोंके कारण मेरा हित हो जायगा। पुत्र मेरा हित न करेगा, कोई मित्र ऐसा नहीं है जगतमें जो स्वार्थके बिना मेरी खबर रखने वाला हो। कोई बंधु नहीं है ऐसा लोकमें, कोई परिवारका सदस्य नहीं है ऐसा लोकमें कि खुदके स्वार्थकी पूर्ति हुए बिना आपसे प्रेम जताया करें। सब जीव हैं, सब पदार्थ हैं, सब अपने-अपनेमें परिणमते हैं। तो फिर किसमें हित मानें और किसमें सुख मानें?

अज्ञानके परिहारकी प्रेरणा—अब एकदम मोहके पथको छोड़िये, तोड़िए, मुड़िये, पीछे देखिए, अपने आपको देखिए, यह ज्ञान आ जाय तो यह अद्भुत आनन्दनिधान ज्ञानमात्र आत्मप्रभु तो यहीं विराजमान है। उस प्रभुका ज्ञान आ जाय तो जगतके तीन लोक तीन कालके सब पदार्थ आपको स्पष्ट प्रतिभास हो जायेंगे। क्या चाहिए आपको? आनन्द। तो उस आनन्दके ही उपायमें लगिये, शुद्ध आनन्दका स्वरूप समझिए। यह भगवान जिनेन्द्र देवकी वाणी है। किसीके बहकावेमें न आइए, यह जिनेन्द्रदेवकी वाणी ही सत्पथमें लगाने के लिए है। बहका हुआ प्राणी यह मानता है कि मुझे लोग बहका रहे हैं। तो जब तक वहम नहीं मिट जाती तब तक यथार्थ बुद्धि नहीं आती। इस ज्ञानका साक्षात् प्रतिबंधक मात्र अज्ञान परिणाम है।

सम्यक्चारित्रके प्रतिबन्धकका परिज्ञान—इस अज्ञान परिणामकी प्रेरणासे यह जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, मोहमें लगता है। सो अंदाज कर लो कि इस कषायके फलमें मिलता क्या है? यह ही मिथ्याचारित्र है। ये विषयकषायके भाव आत्मशांतिको मिटा देते हैं। आत्मशांति कहो, आत्मविश्राम कहो अथवा सम्यक्चारित्र कहो एक ही बात है। मोक्षमार्गका उपाय अंतिम सम्यक्चारित्र है। यह सम्यक्चारित्र भी हम आप आत्माका स्वभाव है। यह क्यों नहीं प्रकट हो पाता है? इस सम्बन्धमें अब इस प्रकरणकी तीसरी गाथा कही जा रही है।

चारित्रणडिणिवद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं।

तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥ १६३ ॥

चारित्रका प्रतिबन्धक कषायभाव—ज्ञानका जानना, रम जाना सो चारित्र है। इस ज्ञानका प्रतिबंधक है कषाय। ऐसा जिनेन्द्रदेवने बताया है। उस कषायके उदयसे यह जीव अचारित्री हो जाता है। जैसे एक म्यानमें दो तलवार नहीं रह सकती हैं, इसी प्रकार एक उपायमें मिथ्याचारित्र और सम्यक्चारित्र दोनों तरहकी परिणतियाँ नहीं हो सकती हैं। यदि कषायभाव है तो चारित्रसे हाथ धोइए और यदि सम्यक्चारित्र है तो वहाँ कषाय नहीं रह सकेगा। इस कषायका विरोधी सम्यक्चारित्र है और सम्यक्चारित्रका विरोधी कषायभाव है।

कषायोंका दुष्परिणाम—अब इन विषयकषायोंका प्रताप तो देखो! जब यह क्रोध करता है तो कितना दुःखी रहता है और क्रोध करता है मदसे। जिस पदार्थपर क्रोध करते हों वह पदार्थ तुम्हारे आधीन नहीं, तुम्हारा हित अहित करने वाला नहीं, वे परपदार्थ अपने स्वरूपको छोड़कर तुम्हारे स्वरूपमें आते नहीं, किन्तु अपने ही आत्मामें पड़े-पड़े अपने ही आत्मामें पड़े-पड़े अपने ही

गुन्नारेसे कल्पनाएँ बना-बना कर स्वयं क्रोध किया करता है, दुःखी हुआ करता है। इस क्रोधसे आत्माके सारे गुण जले जा रहे हैं, पर विवेक नहीं है तो क्रोध किए बिना यह रहता नहीं है। जिसे संसारके यथार्थस्वरूपका परिचय नहीं है वह इन दुर्गतियोंमें ही भटकता है।

मेरे भले-बुरे होनेका कारण मेरा भला-बुरा परिणाम भैया! क्या करना है अपन को? जैसे बड़े पुरुष छोटे आदमीकी गलतीको अनसुनी कर देते हैं, इससे मेरा क्या बिगाड़ होता है, इसी तरह ज्ञानी पुरुष परद्रव्योंके परिणमनका अंदाज कर लेता है। इन परपदार्थों के परिणमनसे मेरा क्या हित अहित होता है, मैं बुरा होऊँ तो मेरा अहित होगा और मैं भला होऊँ तो मेरा भला होगा। यह एक पक्का निर्णय है। मेरे बुरा होनेका मतलब ही कषायोंका लिपटा होना और मेरे भले होनेका मतलब है, कषायरहित शुद्ध ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको निहार कर ज्ञानमात्र परिणमन बनाना, यह है भला होनेका परिणमन, सो इस स्वरूपको इन दुष्ट भावों से दबा रखा है, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ इन ६ शत्रुओं ने मेरे इस ज्ञानस्वरूपको बरबाद कर दिया है जो कि अनन्तानुबंधी क्रोधादिकके भेदसे २४ प्रकारके कहे गए हैं। कषाय भावके उत्पन्न होनेसे साक्षात् सम्यक्चारित्रका विनाश होता है। ये सारी बातें रखना, खोटा अभिप्राय रखना, अज्ञान होना, कषाय होना यह आत्माका ही कर्म है। इन्हें अत्मा ही तो किया करता है। ये कर्म स्वयं मोक्षके हेतुके तिरोधायी हैं; अर्थात् जब हमारा कर्मरूपी परिणमन है तो वहाँ मोक्षमार्गरूपी परिणमन नहीं है। इस कारण समस्त कर्मोंका प्रतिषेध किया गया है।

धर्म भावकी उत्कृष्टता यह पुण्य-पापका अधिकार है। इस ग्रन्थमें शुभ परिणामोंको पुण्य कहा है और अशुभ परिणामोंको पाप कहा है, मगर इन दोनोंसे उत्कृष्ट विलक्षण एक धर्म परिणाम देखिए। जो मोक्षका साक्षात् उपाय है। शुद्ध वीतराग, ज्ञानमात्र सहज आत्मस्वरूपको निहारना सो धर्म है। इस धर्मका तिरोभाव किया है, विनाश किया है तो इन विभ्रम व कषाय कर्मोंने किया है। चाहे वह शुभ परिणाम हो, चाहे पाप परिणाम हो वह धर्मभावको रोकता है। इस कारण मोक्षके हेतुको रोकनेके कारण ये पुण्य-पापरूप दोनों ही प्रकारके कर्म निषेध योग्य हैं।

कर्मके प्रतिषेधमें कर्तव्यसम्बन्धी प्रश्नोत्तर इस प्रकार समस्त कर्मोंको निषेधके योग्य बतानेपर एक जिज्ञासु पुरुषको शंका उत्पन्न होती है कि फिर क्या किया जायगा? हम खोटे भावोंको दूर कर दें और तप, व्रत नियम भावद्भक्ति आदि शुभ परिणामोंको भी दूर कर दें तो फिर क्या कि जायगा? उत्तर किया जायगा एक ज्ञानमात्र स्थिति हो जायगी। देखिए आप सबकी गृहस्थावस्था है। गृहस्थमें शुभापयोगी मुख्यता है, देवपूजा करिये, गुरुवोंकी उपासना करिये, संयम, व्रत और तपमें लगे और उदार होकर दान कीजिए। ये ६ प्रकारके काम गृहस्थोंको करनेके लिए बताए गए हैं। सो गृहस्थोंमें यद्यपि शुभोपयोगी मुख्यता है किन्तु यदि दृष्टि ऊंची नहीं चलती है तो मोक्षमार्गसे तुम वंचित रहोगे। साधुका ज्ञान और श्रावकका ज्ञान चूँकि आत्मा तो वही है, एकसा रहता है मोक्षमार्गके निर्णयमें। गृहस्थोंकी दृष्टि ऊंची रहेगी, तग छोटे-मोटे शुभोपयोगरूपी धर्म भी

अच्छी प्रकार पलेंगे। यदि शुभोपयोग तक ही दृष्टि रहे तो न शुभोपयोग हाथ रहेगा और न शुद्धोपयोग हाथ रहेगा। इस कारण मोक्षार्थी पुरुषके लिए क्या करना चाहिए, इसका वर्णन अब अमृतचन्द्राचार्यके एक कलसमें कहते हैं।

पुण्य-पापरूप समस्त कर्मोंके त्यागका उपदेश—सन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना। सन्यस्ते सति तत्र का किल तथा पुण्यस्य पापस्य वा। सम्यक्त्वादिनिजस्वभाव-भवानामोक्षस्य हेतुर्भवन्। नैष्कर्म्यं प्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति। कह रहे हैं कि मोक्ष के चाहने वाले पुरुषके लिए सर्व प्रकारके कर्म त्याग देने चाहिएँ। कर्म मायने करतूत। पुण्य की करतूत और पापकी करतूत। शुभोपयोगकी करतूतको त्यागना चाहिए। कोई पुण्यकी करतूतको त्याग दे और पापकी करतूतको न त्यागे तो वह तो सीधा नरक निगोदका पात्र है। इसके अतिरिक्त और कोई गति उसके लिए नहीं है किन्तु पाप और पुण्य दोनोंको एक साथ त्याग सके तो उस जीवकी महिमा है और वह जीव मोक्षका पात्र है।

पुण्य-पापरूप दोनों कर्मोंके त्यागका फल—गृहस्थावस्थामें कैसी वृत्ति होनी चाहिए कि पापका तो त्याग करें और धर्मका लक्ष्य रखें और पुण्य परिणाम होता हो तो होने दें। यह स्थिति होती है गृहस्थावस्थामें। तो जब यहाँ मोक्षार्थी पुरुषके लिए पुण्य, पाप दोनों प्रकारके कर्मोंका त्याग करना बता दिया है तब पुण्य और पापकी तो कथा ही क्या है? जब शुभ और अशुभ व ज्ञानके बदलने रूप तककी क्रियाका त्याग बताया है तब पुण्य और पाप की कहानी कौन कहे? ये तो त्यागने योग्य ही हैं। तब होता क्या है कि जब सब प्रकारके कर्मोंको त्याग दिया जाता है तो सम्यक्त्व आदिक जो आत्माका स्वभाव है उस स्वभावरूपसे यह आत्मा होने लगता है। आप कषाय न करेंगे तो शांति झक मारकर आयगी। आप अभिमान न करेंगे तो कोमलता अपने आप आयगी, सरलता स्वयं विराजेगी, जब आपके तृष्णा न रहेगी तो पवित्रता स्वयमेव आयगी, क्योंकि ये सब आत्माके स्वभाव हैं।

ज्ञानसंयतिका उत्कृष्ट फल—जब यह जीव समस्त विषयक्योंकी इच्छाको त्याग देता है, सर्व प्रकारके कर्मोंको त्याग देता है तब सम्यक्त्व आदिकका अपने स्वभावसे परिणमन होता है और उस परिणमनमें यह ज्ञान मोक्षका हेतु बनता है। यह ज्ञानयोगमें, समाधिमें स्थित होता है, इस ज्ञानका रस बढ़ने लगता है, और अगर आप बाहर जानेकी कोशिश करते हैं तो ज्ञानमें कमी रहती है। जब हम बाहरमें जाननेकी कोशिश न करें बल्कि सर्व पदार्थोंके जाननेका हम अपनी बुद्धिसे त्याग कर दें तो अपने आपमें इस ज्ञानके संयत होनेके कारण ऐसा ज्ञानरस बढ़ेगा कि तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थ एक साथ जाननेमें आ जायेंगे। वही तो प्रभुकी दशा है।

प्रभुभक्तिकी मोहनाशमावरूपमें परिवर्तना—हम प्रतिदिन आकर मंदिरमें भगवान स्थापना जिनेन्द्रके समक्ष प्रणाम, नमस्कार, पूजन, स्तवन करते हैं तब यह भाव भरें कि प्रभु जो तेरा स्वरूप है वही उत्कृष्टस्वरूप है, यही मेरे लिए शरण है और ऐसा मैं भी हो सकता हूँ। आपके ध्यानके

प्रतापसे मुझमें वह बल प्रकट हो कि मेरा मोह दूर हो जाय और आप जैसी उत्कृष्ट अवस्था मेरेमें प्रकट हो। इतना भाव यदि इस पूजन, स्तवनके समय नहीं भर सकता है तो समझ लीजिए कि हमने पूजा ही नहीं की। ऐसा उत्साह जगे कि मोहको तो नष्ट ही कर दें।

ज्ञान व वैराग्यपूर्वक कर्तव्य—घर छोड़नेकी बात नहीं आपसे कही जा रही है। आपके लड़के आपकी दुकान वही है, किन्तु भीतरसे इतनी श्रद्धा कर लेनेमें आपका कुछ बिड़ता है क्या? यह जीव है, इसकी भिन्न सत्ता है। ये मेरे कुछ लगते नहीं हैं। ये किसी गतिसे आए हैं और किसी गतिको चले जायेंगे, सदा रहनेका यह संयोग नहीं है, ये सब बिछुड़ जाने वाले जीव हैं ऐसी श्रद्धा बनी रहे, लोकव्यवस्थाके नाते करना सब कुछ आपको पड़ेगा। दूकान चलाये बिना काम न चलेगा, कोई प्रकारकी आजीविका किए बिना काम न चलेगा, गृहस्थीका गुजारा न होगा, पर सच्ची श्रद्धा यदि साथ रह जायगी तो समझ लीजिए कि हम मोक्षमार्गमें लगे और श्रद्धाविहीन होकर जैसा चाहे तैसा कीजिए। उसका फल तो संसारमें जन्म-मरण करना है। मनुष्यभवसे चिगकर कीड़े-मकोड़े, पशु पक्षी आदिमें जन्म ले लिया तो इसमें ही जानेमें अपना लाभ समझते हैं। अरे लाभ नहीं है। तो कार्य ऐसा कीजिए कि जिससे जब तक संसार शेष है तब तक धर्मका समागम मिलता रहे और उसमें ही पल-पुसकर हम निर्वाणको प्राप्त करें।

ज्ञान और कर्माविरतिका भी क्वचित् युगपत् निवास—जब तक जीवके कर्मोंका उदय है और ज्ञानके सम्यक् प्रकारसे विरति नहीं होती है ऐसी स्थितिमें ज्ञान और कर्म दोनों एक साथ आत्मामें ठहरते हैं। कोई जीव ऐसे हैं कि जिन्हें ज्ञान तो यथार्थ हो गया, किन्तु कर्मों का उदय प्रबल होनेसे वे क्रिया कर्मोंसे विरक्त नहीं रह सकते, इसलिए कुछ प्रवृत्ति भी है, ऐसी स्थितिमें कुछ जीवोंके ज्ञान और कर्म दोनों एक साथ चलते हैं अर्थात् आरम्भ परिग्रहमें भी लगना, भक्ति भी बने रहना और शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी प्रतीति, उन्मुखता रहना ये दोनों एक साथ रहते हैं। पूर्ण उपयोग नहीं होता, ऐसी प्रवृत्ति चल रही है और उसका यथार्थ ज्ञान बना हुआ है इसलिए प्रवृत्तिसे निवृत्ति की भावना चल रही है। जब ऐसी स्थिति होती है कि ज्ञान और कर्मोंके इकट्ठा रहनेमें विरोध नहीं आता, किन्तु उस परिस्थितिमें भी जितने कर्म हैं, जितने कर्मभाव हैं उतने ही वे बंधके लिए हैं और उसमें जितना ज्ञान भाव है वह मोक्षके लिए हैं। जो जानन है वह तो कर्मोंसे रहित है, राग द्वेषसे दूर है। उस कर्म के करनमें इस जीवको मालिकाई का अनुभव नहीं होता।

परका स्वामी मानना अज्ञान—वह आत्मा अज्ञानी है जो किसी परवस्तुके प्रति ऐसा भाव रखता है कि मैं मालिक हूँ। मकान धन वैभव परिवार मित्रजन सब कुछ अपने से अत्यन्त न्यारे हैं। मैं उनमेंसे किसका अपनेको मालिक समझूँ, यह बड़ा मलिन परिणाम है। इसका फल अच्छा नहीं होता। संसारमें रुलना ही इसका फल है। ऐसा पवित्र जैनशासन पाकर अपने उपयोगको इतना तो निर्मल बना लो कि यह मैं आत्मा केवल अपने ही स्वाधीन हूँ, किसी परवस्तुका परका मालिक नहीं हूँ। ऐसी अंतरङ्गमें श्रद्धा बना लो। बात भी सही सही है इस कारण कही जा रही है। यदि

परका मैं मालिक हूँ, ऐसा ही भाव बनाया तो मालिक तो त्रिकाल हो ही नहीं सकता। पर इस भ्रममें जो पाप बंधेगा उसका फल भव-भवमें भोगना पड़ेगा पुण्यका उदय है, कुछ ठाठ मिल गया, इसमें आसक्त न हों, यह सदा रहनेको नहीं है। इसका वियोग होगा। कुछ अपने आत्माकी सुध लो। कर्मोंका उदय है, गृहस्थीमें रहना पड़ता है पर उनमें मालिकाईका अनुभव तो न करो, इतना तो गम खावो, अन्यथा फिर गति सुलझनेको नहीं है।

मोक्षका साधक ज्ञातृत्व परिणामन—मोक्षके लिए तो एक ज्ञानपरिणामनको साधक बताया गया है। तुस सबके ज्ञाता द्रष्टा मात्र हो। यदि राग होता है तो उसके ज्ञाता रहो। मोक्षमार्गमें जब व्यवहारपद्धतिसे चलते हैं तो वहाँ ज्ञान और प्रवृत्ति दोनों बने रहते हैं। जैसे गृहस्थजन पूजा करें, गुरु उपासना करें और और प्रकारकी समाजसेवा करें, किन्तु ये सब करते हुए भी अन्तरङ्गमें यह ज्ञान रखना आवश्यक है कि है हमारा कहीं कुछ नहीं, मेरा उपयोग विषय कषायोंमें न लग जाय, इस कारण अपने उपयोगको किसी शुभस्थानमें लगाएँ। पर पूरा तो पड़ेगा मेरे ज्ञानभावसे ही ऐसी श्रद्धा बनाए रहें। साधु भी तो अपने पदके योग्य सब चेष्टाएँ करके ऐसी श्रद्धा रखता है कि मैं तो चैतन्यमात्र हूँ, मेरा लोकमें कहीं कुछ नहीं है। यह सब कुछ करना पड़ता है। इस संसारसे मुक्त होना है, इस लिए महाव्रत, समिति, गुप्ति ये सब पालन करने पडते हैं, किन्तु मेरा स्वरूप तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है।

अज्ञानियोंकी क्रियाकाण्डोंमें ही रुचि—केवल ज्ञाता द्रष्टा रहना मेरा काम है। ऐसी ही बात यथार्थ है, लेकिन कोई अज्ञानी पुरुष ज्ञान और क्रियाकाण्डोंमें से केवल क्रियाकाण्डोंका ही आलम्बन करे, ज्ञानभावको छोड़ दे, जो व्रत, तपस्या, नियम आदिक किए जा रहे हैं उनकी ही हठ पकड़ले ऐसा करनेमें ही धर्म है, इससे ही मुक्ति मिलेगी। ज्ञानको छोड़ दें तो वह मुक्तिमार्ग का यथार्थ पथिक नहीं है। जैसे यहाँ दर्शन करने आते तो भगवानको जगानेके लिए घंटा ठोका करते हैं। इतना भी ध्यान नहीं होता कि लोग सामायिक या शास्त्र सभामें बैठे हैं, उनको बाधा पहुँचेगी तो यह एक क्रियाकाण्डकी आसक्ति ही तो है। जिन साधुजनोंने क्रियाकाण्डोंको ही पकड़ लिया और ज्ञानको छोड़ दिया तो मुक्तिका मार्ग तो यह ज्ञानभाव ही था।

बाह्यचारित्रकी उपेक्षासे हानि—इस ज्ञानभावको भूल गए तो मुक्ति कहाँसे पावोगे? कोई पुरुष ऐसा हो कि शास्त्रोंमें सुना रखा है कि मोक्षका मार्ग ज्ञान ही है, कुछ करना नहीं है व्रत, नियम, तप वगैरह, सो वह हो गया स्वच्छन्द। अब वह उद्यम और पुरुषार्थ करेगा क्या, और गप्पें मारने लगे कि आत्मा है, ज्ञानमात्र है, खाता नहीं, पीता नहीं, चलता नहीं, ये राग है, भक्ति करनेसे पुण्य होता है। पुण्य संसारका कारण है, गप्प मारनेमें लग गए और भीतरमें ज्ञायकस्वभावी प्रभुकी पकड़ न कर सके तो वह भी स्वच्छन्द हो गया और शिथिल हो गया। ये दोनोंके दोनों तिर सकनेमें असमर्थ हैं।

ज्ञान और अप्रमादसे सिद्धि—जो निरन्तर ज्ञानरूप होता है, जो क्रियाकाण्डोंमें नहीं पड़ते, जिनके प्रमाद नहीं होता वे सावधान हैं, वे ही लोग इस लोकके ऊपर तैरते हैं; अर्थात् समस्त

लोकको मात्र जानते हैं, परमात्मा बनते हैं। सर्वत्र मुख्यता है सम्यक्त्वकी। सम्यक्त्वके समान तीन लोक तीनकालमें श्रेयस्कर पदार्थ कोई नहीं है और मिथ्यात्वके समान अहितकर तत्व और कोई नहीं है। मेरा ही आत्मा मुझे आनन्दमें पहुँचाता है और मेरा ही आत्मा मुझे क्लेश में पहुँचाता है, संसारमें पहुँचाता है। मेरा ही आत्मा मुझे मुक्तिमें पहुँचाता है। मेरा रक्षक इस लोकमें कोई दूसरा नहीं है। जो पद्धति संसारसे छूटनेकी है उस पद्धति से ही संसारसे छूटा जा सकेगा और जो पद्धति संसारमें रुलानेकी है उस ही पद्धतिसे संसार में रुलना होगा।

एकान्त हठका निषेध—यहाँ एकान्तमतका निषेध किया गया है। जो अपने ज्ञानस्वरूप आत्माको तो जानता नहीं है और व्यवहारमें दर्शन ज्ञान चारित्रिके अंग और दर्शनकी क्रियाओंको ही, आडम्बरको ही मोक्षका कारण जानकर उसमें ही पत्पर रहे वह कर्मनयका पक्षपाती जीव है। कर्मनयके पक्षपाती जन ज्ञानको जानते नहीं और क्रियाकाण्डोंमें ही रहकर खेदखिन्न होते हैं। वे संसारसमुद्रमें डूबते हैं, तिरनेका उन्हें अभी उपाय नहीं मिला। सबसे बड़ा काम तो शांति से रहनेका है। वह धर्म क्या है जिस धर्मके पालते हुएकी स्थितिमें अशांति पैदा हो जाय, क्रोध आ जाय। वह धर्म नहीं है, वे ब्रत, नियम, सोध भी धर्म नहीं हैं, जिनमें क्रोध बना रहे, मान माया बनी रहे। वे कर्मोंके चंगुलमें फँसे हुए हैं।

संकटोंके बादल—भैया! चारों ओरसे इस आत्मापर संकट छाये हुए हैं। आज मनुष्य हैं, मरकर पेड़-पौधे बन गए तो समझो कि उनकी क्या हालत है? दुनियावी दृष्टिसे देखो उनका क्या हाल होगा? कितने संकट छाए हुए हैं इस पर? यहाँ घमण्ड करने का कुछ अवकाश है, क्रोध करनेका कुछ काम है। माया, लोभमें रमनेसे माना लाभ है। अरे चारों ओरसे संकट इस जीवपर छाए हैं। तो हे भव्य आत्मन्, तू उस शुद्ध भगवानके स्वरूपकी उपासनामें रह और जगतके इन सब जीवोंको परमात्मस्वरूपमें निरख। इसमें न कोई तेरा साधक है और न कोई बाधक है। ये सब परमात्मतत्व हैं, जो ये जगतके जीव रुल रहे हैं ये पुरुष अपने आपको भूलकर रुल रहे हैं। यहाँ तुम्हारा साधक या बाधक कोई नहीं है। तुम अपनी समतासे रहो और इस जीवनको मुक्तिके मार्गमें लगाओ।

यह पुण्य-पापका अधिकार चल रहा है। यह अब समाप्त होनेको है। इस समाप्ति के प्रसंगमें इस तरहका ज्ञान बनाओ कि लो अब तक मैं खूब सुन चुका कि इस जीवका केवल ज्ञाताद्रष्टा रहने मात्रमें ही हित है और कल्याण है। इसके अतिरिक्त शुभ भाव करना, अशुभभाव करना ये दोनों ही संसारमें रुलानेके कारण हैं। ऐसा जानकर यह ज्ञान ज्ञान मात्र आत्माको जाने, यही ज्ञानकी उत्कृष्टता है। संसारमें अनेक प्रकारके ज्ञान हैं। आविकारका ज्ञान, राजनीतिका ज्ञान, व्यापार विज्ञान, अनेक कलावोंका ज्ञान, पर इन ज्ञान बढ़ाने वालोंसे पूछो कि खूब तुमने कलाएं दिखायीं और मायामय लोकके बीच बड़प्पनका भी शौक लूटा, पर तुम्हारी आत्मामें कुछ शांति प्रकट हुई है या नहीं? वहाँ यह उत्तर मिलेगा कि शांति तो नहीं मिल सकी। इसका कारण यह है कि यह

परविज्ञान अपने आत्माके स्वरूपके ज्ञानको छोड़कर परमें आकर्षित होकर होने वाला विज्ञान निराश्रय है, इन विज्ञानोंको ध्रुव आश्रय नहीं मिला सो यह बदलता रहता है और किसी वस्तुके ज्ञानमें देर तक रहनेमें आकुलताएँ हो जाती हैं, क्योंकि संतोषका साधन तो परतत्व है नहीं, किन्तु अज्ञान जबरदस्तीमें ही परके उपयोगको खींचे जा रहा है तो असंतोष ही होगा। संतोष होगा तो एक अपने आपके शुद्ध ज्ञानस्वरूपके जाननेमें संतोष होगा।

आत्मानुभवका यत्न—आत्माका यथार्थ अनुभव कब होता है जब कि मनमें संकल्प विकलन नहीं रहता। यहाँके पदार्थोंमें इष्ट और अनष्टिका जो उन्माद चल रहा है वह पागलपन है। जिस भ्रम रसके पीने से वह बावलेकी तरह अनेक पदार्थोंको ग्रहण करता और छोड़ता है ऐसे इन सब मिथ्या कर्मोंकी भूलसे उखाड़ देने पर ही उसे ज्ञानप्रभुसे भेंट हो सकती है। योगीजन ज्ञानघन आनन्दमय पवित्र प्रभुकी भेंट छोड़कर रुलने वाले मोही मलिन अज्ञानीजनोंसे भेंट कर रहे हैं, इन्हें ही अपना सर्वस्व मान रहे हैं, किन्तु ये बिल्कुल भिन्न हैं और इन्द्रधनुषकी तरह तक्षण विनाशीक है। रहेगा यहाँ कुछ नहीं। केवल पछतावा ही हाथ रह जायगा। तो उस पछतावेसे लाभ क्या है? जीवन रहते हुए पछता लेनेपर कुछ लाभ मिलता है, जीवन जाने पर पछतावा किया तो उससे क्या लाभ मिलेगा?

ज्ञानकला—भैया! सत्य श्रद्धा जगावो। भीतरकी यह बात है। किसीने कहना नहीं है कि यह पुत्र तो निगोदका कारण है, यह स्त्री तो नरकी खान है, यह कहना नहीं है। भीतरमें यह श्रद्धा रखो कि कर्मोदयवश इनमें लगना पड़ रहा है। स्त्री हो, पुत्र हो, कोई भी हो, यह जो परवस्तुवोंका आकर्षण है वह अपनेको रीता कर डालता है। खुदमें जब भरकमपना नहीं रहता तब यह स्वयं रीता हो गया। शांति और आनन्दकी धुनि नहीं होती तो यह दर-दर ठोकें खाकर अपने समयको गुजारा करता है। इस भेदके उन्मादको तजो, एक ज्ञानस्वरूप अपने प्रभुको निरखो, जगतके अन्य जीवोंको भी अपने स्वरूपकी तरह निरखो, ये किसी भी प्रकार चलें, परिणममें, उन सबसे कर्मोंकी प्रेरणा समझो, जीवों का दोष न समझो। यों स्पष्ट कर्मोंसे ज्ञानातिरिक्त भावोंको मूलसे उखाड़कर अपनी कलाको संभालो। तुम्हारी कला है ज्ञानकी कला। उसे जान लो और चाहे कुछ न जानो केवल ज्ञाता दृष्टा रहनेकी कलाका प्रयोग करना है।

नियमका फल—एक गृहस्थ साधुके पास गया। साधुने कहा कि तुम दर्शनका नियम ले लो। कहा, महाराज! मंदिर तो बड़ी दूर है। उतनी दूर जाना मुश्किल है। अच्छा तो तुम्हारे घरके सामने क्या है? कहा मजाराज, हमारे घरके सामने एक कुम्हारका घर है सो उस कुम्हारका भैंसा हमारे दरवाजेके सामने बंधा रहता है सो उस भैंसेका चाँद हमें रोज दिख जाता है तो साधुने कहा, अच्छा तुम उसीके दर्शन करके खाना खाया करो। बोला हाँ महाराज, यह तो हो जायगा। गप्पें सुननेमें तो बड़ा मन लगता है पर धर्मचर्चाकी बात सुननेमें थोड़ा चित्तको बलपूर्वक लगाना पड़ता है। सो वह रोज उसी चाँदका दर्शन कर लिया करे। एक दिन १ घंटा पहिले ही कुम्हार भैंसे को लेकर

खानसे मिट्टी खोदकर लानेके लिए चला गया। जब वह वहाँ दर्शन करने पहुँचा तो भैंसा न मिला। पता लगाते-लगाते वह खानके निकट पहुँचा। जिस समय वह पहुँचा उस समय क्या हुआ कि कुम्हारको खानसे मिट्टी खोदतेमें एक अशर्फियोंसे भरा हंडा मिला। सो उस कुम्हारने सिर उठाकर देखा कि कोई देखता तो नहीं है। इतनेमें वह गृहस्थ भी उस भैंसाका चाँद देखने पहुँच गया। भैंसेके चाँद को देखा। कुम्हारने समझा कि सेठने देख लिया। कुम्हार चिल्लाता है कि अरे सेठ जी सुनो तो, सेठने कहा बस देख लिया। क्या देख लिया? भैंसेका चाँद। कुम्हार क्या सोचता है कि हमारी अशर्फियोंका हंडा इसने देख लिया है। अरे तो जरा सुनो तो, बस देख लिया, सब देख लिया। वह तो अपने घर चला गया। कुम्हार भी अपने घर आया और विकल्पों में पड़ गया कि कहीं यह राजासे कह न दे तो पिटाई भी हो और अशर्फियाँ भी छुड़ा ली जायेंगी। सो वह हंडा लेकर कुम्हार उसके घर पहुँचा और बोला सेठ जी, तुमने देख तो लिया सब, पर किसीसे कहने सुननेकी बात नहीं है, आधी तुम ले लो और आधी हम ले लें। आधी अशर्फियाँ ले लिया। तो सेठ सोचता है कि एक भैंसाके चाँदके दर्शन करनेके नियमसे इतना धन मिला और साधु महाराज कहते थे कि मंदिरके दर्शन किया करो, यदि वहाँ दर्शन करें तो पता नहीं कौनसी निधि मिले?

श्रद्धापूर्वकम भक्तिमें सिद्धि निश्चित—भैया! दर्शनका जरा विश्वास कम है इसलिए प्रभुदर्शन से आनन्द और निधि मिल नहीं पाती। यदि पूर्ण विश्वास सहित जैसा प्रभुका स्वरूप है उस स्वरूपके दर्शन करें तो उस समय ऐसी स्थिति होगी कि किसी भी परपदार्थका संकल्प विकल्प नहीं है, कोई चिंता शल्य नहीं है, केवल आनन्दस्वरूप उस ज्ञानज्योतिका ही मिलन है। उसे ज्ञानमिलन कहें, चाहे जैनमिलन कहें एक बात है। जैनमिलन क्या है? जिनका भाव। जिन कहते हैं उसे जो राग द्वेष मोह जीते। ऐसे जिनकी जो करतूत है; अर्थात् ज्ञानमात्र रहना उसको कहते हैं जैन, अर्थात् ज्ञानभाव। उस ज्ञानभावका मिलन जब होता है तब अनन्त आनन्दकी निधि प्राप्त होती है। ऐसे प्रभुकी भेंटमें ही ये दुष्टकर्म नष्ट होते हैं। सो यह सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ अपने ज्ञानकी परमकलाके साथ शुद्धनयके बलसे अपने आपमें आनन्दमय क्रीड़ाको करता है और जब केवलज्ञान उत्पन्न होता है तो साक्षात् इस समस्त विश्वके साथ अपनी ज्ञानक्रीड़ा करता है। उस ज्योतिसे अज्ञानरूपी अंधकार दूर कर लेता है।

ज्ञानज्योतिका अभ्युदय—यह ज्ञानज्योति समस्त कर्मोंको, इन क्रियाकाण्डोंके रागद्वेषादिक भावोंको, मोहको उखाड़कर प्रकट हुई है। ऐसे इस ज्ञानतत्त्वके साथ रमण करो और अपने इस रात दिनके २४ घंटे के समयमें १० मिनट भी तो अपनेको इस अपूर्व दयाके लिए निर्वाध रखें निरन्तर मोहका विकल्प, रागकी कल्पनाएँ बसाए रहनेसे कुछ लाभ नहीं मिलेगा, यह झमेला मेला है, ये सब विघट जायेंगे और अंतमें रुलते हुए अपना समय गुजारना पड़ेगा। तो सर्व प्रयत्न करके अपनी ज्ञानज्योतिको जगावो और ज्ञानरसका आनन्द लो। इस प्रकार यह पुण्य-पाप नामक अधिकार समाप्त होता है।

गत अधिकारमें पुण्य-पापका वर्णन किया था, ये कर्म पुण्य और पापके रूपसे दो भेष बनाकर इस रंगभूमिमें आए। जब वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान किया गया तब यह भेष मिट गया और केवल एक कर्मरूप प्रतीत हुआ और कर्मरूप प्रतीति कराते हुए ये कर्म बन गए।

आस्रवका भेष—अब इस अधिकारमें यह बतलाया जायगा कि सर्वकर्मोंके आनेका जरिया क्या था? इस अधिकारका नाम है आस्रव अधिकार। अब इस अधिकारका प्रवेश होता है। जैसे नृत्यके अखाड़ेमें नृत्यकार स्वांग रखकर प्रवेश करता है इसी प्रकार अब ये कर्म आस्रवका भेष रखकर प्रवेश करते हैं। यह अखाड़ा है अपने ज्ञानके उपयोग। अब इस उपयोगभूमिके रंगमंचपर आस्रवके भेषमें कर्म आते हैं। पूज्य अमृतचन्द्र सूरिने इस अधिकारके प्रारम्भमें एक कलसमें बताया है

**अथ महामदिनिर्भरमथरं समरमरंगपरागतमास्रवं।
अयमुदारंगभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोध धनुर्धरः ॥**

विजयका साधन सम्यग्ज्ञान—अब इस समय दुर्जय ज्ञानरूपी धनुर्धारी महान् सुभट आस्रवको जीतता हुआ जयवंत होता है। आत्माकी विजय ज्ञानसे ही है। यह आत्मा ज्ञानमात्र है। जाननेके अतिरिक्त इसमें अन्य कोई स्वरूप प्रतिभात नहीं होता है। यह ज्ञान जब विशेष विशेष तत्वोंको पदार्थोंके जाननेमें लगता है तब तो यह ज्ञान घट जाता है, निर्बल हो जाता है और जब विशेषकर ज्ञान छोड़कर केवल सामान्य ज्ञानस्वभावके ज्ञानमें लगता है तो इस केन्द्रमें पहुँचनेसे ऐसा प्रताप प्रकट होता है कि कुछ क्षण बाद समस्त विश्वके तीनों कालका ज्ञान हो जाता है। ऐसी यह सर्वज्ञता की शक्ति रखने वाला भेदविज्ञान अब जयवंत होता है।

सत्य आशीर्वाद—भैया! लोग बड़ोंसे आशीर्वाद चाहते हैं, प्रभुसे आशीर्वाद चाहते हैं। कौनसा आशीर्वाद चाहने योग्य है? वह यही आशीर्वाद है कि प्रभु मेरा ज्ञान यथार्थ जयवंत हो। हे नाथ मैं और कुछ नहीं चाहता हूँ। जगतके धन वैभव ये सब पुण्यके फल हैं। इन्हें कोई कमाता नहीं है। यह भ्रम लग गया है कि मुझमें ऐसी बुद्धि है कि मैं धनको कमाता हूँ, परिवारको सुरक्षित रखता हूँ। हे आत्मन्! तेरेमें ताकत नहीं है कि किसी परपदार्थमें तू संयोग कर ले या उसकी अवस्था बना दे। तू तो ज्ञानमात्र है। अपनेमें ज्ञान करेगा, भाव बनायेगा। इसके आगे तू अपनेमें और कुछ नहीं कर सकता। बाहरमें कुछ करनेका अभिप्राय छोड़ दे। यह अभिप्राय मिथ्या है। इस ही अभिप्रायके कारण आज तक यह जीव संसारमें रुलता आया है। हे प्रभो! आपका मुझे यह आशीर्वाद चाहिए कि मेरा ज्ञान यथार्थ प्रकट हो। और कुछ कामना नहीं है।

प्रमुख पात्रकी पात्रता—यह ज्ञान जो कि उपयोग भूमिपर नृत्यके मंचपर जयवंत होकर निःशंक प्रकट होता है वह ज्ञान उदार गम्भीर और महोदय है। इस आत्मामें कितने नाटक हो रहे हैं। कभी क्रोध हुआ, कभी कभी मान आया, लोभ हुआ, कभी कषायके भाव हुए। उस कषाय, रागद्वेषादि विभावमें मोक्ष होता है। इस आत्मामें शुद्ध ज्ञान भी प्रकट होता है तो इस उपयोगके

स्टेजपर कितनी ही परिणतियाँ नृत्य करनेके भेषमें उपस्थित होती हैं। उन सब पात्रोंमेंसे उत्तम पात्र एक ज्ञान है। कोई नाटक खेला जाता है तो उस नाटक में एक आधार मुख्य होता है जो सारे नाटककी जान है। जिस पर सब लोगोंकी निगाह होती है।

प्रमुख पात्रोंकी पात्रताके उदाहरण—जैसे मैनासुन्दरी नाटक खेला जाता है। उस समस्त नाटकमें मैना सुन्दरीके कर्तव्यको कितना महान् देखा? सबकी दृष्टि केवल उस मैनासुन्दरीके चरित्रपर जायगी। यद्यपि वहाँ पर पुण्यवान् श्रीपाल भी है, और इस मैनासुन्दरीको अपनेसे भी अधिक महानताकी बात श्रीपालमें है, लेकिन दर्शकोंकी निगाह मुख्य रूपसे मैनासुन्दरीपर जायगी। तो नाटकका मुख्य एक पात्र होता है। जैसे सत्यवान राजा हरिश्चन्द्रका नाटक हो, उसमें हरिश्चन्द्रकी स्त्री, हरिश्चन्द्रका पुत्र ये अच्छे चरित्र वाले न थे क्या? थे। उन्होंने भी काफी त्याग किया, सरलतासे कर्तव्यपालन किया, पर उस नाटक में नाटकके प्रमुख पात्र हरिश्चन्द्र हैं। सबकी दृष्टि राजा हरिश्चन्द्रपर जाती है और जब राजा हरिश्चन्द्रका प्रभाव उस स्टेज पर उदित होता है तो एकदम तालियाँ बजने लगती हैं। पर नाटकका प्रधानपात्र एक होता है। इसी तरह इस आत्माके उपयोगभूमिमें अनेक नाटक हो रहे हैं पर सब नाटकोंमें इस नाटककी जान एक ज्ञानपात्र है।

मुख्य पात्रकी तीन विशेषतायें—भैया! उस ही ज्ञानपात्रके सम्बन्धमें कहा जा रहा है कि यह उदार है, गम्भीर है और महोदय है। नाटकमें जो मुख्य पात्र बनता है उसमें ये तीन विशेषताएँ होनी चाहिएँ तब मुख्य पात्र माना जाता है। सर्वसे अधिक उदार कंजूस हो उसकी पात्रता शोभा नहीं देती। किसीका बुरा न मानने वाला हो। सबपर क्षमा और का समतापरिणाम रखता हो तो वह प्रशंसाके योग्य होता है और उस नाटकका मुख्य पात्र अधिकारी होता है। इस ज्ञानको भी देखो, यह कितना उदार है? जगतमें विभिन्न पदार्थ होते हैं किन्तु उन पदार्थोंमें रागद्वेष न करो, उदार रहो। जो उदार रहेगा, मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहेगा, रागद्वेषमें न पड़ेगा वह जीव अनाकुल रहेगा। उसपर संकट नहीं आया करते हैं।

उदारताका एक उदाहरण—एक छोटीसी कहानी है किंवदन्ती कि ब्रह्मा एक लड़के का भाग्य बना रहे थे। और इसके भाग्यमें लिख रहे थे काला घोड़ा और ५ रुपया। वहाँसे निकला साधु। उसने पूछा क्या कर रहे हो ब्रह्माजी!...कहा भाग्य बना रहे हैं। क्या लिख रहे हो?...काला घोड़ा और ५ रुपया।...कहाँ पैदा कर रहे हो?...अमुक लखपतिके घर में...अरे तो इतने बड़े घरमें पैदा कर रहे हो तो उसके ही अनुकूल भाग्य बनावो ना।...जावो-जावो तुम्हें इससे क्या मतलब?...अच्छा तो तुम इसका भाग्य बना लो, हम इसके भाग्यको मेटकर रहेंगे, तुम्हारा लिखा मिटा देंगे। इतनी बातचीत ब्रह्मा और साधुमें हुई। साधु घर गया। लड़का पैदा हो गया लखपतिके यहाँ। १२-१३ वर्षमें उसकी जायदाद सब साफ हो गई। मकान भी बिक गया। केवल झोंपड़ी काला घोड़ा और ५ रुपये उसके अपने गुजारेके लिए रह गये। १४ वर्ष बाद साधु उस नगरसे निकला, पता लगाकर उस झोंपड़ीमें पहुँचा। बालक ने साधुका बड़ा आदर किया। साधु बोला, बेटा जो हम कहें सो करोगे।...हाँ महाराज

करेंगे।...तुम्हारे पास क्या है? काला घोड़ा और ५ रुपया।...घोड़ा बाजारमें बेच आओ। बेच आया १०० रुपयामें। जाओ १०५ रुपयामें घी, आटा, शक्कर खरीद लाओ। भोजन बनाओ और सबको खिलाओ। उसने ऐसा ही किया। भोजन बनाकर भिखारियोंको बांट दिया। दिन गुजर गया। अब कुछ न बचा। रात्रिको ब्रह्मा सोचता है कि ५ रुपया और काला घोड़ा भेजें, क्योंकि भाग्यमें लिखा है। दूसरे दिन भेजा ५ रुपये और काला घोड़ा। दूसरे दिन फिर घोड़ा बेचवाकर भोजन बनवाकर सबको बांटवा दिया। इस तरह १५ दिन तक यह होड़ चलती रही। अब ब्रह्मा सोचता है कि ५ रुपये तो कहींसे टकपा देंगे। पर काला घोड़ा रोज किसका छोरकर लाएं? हाथ जोड़कर कहता है साधु जी अब माफ करो। जो तुम चाहो सो कर देंगे, पर रोजकी चकल्लस मेरेसे नहीं बन सकती है। अच्छा तो इसका भाग्य वैसा ही लिखो जैसा कि बाप का था। लिखा वैसा ही। जो लिखा था वह मेटना पड़ा। यह तो किंवदन्ती है।

उक्त कथाका सारांश—उक्त कथासे रहस्य यह निकालो कि हम जिन पदार्थोंमें आसक्त होते हैं, पकड़कर रहते हैं वे पदार्थ मेरे कमानेसे नहीं आते। पूर्वभवमें जो पुण्य किया था, उदारता की थी उसके फलमें ऐसे विशिष्ट पुण्य कर्म बंधसे ये सब आते हैं। पर इनका करने वाला मैं नहीं हूँ। सो ज्ञाताद्रष्टा रहो, उदार रहो। आए हैं तो जाननहार रहो, आए हैं, ये सदा न रहेंगे। जो वैभव मिला है वह वैभव सदा न रहेगा। अव्वल तो कलका ही पता नहीं कि कल तक टिक सकेगा या नहीं। कुछ दिन बादमें तो ऐसा स्वरूप अवश्य आयगा कि हम न छोड़ेंगे तो यह वैभव हमें छोड़ देगा। ज्ञाताद्रष्टा रहो, इसीके मायने हैं उदार रहना।

अलौकिक उदारताका स्वामी—भैया! इन सब भेष बनाने वाले सैकड़ों पात्रोंमें कौनसा पात्र उदार है? क्या राग उदार है? नहीं। द्वेष मोह आदि उदा है क्या? नहीं। कामादि विकार उदार हैं क्या? नहीं। ये अत्यन्त अनुदार हैं। ये दूसरोंके जानकी भी परवाह नहीं करते और खुदके प्रभुके प्राणोंकी भी परवाह नहीं करते। ये विकार अनुदार हैं। ये उत्तम पात्र नहीं कहला सकते हैं। नाटकमें उत्तम पात्र वही कहला सकता है जो उदार हो। यह ज्ञान उदार है और गम्भीर भी है, क्षोभमें नहीं आता। ये रागद्वेष, क्रोध, मान माया, लोभ काम, ये सब क्षोभसे भरे हुए हैं। यह स्थिर नहीं हैं, किन्तु ज्ञानभाव गम्भीर है, स्थिर है, धीर है। यहाँ चर्चा चल रही है कि इस उपयोगके रंगमंचपर ज्ञानभूमि पर कौन-कौन भाव कितना विचित्र नाटक कर रहे हैं, कैसे-कैसे परिणाम प्रकट हो रहे हैं? कभी शुभ भाव है, कभी अशुभ भाव है, कभी वैराग्यमें आकर भगवानके निकट पहुँचते हैं, कभी कषायसे पीड़ित हुआ करते हैं, कितने प्रकारके कर्म बताए हैं कितनी तरहके भेद इस आत्मामें अपना लेते हैं? उन सब परिणमनोंमें से कौनसा परिणमन उत्कृष्ट पात्र है, उसकी बात यहाँ चल रही है। यह ज्ञान उत्कृष्ट पात्र है, उदार है।

ज्ञानकी महोदयता—यह ज्ञान महान उदय वाला है। यह ज्ञान सर्व विश्वको, लोकालोकको एक ही समयमें त्रिकाल पर्याय सहित स्पष्ट जान ले और फिर भी यह ज्ञान ऐसे-ऐसे अनगिनते

विश्वोंको जाननेकी सामर्थ रखे, ऐसा महान् उदय आत्माके और किस परिणमनमें है? क्या रागद्वेषके परिणमनमें ऐसा अभ्युदय है? नहीं। ये रागद्वेष जहाँ प्रकट होते हैं उसको मलिन और किरकिरा बना डालते हैं। इन रागद्वेषोंका ही फल संसार है। ये विचित्र जीव देखे जा रहे हैं कीड़े मकोड़े, पेड़-पौधे ये सब प्रभु ही बिगड़कर इस अवस्था में पहुँचते हैं। यह सब किसका प्रताप है? इस मोहका और भ्रमका। इसका महोदय क्या कह सकते हैं? नहीं। महोदय कहते हैं बड़े उदय वालेको। जिसके मात्र ज्ञानभाव प्रकट होता है उसको महोदय कहते हैं।

आत्माकी अतुल निधि—मोही जीव अपने आपमें छिपे हुए ज्ञान और आनन्दकी कीमत नहीं करते हैं और बाह्य अर्थोंमें दृष्टि उलझाकर अपने आपको बरबाद कर रहे हैं। अपनी निधिको सम्हालो, उसमें ही दृष्टि दो, यह मलिन, मोही कुटुम्ब समुदाय, मित्र मण्डली ये मेरे लिए शरण नहीं होंगे। ये बाह्य पदार्थ मेरे लिए तब तक शरण होते हैं जब तक कि गांठमें पुण्य बसा हो; अर्थात् आचरण और ज्ञान सही बना हुआ हो। ये श्रद्धा ज्ञान आचरण ही आत्मनिधि है।

ज्ञानका प्रताप—यह ज्ञान कितना उदार है, गम्भीर है, महान् है, ऐसा यह ज्ञान धनुर्धारी अब जयवंत होता है। जैसे नाटकके मंचपर कोई छोटे तुच्छ आदमी अपना ऊधम मचा रहे हों और वहाँ प्रतापी कोई पात्र मंचपर प्रवेश करता है तो वे सब तुच्छ पात्र अपना ऊधम समाप्त करके शरणमें आ जाते हैं। इसी प्रकार इस उपयोगभूमि रंगमंचपर इन विषयकषायोंके तुच्छ परिणमनोंने ऊधम मचा रखा है। इस मंचपर जब उदार, गम्भीर महान् ज्ञान धनुर्धारी प्रवेश करता है तो इन सब तुच्छ विचारोंका ऊधम समाप्त हो जाता है। मानो इन्हें यह ज्ञान आ जाता है कि आखिर अब बरबाद होने वाले हैं ना सब। ज्ञान पात्रके प्रकट होनेपर ये सब बरबाद हो जाते हैं।

आस्रवका निर्देशन—यह ज्ञान इन सब आस्रवोंको जीतता है। आस्रव क्या है? आत्माके विभावपरिणाम, मिथ्यात्वके परिणाम। पदार्थ तो हैं जुदा और मिथ्यात्वमें मानते हैं कि ये मेरे हैं, पदार्थ तो हैं मुझमें कुछ न कर सकने वाले, किन्तु मानते हैं कि ये मेरी रक्षा कर देंगे, ये मेरा पालन कर देंगे, ये सब मिथ्यात्व हैं। वस्तुका स्वरूप तो हैं और भांति का, हम हैं और भांतिके। देव, शास्त्र, गुरुका समूह तो है मोक्षमार्ग सम्बन्धी और मानते हैं रागीद्वेषी। रागद्वेषकी बातोंमें ही लगनेको अधर्म कहते हैं। यह सब मिथ्यात्वका परिणाम है और इस मिथ्यात्वभावसे कर्म आते हैं। ये आस्रव हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय प्रकट होता है। तो यह आस्रव है।

आस्रवकी मन्थरता—यह आस्रव महान् मदसे भरा हुआ होनेके कारण मन्थर हो गया है, उन्मत्त हो रहा है। जैसे शराब पिये हुए पागल पुरुषके बेहोशी छाई हुई हालतमें हाथ पैर नहीं चलते हैं, मन्थर हो जाता है, इसी प्रकार यह परिणाम भी प्रगतिशील नहीं है। बुझे दिल सब मन्थर है। तो ऐसे समर रंगपर आए हुए ऐसे आस्रवको यह ज्ञान जीतता है, हटाता है।

सुरक्ष्य विचार—भैया! सब चाहते हैं कि मेरी रक्षा हो और उन्नति हो, किन्तु जरा चित्तसे सोचिए तो सही कि मेरी रक्षा क्या विकारभावसे हो सकेगी? क्या मेरी प्रगति इस मोहकषायसे हो

सकेगी? असम्भव है। मेरी रक्षा केवल ज्ञानपरिणमनसे हो सकेगी। इसलिए एक बड़ा साहस बनावो, परिग्रह, परिवार इनके मोहको ध्वस्त करो, ये हैं, इनका सद्व्यवहार करो पर इनकी जिम्मेदारी तुमपर नहीं है। इनकी जिम्मेदारी इन्हींपर है। मोही जीव घरके १० प्राणियोंकी भी जिम्मेदारी अपनेपर लाद लेता है। वे मोही प्राणी कह भी देते हैं कि मेरे घरके १० प्राणियोंकी भी जिम्मेदारी मेरे ऊपर है। हे आत्मन्! वस्तुस्वरूपको तो सोचो, घरके १० प्राणियोंकी जिम्मेदारी तुमपर नहीं है। क्या उनका ठेका और जिम्मेदारी तुमपर ही लदी है? अरे उन दस प्राणियोंका भाग्य तुम्हारे भाग्यसे तेज है सो तुझ जैसी सामर्थ्यवालेको भी उनका दास बनना पड़ रहा है। तू समझता है कि मैं उनका पालन करता हूँ पर बात यह हो रही है कि उनके पुण्योदयके कारण तुझे उनकी नौकरी करनी पड़ रही है।

पुण्योदयीकी चिन्ताकी व्यर्थता—एक वर्षका बालक जिसको खड़ा होना भी मुश्किल है ऐसे बालककी आप कितनी सेवा करते हैं? हाथों हाथ गोदमें लेकर उसे खिलाते हैं, बड़ी अच्छी तरह उसकी मुस्कान देखते हैं। आप अब यह बतलावो कि उस १ वर्ष के बच्चेका पुण्य बड़ा है या आपका पुण्य बड़ा है। एक जिस बच्चेकी सूरत की ओर आप देखते रहते हैं, वह हँसता रहे, यह रोवे नहीं, खेलता रहे, प्रसन्न रहे ऐसा देखने की उत्सुकता बनाए रहते हैं तो आपके पुण्यसे उस बच्चेका पुण्य बड़ा है। दरबारमें भी तो लोग राजा महाराजाओंको प्रसन्न रखनेकी चेष्टाएँ करते हैं ना, तो उस महाराजाका पुण्य बड़ा है या उन दरबारियोंका पुण्य बड़ा है? उस राजा का पुण्य बड़ा है। इसी तरह तुम भी जो बालकों को सुरक्षित रखने और प्रसन्न रखनेकी चेष्टाएँ करते हो तो उन बालकोंका ही पुण्य आपके पुण्यसे बड़ा है। आप उन बड़े पुण्यवालोंकी फिकर करते हैं और सोचते हैं कि मैं ही इनको पालता हूँ।

ज्ञानके प्रतापमें अज्ञानका विलय—भैया! यह तो उदयकी बात है। सबके पुण्यका उदय है, आपके द्वारा कमाई जाने वाली सम्पदा जिन-जिनके कामोंमें आयेगी उन उनके पुण्योदयके कारण आपसे कमाई बनती है। आपके पुण्यके कारण आपकी कमाई नहीं बनती है। जब यह यथार्थ ज्ञान अपनी महिमा प्रकट करता हुआ, अपना तेज बढ़ाता हुआ जब इस उपयोग रंगभूमि पर आ धमकता है तो ये ऊधम मचाने वाले दुष्ट पात्र रागद्वेष विषय कषाय शांत हो जाते हैं, एक किनारे खड़े हो जाते हैं। ऐसा यह दुर्जय ज्ञान धनुर्धारी अब इस उपयोग रंगमंच पर प्रकट होता है।

भैया! अब भगवानकी भक्ति करके गुरुओंकी उपासना करके एक आशीर्वाद लें तो यह लो मेरा ज्ञान यथार्थ विकसित हो। यथार्थ ज्ञानका प्रताप ही हमारा रक्षक है और इसीसे कक्ष्याणमें प्रगति है। एक यह यथार्थ ज्ञान न हो और तीन लोकका वैभव भी सामने हो तो भी यह दीन है, दुःखी है, भिखारी है। इस कारण निज सम्यग्ज्ञानके प्रकट होनेका आशीर्वाद अपने आपसे चाहिए।

अब आस्रवका स्वरूप कहते हैं

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगाय सण्णसण्णादु।
 बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणणपरिणामा ॥ १६४ ॥
 णाणावरणादीपस्स ते दु कम्मस्स कारणं होत्ति।
 तेसिपि होदि जीवो य रागदोसादि भावेहिं ॥ १६५ ॥

आजका यह विषय कुछ कठिन पड़ेगा। कुछ उपयोग संभालकर यदि इसे सुनोगे तो पता ठीक लगेगा। आजका प्रकरण बड़े कामका है।

संसार संकटोंका कारण—हम संसारमें क्यों रुल रहे हैं और संसारसे छूट जानेका उपाय क्या है? यह बात बड़े मर्मके साथ यहाँ बताई जा रही है। इस जीवको दुःख देने वाला आस्रव है। एक पद्यमें भी कहते हैं आस्रव दुःखागार घनेरे। आस्रव महा दुःखदायी चीज है। वह आस्रव क्या है? उसका स्वरूप यहाँ कहा जायगा। गाथाका अर्थ तो सीधा यह है कि मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग ये ही आस्रव हैं। ये दो-दो प्रकारके होते हैं चेतन और अचेतन। चेतन मिथ्यात्व और अचेतन मिथ्यात्व, चेतन अविरति और अचेतन अविरति, चेतन कषाय और अचेतन कषाय, चेतन योग और अचेतन योग। और ये बहुत-बहुत तरहके हैं। चेतन मिथ्यात्व आदिक तो चेतनमें चेतनके अभिन्न परिणमन हैं और वे ज्ञानावरणादिक कर्मोंके कारण होते हैं और उनके भी कारण रागद्वेषादिक भावों को रोकने वाला जीव है।

आस्रव, आस्रव हेतुके विवरणकी उत्थानिका—अब इसका कुछ वर्णन यों जानें कि आस्रव कहते हैं कर्मोंके आनेको। इस जीवके ज्ञानावरणादिक कर्म आवें उसका नाम आस्रव है। लाभ वाली बात कठिन हुआ करती है। सर्व संकल्प विकल्प छोड़कर अपने आपको अकेला, असहाय जिम्मेदार जानकर भगवंत जिनेंद्र प्रणीत उपदेश सारको सुनिये। यहाँ कहा जा रहा है कि जीवका आस्रव है कौन? वास्तवमें दुःखदायी जगतमें है क्या? लोग कहते हैं ना कि ये ८ कर्म जीवके साथ लगे हैं। खूब सुना होगा। ये ८ कर्म जीवमें आ कैसे जाते हैं? कर्मोंके आनेके तो तरीके हैं उनका ही नाम आस्रव है। और वे ही तरीके हमको दुःख देने वाले हैं।

दृष्टान्तपूर्वक आस्रवहेतुका विवरण—इस विषयमें जरा एक दृष्टान्तसे सुनिए। किसी मालिकके साथ एक कुत्ता लगा है। रास्तेमें किसी उद्दण्ड पुरुषके ऊपर कुत्तेने हमला किया पर मालिकने जब छू छू किया तभी हमला किया। खुद कुत्तेमें किसीके काटनेकी दम नहीं होती। एक डंडा उठावो भाग जाये। कुत्तेने हमला उस उद्दण्डी पुरुष पर किया, वहाँ अपराध किसका माना जायगा? कोई कहे कि कुत्तेने ही हमला किया तो कुत्तेका ही अपराध है। ठीक है। अपराध तो कुत्तेका है पर उस कुत्तेकी इतनी हिम्मत बनी कैसे, इसका भी तो कारण बतलावो। इसका कारण है मालिककी सैन, छू-छू करना। तो वास्तवमें अपराधी कौन हुआ? वह मालिक जिसने सैन दिया। इसी तरह हम आप सबपर आक्रमण किया है कर्मोंने। ठीक है। कर्मोंके निमित्तसे हम आप दुःखी हो रहे हैं, पर यह तो बतलावो कि उन कर्मों के बंधनेकी ऐसी सामर्थ्य आई कहाँसे? यह प्रभु,

मालिक जब तक राग द्वेषकी सैन नहीं करेगा। तब तक कर्म नहीं बंधेंगे। तो मूलमें अपराधी रागद्वेष आदिक भावोंका करने वाला यह जीव स्वयं है।

रागादिकी उत्पत्तिका हेतु—जीवमें ये रागद्वेष आते कैसे हैं? जीवमें स्वयं उपाधि का निमित्त पाकर। एक अज्ञानपरिणमन बन गया है उस जीवके अज्ञानपरिणमनके कारण रागद्वेष मोह भाव होते हैं। सो रागद्वेष मोह बतलावो जड़ है कि क्या कहे जायेंगे? जैसे किसीका पुत्र बदचलन, उद्दण्ड, कपूत हो जाय, कोई उसके बापसे ही पूछे कि यह पुत्र किसका है, तो बाप क्या जवाब देगा? क्या बतलाये, क्या उत्तरदे, कुछ समझमें नहीं आता, किन्तु मेरा पुत्र है यह तो कह नहीं सकता क्योंकि बदचलन है, उद्दण्ड है। उसके कुलमें अभी तक कोई ऐसा पैदा ही नहीं हुआ है। और मेरा पुत्र नहीं है यह भी कैसे कहदे? इसी प्रकार ये राग द्वेष मोह बतलावो ये चेतन हैं कि अचेतन? क्या बतलाएँ भाई ये राग द्वेष विकार चेतन हैं यह कहते हुए तो जीभ नहीं हिलती, क्योंकि में परमात्मस्वरूपके सद्दश एक चैतन्यस्वभावमय हूँ परमब्रह्म हूँ, मुझमें से ऐसे विकार निकलनेका कारण ही नहीं है। और मना भी कैसे करूँ? ये रागद्वेष विकार चेतन नहीं हैं, क्या यह कर्मोंकी परिणति है, क्या यह ईंट, पत्थरोंकी परिणति है? यह आत्माकी परिणति है।

आस्रव दुःखकार घनेरे—आज क्या बात कही जा रही है थोड़ी नींद छोड़कर सुनो। जिसे तुम छहढालामें पड़ा करते हो आस्रव भावना जो जोगनकी चापलाई लाते हैं आस्रव भाई। आस्रव दुखकार घनेरे, बुधवंत तिन्हे निखेरे ॥ जो मन, वचन, कायकी चंचलता है उससे उपद्रव होते हैं। याने शरीर खूब हिलाया जाय, मन भी खूब हिलाया जाय, वचन बकवादी भी बहुत किया जाय तो इनसे कर्मोंका आना होता है। ये आस्रव बड़े दुःख देने वाले हैं। बुद्धिमान् पुरुष इनको दूर किया करते हैं। कोई एक डेढ़ सालका बालक अगर अच्छा आसन मारकर बैठ जाये, हिले डुले नहीं, मुँह चापकर बैठ जाये तो कितना सुहावना लगता है और वही बालक रो दे या बोलने लगे तो सारी कलाई खुल जाती है कि यह तो अज्ञान है, नासमझ है। और जरा अच्छे ढंगसे बैठे तो कितना ही आप उसके विषयमें अर्थ लगाते जायें? यह बड़ा समझदार मालूम होता है। यह कुछ ध्यान कर रहा है। यह कुछ तत्वचिंतन कर रहा है, यह बड़ा गम्भीर है। कितने ही अर्थ उसकी मुद्रासे निकल जायें। और यदि वह शरीर हिलाने डुलाने लगे और कुछ वचन बोलने लगे या दूध पप्पा मांगने लगे तो वे सब अर्थ ढपलेमें पड़ जाते हैं। तब इसी तरह समझो हम और आप जितना शरीर हिलाएँ डुलाएँ, व्यर्थकी बातें बोला करें ओर जितनी जिस चाहेके सम्बन्धमें कल्पनाएँ उठाया करें तो इससे दुःख होता है, आस्रव होता है, संसारका बंधन होता है। हम आपको चाहिए कि व्यर्थकी कायचेष्टाएँ न करें। जितनी बात बोलनेको हमारी प्रकृत हो उतनी ही बात बोला करें। और जिस चाहे जीवके सम्बन्धमें कल्पनाएँ न उठाया करें, यह जीवनमें हम और आपका कर्तव्य है।

जीवविकारोंकी चिदाभासता—बारह भावनामें आप बोलते हैं मोह नींदके जोर, जगवासी घूमे सदा। कर्म चोर चहुँ ओर सखस लूटें सुध नहीं ॥ इसमें मोहकी प्रधानता दी है। मोहनिद्राके वशमें

यह जीव अचेत पड़ा है और कर्म चारों ओरसे आकर इसे लूटते हैं, इसे कोई सुध नहीं है। यह परिवार वैभवको पाकर हर्षके मारे फूला नहीं समाता, किन्तु हो क्या रहा है? मोहकी नींदमें अचेत इस प्राणीके कर्मचोर चारों ओरसे लूट रहे हैं। अपनी दया ही नहीं है इसे, अपनी फिक्र नहीं है इसे। तो ये रागादिक विकार बतलावो चेतन हैं या अचेतन? इन्हें न चेतन कहा, न अचेतन कहा, किन्तु चेतनाभास कहते हैं। ये विकार चिदाभास हैं। यह पुत्र पुत्राभास है। यह पुत्र कुपुत है, मेरा नहीं है। मेरा होता तो मेरे माफिक चलता। उसे आप मनाकर डालते हैं। इसी प्रकार ये रागद्वेष विकार मेरे नहीं हैं। यदि मेरे होते तो मेरे आनन्दके लिए बनते, किन्तु जब ये उत्पन्न होते हैं तो क्लेश पहुँचाकर ही उदित होते हैं। यह तो हुआ चेतन आस्रव, किन्तु मिथ्यात्व नामक प्रकृतिका बंध होता है, ये आते हैं और प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्यानावरण ये कषाय जो चारित्र नहीं होने देते हैं और अनन्तानुबंधी आदिक समस्त कषाय और योग जो पिण्ड समागत हैं वे सब हैं अचेतन आस्रव। ये पुद्गलके परिणमन हैं।

जीवविभाव व पुद्गलविभावोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध—ये विकार जितने होते हैं ये जीवके परिणमन हैं, कर्म पुद्गलपरिणमन हैं। जीव और पुद्गलका निमित्त नैमित्तिक भाव चल रहा है। कर्मोंका उदय आये तो जीव बिगड़ जाये। जीव बिगड़ जाय तो कर्मोंका बंध हो, और इस परम्परामें हम आप सब घसिस्टते चले जा रहे हैं। यहाँके मजा भोगोंको नहीं छोड़ पाते हैं। उनमें आनन्द मानते हैं, पर उनके फलमें जब सजा मिलती है उस समय याद आती है। घर, कुटुम्ब, परके हेतु अन्याय और पाप किए जा रहे हैं पर इस अन्याय पापके फलमें जब नर्कादिक गतियोंको जाना पड़ेगा और वहाँ विवेक होगा तो यह पछतावा होगा कि जिस कुटुम्बके कारण मैंने इतने पाप किये, वे अब कोई साथी नहीं होते हैं। यह सारा फल अकेलेको भी भोगना पड़ रहा है।

मौज मारनेका फल—एक सेठजी का नौकर था। सेठ जी का पलंग बहुत बढ़िया सजाता था, कोमल स्प्रिंगदार पलंग पर गद्दा बिछाता था, उस पर सफेद पोस बिछाता था, उस पर फूलोंकी पंखुड़ियाँ डालकर पलंगको सजाया करता था। एक दिन नौकरने सोचा कि पलंग बिछाते-बिछाते बहुत दिन हो गए। थोड़ा देख तो लें इस पर लेटकर कि कितना मजा आता है? दो मिनटके बाद में ही उठ जायेंगे। एक बाईं करवट बदलकर देख लें, एक दाईं करवट बदल कर देख लें और थोड़ा सीधा पड़कर देखलें। जो उस पलंग पर लेटा तो सवा मिनट बाद ही नींद आ गई। अब २० मिनट हो गए, सेठ जी आए, देखा यह बड़ा चालाक नौकर है। उसे नौकर पर गुस्सा आ गयी। बेंत उठाकर १०, २० लगाए। तो सेठ बेंत मारता जाय और वह नौकर खूब हंसे। तो सेठ कहता है कि इतना मैं मारता हूँ पर तू हँसता क्यों है? वह हँसकर बोला कि हम तो १५ मिनट ही इसपर लेटे तब तो हमारे बेंत लग रहे हैं, आप तो रोज-रोज लेटते हो तो न जाने आपकी क्या दशा होगी? जो विषयोंमें मस्त रहेंगे, जो आत्मस्वरूपको भूल जायेंगे तो नियमसे उनकी दुर्गति है। कैसी दुर्गति होगी?

खोटे परिणामेंका परिणाम—भैया! ये सारे संसारके जीव दिख रहे हैं, इनको देखकर अंदाज कर लो कि आत्म असावधानीके कारण ऐसी दुर्गति होगी। एक शराबी शराब की दुकानपर गया।

बोला, आज तो यार बहुत बढ़िया शराब दो। हाँ हाँ बहुत बढ़िया देंगे। अजी ऐसी नहीं, बिल्कुल बढ़िया। हाँ हाँ बिल्कुल बढ़िया देंगे। अजी नहीं, रोजसे बढ़िया। तो वह दुकानदार बोला कि अपने इन बाबा चाचोंको देखो जो ये बेहोश पड़े हैं और इनपर कुत्ते मूत रहे हैं। इनको देखकर विश्वास बना लो कि यहाँ बढ़िया शराब है। तो जगतमें कीड़े-मकोड़े, पेड़, पौधे, पशु-पक्षी, गधा, सुवर इनको देखकर यकीन तो करलो कि खोटे परिणामोंका क्या फल हुआ करता है? चाहे कितनी ही मुसीबत आ जाय मगर दूसरोंको धोखा देने, दूसरोंको सतानेका परिणाम न आना चाहिए।

कौन अपना और कौन पराया—भला आज जो तुम्हारे घरमें नहीं हैं, इन चार-पांच जीवोंके अतिरिक्त ये सब जीव हैं, ये क्या तुम्हारे कुटुम्बी कभी नहीं बने? और आज जो तुम्हारे घर में आ गए हैं क्या ये कभी बिछुड़ेंगे नहीं, क्या ये गैर नहीं बनेंगे? फिर कौन अपना और कौन पराया है? परमार्थसे विचारों तो सही। समस्त जीव परिपूर्ण हैं, अपने स्वरूपमें तन्मय है। उनसे मुझमें कुछ नहीं आता। हमारा उनमें कुछ नहीं जाता। क्या सम्बन्ध है फिर? क्यों इतना मोह किया जा रहा है कि आपकी निगाहमें घरके ४ आदमी हैं सब कुछ। जितना भी श्रम किया जाता है, जितनी भी कमाई की जाती है घरके उन चार जीवोंके लिए ही की जाती है, २४ घंटे घरके उन चार जीवोंका ही विकल्प बनाए रहते हैं। एक तराजूके दोनों पलड़ोंमें एक पलड़ामें तो घर के चार जीव रख लिए जायें और एक पलड़ेमें जगतके समस्त मनुष्यादिक रख लिए जायें तो भी घरके उन चार जीवोंका ही पलड़ा भारी होता है और शेष उन अनगिनते जीवोंकी कीमत नहीं करते। इसको क्या कहा जाय? महान् व्यामोह। भगवान् जिनेन्द्रदेवके शासनमें ऐसे व्यामोहकी बड़ी निन्दा की है।

आत्मक्रान्ति—अब कुछ क्रांति लाइए और अपनेको अकेला, अपनेको अपना जिम्मेदार मानकर कुछ प्रगतिशील भावोंमें चलिए। इस मायामय जगतमें किसीका कुछ नहीं निहारना है। किसीसे कोई आशा नहीं रखना है। यह जीव स्वयं जैसे परिणाम करता है वैसे ही सुख दुःख पाता है। यह आस्रवकी थ्यौरीका प्रकरण चल रहा है। इन आस्रवोंमें अनन्त कार्माणवर्गणायें ठसाठस भरी हैं। और संसारमें प्रत्येक जीवके प्रदेशमें विस्त्रषयोपचय रूप और कर्मरूप अनेक कार्माणवर्गणायें भरी पड़ी हैं। यह इतना बड़ा मैल, इतना बड़ा जमाव कैसे आ गया? यह आ गया खुदकी गलतीसे। कोई बूढ़ा पहिले तो अपने पोतोसे बड़ा प्रेम दिखाता है और जब वे पोतापोती उस बूढ़ेपर खेलने लगते हैं तो उस बूढ़ेको तकलीफ होती है। कभी सिरपर चढ़ गए, कभी कांधेपर चढ़ गए, कभी रोंते हैं तो उस बूढ़ेके ऊपर आफतसी आ जाती है। तो उस बूढ़ेने यह आफत अपने आप डाल ली। अब दुःखी हो रहा है। यह कर्मोंका जो जमाव हम और आपपर बन गया है वह अपनी गलतीसे बना है। अपने स्वरूपकी कदर न करके अपनेको दीन हीन समझ रहे हैं। हम तो न कुछ हैं। हमारे पालने वाले दूसरे हैं, हमारी रक्षा करने वाले दूसरे हैं। हममें तो कोई शक्ति ही नहीं है। अरे तुझमें तो प्रभुवत् अनन्तज्ञान शक्ति है, अनन्त आनन्दकी शक्ति है। तू अपनी शक्तिको नहीं समझता इसलिए भूले हुए सिंहकी तरह बंधनमें पड़ा है।

भ्रमकी अंधेरी—चैतके महीनेमें शामके समय एक जमींदार खेतोंपर मजदूरोंसे कह रहा है कि जल्दी काटो, शाम हो रही है, अंधेरी आ रही है। जितना शेर का डर नहीं है उतना डर तो अंधेरी का है। यह बात सुन लिया किसी पेड़की ओटमें बैठे हुए शेरने। शेर सोचता है कि हमसे भी कोई बड़ी चीज अंधेरी है। खैर, आदमी तो सब चले गए। उसी दिन एक कुम्हारका गधा खो गया था तो वह गधा खोजने निकला अंधेरी रातमें। सिंह बैठा था। कुम्हारने समझा कि यही है मेरा गधा। सो निःशंक होकर उसके कानपकड़कर पहिले तो ५-७ डंडे जमाए। जब १०-५ डंडे जमाये तो सिंहने सोचा कि अब आ गई अंधेरी। सो अंधेरीके डरके मारे पूंछ दबाये रहा। कुम्हार कान पकड़कर अपने घर ले आया और रस्सासे बांध दिया। कुम्हारने तो फिर अच्छी तरहसे नींद ली और शेरने समझा कि हाय मुझपर अंधेरी आ गयी, सो उसे चैन न पड़े।

अरे! बतलावो तो सही कि शेरपर क्या अंधेरी आ गई जिसके डरके मारे सिंह दुःखी है? कुछ पकड़ ले जाने की चीज या खा जानेकी चीज वह अंधेरी थी और वह सिंह केवल अंधेरीके ख्यालमें दुःखी हो रहा है। इसी प्रकार परमात्मा सदृश यह ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा अनन्तशक्तिमय है, किन्तु अपने आपके स्वरूपको भूलकर एक वहम ऐसा बना लिया, भ्रम बना लिया कि मैं कुछ नहीं हूँ, मेरी रक्षा तो इन बाह्य पदार्थों से है, मेरी सत्ता तो इन परपदार्थों के कारण है। यह भ्रम छा गया और इस भ्रममें दीन, हीन, भिखारी बन रहा है। सो किसीकी ओर मत निहारो, कोई मदद नहीं करता है। अपने आपके अन्तरणमें कुछ प्रभुता तो देखा और अपने आपको ज्ञानमात्र निहारो।

प्रकृतका उपसंहार—यह मैं केवल जाननस्वरूप मात्र हूँ ऐसा अपनेमें बराबर मनन करते जावो। केवल यह जाननस्वरूप जब जाननेमें आयगा, उस समय जो अलौकिक आनन्द प्रकट होगा उस आनन्दमें यह सामर्थ्य है कि इन आस्रवोंको, कर्मोंको क्षणमात्रमें ध्वस्त कर देगा। ये ज्ञानावरणादिक कर्म आते हैं, इन कर्मोंके आनेका कारण तो उदयमें आने वाला कर्म है। और उदयमें आने वाले कर्ममें नवीन कर्मोंका आस्रव करनेका निमित्तपना बन जाय, इसका कारण है जीवका रागद्वेष मोहभाव। तो वस्तुतः यह रागद्वेष मोह भाव ही आस्रव है और इन आस्रवोंके कारण ही संसारमें रूलना पड़ता है। तो ऐसा यत्न कीजिए कि ये रागद्वेष मोह अज्ञान तुमसे विदा हो जाएँ। ऐसा कर लिया तो जैनशासनसे और मनुष्य जीवनसे लाभ प्राप्त कर लिया।

आस्रवताका तात्पर्य—इस प्रकारका सारांश यह है कि जीवमें जो नये कर्म आते हैं उन नवीन कर्मोंका साक्षात् निमित्त कारण अर्थात् उदयमें आने वाले कर्म हैं। और उदयमें आने वाले कर्म नवीन कर्म बंधके निमित्त बन सकें, ऐसा उनमें निमित्तपना आये इसका निमित्त है रागद्वेष मोह परिणाम। इस कारण कर्मोंके निमित्तपनेका निमित्त होनेसे रागद्वेष मोह ही वास्वतमें आस्रव हैं और रागद्वेष मोह अज्ञानियोंके ही होता है। इस प्रकरणमें तात्पर्य निकला। अब यह दिखाते हैं कि ज्ञान पुरुषके आस्रवका अभाव होता है।

**णत्थि हु आस्रवबंधो सम्मादिट्ठस्स आस्रवविरोहो ।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अवंधंतो ॥ १६६ ॥**

सम्यग्दृष्टि जीवके आस्रव बंधका अभाव—सम्यग्दृष्टि जीवके आस्रव बंध नहीं है, उसके आस्रवका निरोध रहता है। वह तो पूर्वबद्ध कर्मोंको जानता है और नवीन कर्मोंको नहीं बांधता है। सिद्धान्त यह स्थापित किया जा रहा है कि ज्ञानी जीवके कर्म नहीं आते हैं इस कारण थोड़ीसी यह शंका हो सकती है कि ज्ञानी जीव तो सम्यक्त्व होनेके बाद ही कहलाने लगता है लेकिन चतुर्थ यमादिक दशम गुण पर्यन्त कर्मोंका आस्रव भी है और बंध भी है, फिर यह क्यों मना किया जा रहा है कि ज्ञानियोंके आस्रव और बंध नहीं होता है। इसका उत्तर है प्रथम तो यह बात समझना है कि जो कर्म बंध संसारकी परम्परा बढ़ायें उनको बंध कहा और जो संसार परम्परा न बढ़ायें, किन्तु संसारसे छूटते हुए प्राणियोंके पूर्व प्रयोगवश बंधते रहते हैं उन्हें बंध न कहिये। यह एक दृष्टान्तकी बात है। करुणानुयोग तो क्षमा न करेगा। उसकी दृष्टिसे दसवें गुणस्थान पर्यन्त बंध चलता रहता है, पर जो संसार को बढ़ाये उसे बंध समझो और जो संसारको न बढ़ाये उसे बंध न समझो। इस दृष्टिसे सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् उसे ज्ञानी कहते हैं। उसके जन्ममरणकी परम्परा नहीं बढ़ती है, सो आस्रव और बंध नहीं माने गये हैं।

ज्ञानी जीवके बंधके अभावका सहज कारण—दूसरी बात यह समझो कि जिस आत्मा से ज्ञान प्रकट हुआ है और चरित्र मोह भी शेष है तो उसका जो बंध होता है, विकार आता है वह ज्ञानके कारण नहीं आता है, किन्तु चारित्र मोहके कारण आता है अर्थात् अपने विकारकी योग्यताके कारण आता है। ज्ञानके कारण बंध होता है तब तो इन शब्दोंमें कहना चाहिए कि ज्ञानीके भी आस्रव और बंध होता है। पर जो आस्रव बंध होता है वह चारित्र गुणके विकारसे होता है। इस कारण विकारीके बंध है, ज्ञानीके बंध नहीं है। चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान पर्यन्त यह जीव ज्ञानी भी है और विकारी भी है।

कार्यके योग्य दृष्टि रखे जानेका एक दृष्टान्त—जैसे कोई पुरुष पंडित भी है, मुनीम भी है, पर किसी धार्मिक प्रश्नका उत्तर लेते समय उसे यों नहीं कहना चाहिए कि मुनीमजी साहब! इस शंकाका समाधान करिये। उसे वहाँ कहना चाहिए कि पंडितजी साहब! इसका उत्तर दीजिए और जब लेनदेन की बात चल रही हो, दुकानकी गद्दी पर बैठा हो तब यों न कहना चाहिए कि पंडितजी हमारा खाता देख लीजिए। तब कहना चाहिए कि मुनीम साहब खाता देख लो। खाता देखते समय उस मुनीमके पंडिताई नहीं रहती है, ऐसे ही पंडिताई के समय मुनीमीका सम्बन्ध नहीं रहता है। धार्मिक उपदेश देना यह मुनीमीके सम्बन्धसे नहीं हो रहा है, वह पंडिताईके सम्बन्ध से हो रहा है। यों ही समझो कि चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान पर्यन्त तक ज्ञानी भी है और विकारी भी है। जितना मोक्षामार्ग चल रहा है वह ज्ञान के कारण चल रहा है और जितना आस्रबंध हो रहा

है वह विकारके कारण हो रहा है। ज्ञानके कारण ज्ञान ही देखा जाय, विकारके कारण विकृत निरखा जाय तो यह उत्तर स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानी जीवके आस्रव और बंध नहीं होता है।

सम्यग्दृष्टिके बंधका अभाव कहनेका मूल अर्थ—यहाँ “सम्यग्दृष्टि” शब्द कहकर कह रहे हैं कि आस्रव और बंध सम्यग्दृष्टिके नहीं होता, निर्विकल्प समाधिमें रत पुरुषके नहीं होता। अर्थात् सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके परिणमनके कारण कर्मबंध नहीं हुआ करता है। यद्यपि इस जीवके द्रव्यकर्मका उदय चल रहा है, पर द्रव्यकर्म का उदय होनेपर भी यह शुद्ध आत्माके स्वरूपकी भावनामें लगा हुआ है। यदि अपनी श्रद्धामें रागादि रूपसे परिणम जाय तो वहाँ मिथ्यात्वके कारण बंध है और राग रूप जितना भी परिणमन चल रहा है वहाँ रागके कारण बंध है। सम्यग्दर्शनके कारण बंध नहीं होता और सम्यग्दर्शनके नातेसे सम्यग्दृष्टिका नाम लिया जा रहा है, क्योंकि ज्ञानी जीवके ज्ञानमय ही भाव होता है। जहाँ ज्ञानमय भाव है वहाँ परस्परमें विरोध है।

ज्ञानीद्वारा परका अनिष्ट होनेके संदेहका अभाव—ज्ञानी पुरुष कभी क्रोध भी कर जाय तो क्रोधके समयमें भी उसका ज्ञानमय भाव रहता है। कभी क्रोधमें आकर दूसरोंका अनिष्ट नहीं करता। देखा होगा कोई ऐसा रिसानेवाला बच्चा होता है कि उसे क्रोध आये तो खुदको ही कष्ट दे ले, पर दूसरोंको कष्ट नहीं देता। भूखा रह जाय या अपने आप को ही पत्थरसे मारने लगे, सिर धुनने लगे, पर दूसरोंको कष्ट नहीं देता। कितने ही लोग ऐसे होते हैं कि उन्हें गुस्सा आये तो वे ज्यादा काम करते हैं। उनका ज्यादा काम करना गुस्से के कारण बन रहा है पर काम नहीं बिगाड़ता। यह तो लौकिक बात है। ज्ञानी जीव को, दूसरोंके प्रति क्रोध भी आए तो दूसरोंको अनिष्ट नहीं करता, वे क्रोध भी ऐसी प्रवृत्ति करेंगे कि जिससे दूसरोंका भला ही हो। यह ज्ञानीका एक विरद है, दयालुताका स्वभाव है, आचार्य को शिष्यपर क्रोध भी आए तो उसका परिणाम शिष्यपर भला निकलता है।

ज्ञानीके क्रोधमें भी विवेक—एक सच्ची घटनाका दृष्टान्त है कि सागरमें चिरौंजा बाई जी थी, जिन्होंने गुरुजी को पढ़ाया है। सब लोग जानते हैं। उनकी ननद ललिता बाई बिल्कुल पढ़ी लिखी न थी। तो बाई जी ने कई बार कहा कि तुम कोई लिखा कागज मिले तो कूड़ेमें न डाला करो, उसे कहीं रख दिया करो। एक दिन ललिताबाई को ख्याल न रहा। कुछ असावधानी हो गई। एक बार एक कागज कूड़ेमें गिर गया। मंदिरसे आई बाई जी। देखा कि दरवाजे पर कूड़ा पड़ा है और उसपर कागज पड़ा है। उठाकर देखा तो उसमें भक्तामरका एक काव्य लिखा था। अब तो उनके क्रोध चढ़ गया। सो ऊपर आकर ललिताबाई का चोटा पकड़कर गुस्सेमें आकर कहा यह कागज कूड़ेमें क्यों डाला? और पकड़कर एक हाथ भीतमें लगाकर एक हाथसे सीधा दे मारा। अब बतलावो बाई जी के चोट आ गई कि नहीं? चाहे आ गई, फिर भी उनका ज्ञान बिदा नहीं हुआ। ज्ञान फिर भी बना रहा कि कहीं इसके सिरमें पीड़ा न हो जाय तो ज्ञानी पुरुषके अन्तरङ्गमें ज्ञानका

परिणाम बना रहता है। उस समय जो क्रोध भाव है वह तो विकार है, वह तो स्वयंका अज्ञान है पर भीतरमें जो विवेक बुद्धि है उसका कारण ज्ञान है।

स्वरूपाचरणका प्रताप—ज्ञानी जीवके अन्तरङ्गमें ज्ञानमय भाव रहता है। गृहस्थ ज्ञानी घरमें रहता हुआ भी, रोजिगार व्यापार सभीमें यत्नशील रहता हुआ भी ज्ञानमय भावको नहीं छोड़ता। उसे अपने स्वरूपका स्पर्श और स्मरण सदा काल बना रहता है। स्वरूपाचरण चारित्र श्रावकके बताया गया है। चौथे गुणस्थानमें भी चाहे वह गृहस्थ किसी कार्यमें लगा हो चूंकि वह सम्यग्दृष्टि है, सो स्वरूपाचरण चारित्र उसके निरन्तर रहता है। उस स्वरूपाचरण चारित्रके प्रतापसे इसके ज्ञानमय भाव बराबर बना रहता है। इस ज्ञानी जीवके ज्ञानमय भावके द्वारा अज्ञानभाव रोक दिया जाता है, क्योंकि ये परस्पर विरोधी है। जहाँ ज्ञानभाव है वहाँ अज्ञानभाव नहीं ठहर सकता। अज्ञानभाव है रागद्वेष मोह। इन अज्ञानमय भावोंका अभाव हो जानेके कारण ज्ञानी जीवके आस्रवका निरोध हो जाता है। इस कारण पुद्गल कर्मका बन्ध भी नहीं होता क्योंकि जब आस्रवका ही निरोध हुआ तो बंध कहाँसे हो? इस कारण ज्ञानी जीवके आस्रव न होनेके कारण, नित्य अकर्ता होनेके कारण वह नये कर्मोंको नहीं बांधता और पूर्वबद्ध कर्म जो सत्तामें अवस्थित हैं, अथवा उदयागत भी हो रहे हैं उनको केवल ज्ञानस्वभावी होनेके कारण जानता ही है।

कर्म और कर्ममें अनात्मीयता—यहाँ कुछ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या ऐसा भी होता है कि कार्य करता जाय और कार्यसे दिल हटा हुआ हो। इस बातकी पुष्टि के लिए आपको अनेक दृष्टान्त मिलेंगे कि कार्य भी करते जा रहे हैं और कर्मसे हटे हुए रहते हैं। उस सम्बन्धमें कर्ता और स्वामीपनेका आशय नहीं रहता है। मुनीम अथवा किसी प्रकार की सर्विस करने वाला पुरुष मालिकके कामको बड़ी योग्यतासे, सावधानीसे चिन्ता सहित किया करता है, फिर भी स्वप्नमें भी उसके स्वामित्वकी बुद्धि नहीं जगती। कभी किसी मुनीमके चित्तमें यह आता है क्या कि मैं इस दुकानका मालिक हूँ? काम सब कर रहा है बल्कि मालिक कुछ नहीं कर रहा है, वह तो अपने घरमें बैठा है या गद्दीपर ही लेट रहा है। किसी किसी मालिकको तो यह भी पता नहीं रहता कि किस समय क्या काम करना है और कैसे करना है, लेकिन मालिकके स्वामित्व बुद्धि पड़ी हुई है। और इस मुनीमके इतना काम करते हुए भी मनमें स्वामित्वका अहंकार नहीं है।

प्रकरणमें लगकर भी प्राकरणिकता का अभाव—शादियोंमें पड़ोसकी स्त्रियोंको घरके लोग गानेके लिए बुलाते हैं और वे पड़ोसकी स्त्रियाँ आकर बड़े तेज स्वरसे खूब गाना गाती हैं। मेरा दूला, मेरा बन्ना, मेरा सरदार, पर क्या उनके मनमें ऐसा विश्वास है कि यह मेरा ही दूला है, यह मेरा ही सरदार है? नहीं। खूब तेजीसे वे स्त्रियाँ गाती हैं पर भीतरसे और ही किस्मका विश्वास है। हम तो केवल गानेके लिए आई हैं, हम तो केवल बुलावा लेनेके लिए आई हैं मेरा यहाँ कुछ नहीं है। चाहे दूला घोड़ासे गिर जाय तो उनकी बलासे। उनके स्वामित्व बुद्धि नहीं है। यों अनेक दृष्टान्त है, जिससे यह प्रसिद्ध है कि कार्य करते हुए भी कार्यका कर्ता नहीं कहलाया, ऐसा हटा हुआ भाव रह भी सकता है।

ज्ञानकलाका प्रताप—ज्ञानी जीवमें ज्ञानके सिवाय और कौनसी मौलिक कला आई जिसके कारण घर गृहस्थी में रहकर वह मोक्षमार्गी है और कर्मोंका उसके आस्रव नहीं होता? चौथे गुणस्थानमें ४१ प्रकृतियोंका संवर है, पांचवे गुणस्थानमें ५१ प्रकृतियोंका संवर है। इसी प्रकार अगले गुणस्थानमें कितनी ही प्रकृतियोंका आस्रवबंध नहीं होता। इसका कारण यह है कि ज्ञानीके वह कला आ गई है जिसके प्रतापसे सर्वस्थितियोंमें अलिप्त रहता है और अपने कामको सम्हाले हुए रहता है।

ज्ञानके सदुपयोगके लिये प्रेरणा—भैया! ज्ञानशक्ति पाकर इसका सदुपयोग करो। मनुष्य पर्याय पाई तो कितनी ज्ञानशक्ति मिली? ज्ञानशक्ति बिना क्या इतना बड़ा व्यापार भी सम्हाला जा सकता है? क्या इतनी बड़ी सर्विसके कामको, सेवाभाव को, इतनी बड़ी उलझनोंको सम्हाला जा सकता है? नहीं। इतना बड़ा हिसाब करना, बहुत बड़े समूहकी व्यवस्था बनाना, क्या इस ज्ञानशक्तिके बिना हो जाता है? नहीं। ज्ञानशक्ति तो पाई, अब उस ज्ञानशक्तिका हम कुछ आत्मात्वके सहज निर्वेक्ष स्वतःसिद्ध स्वरूपकी जानकारीमें भी सदुपयोग करें। यह हमारा प्रधान कर्तव्य है।

तन-मनका सदुपयोग करनेका संकेत—भैया! यह तन साथ देगा नहीं, यह मन साथ देगा नहीं, यह मान साथ देगा नहीं, वचन साथ देगा नहीं, यह धान साथ देगा नहीं। ये चार ही चीजें विनाशीक हैं। जितना बन सके इस शरीरसे परकी सेवा कर लो। अपना काम स्वयं अपने तनसे किया जाय। इस मनका सदुपयोग यह है कि सब जीवोंका भला विचारो। बुरा विचारनेपर भी दूसरेका बुरा नहीं हो जाता, किन्तु बुरा विचार करनेसे स्वयं का ही परिणाम खोटा होता है और उन परिणामोंका फल स्वयं पाता है। सबका भला विचारों कि सबका ज्ञान निर्मल बने, दृष्टि शुद्ध बने, सब सुखी हों, यह है मनका सदुपयोग।

वचनोंका सदुपयोग करनेका संकेत—वचनोंका सदुपयोग है सबसे हित मित प्रिय वचन बोलना। झगड़ेकी जड़ भी वचनोंका बुरा उपयोग है। और संगठन, प्रेम, शांति, आनन्दका वातावरण बने तो इसकी जड़ है वचनोंका सदुपयोग होगा। वचनोंका इस मनुष्यभवमें बड़ा महत्व है। गधा, भैंसा, कुत्ता आदि भौंकते हैं, चिल्लाते हैं पर उनके बोलनेसे कुछ प्रयोजन नहीं निकलता, कुछ कल्याणकी बात नहीं मिलती। आज मनुष्य हुए हैं तो वचन बोलनेकी सामर्थ्य मिली है। वचन ऐसे बोले जायें कि जिससे दूसरोंको कष्ट न पहुँचे। वचन ऐसे बोले जायें जो अपने और दूसरोंके हितके साधक हों। दूसरोंके हित साधना हों तो कमसे कम अहितके साधक न हों। और फिर परिमित बोलो। वचन अधिक बोलनेकी आदत भली नहीं होती है। कहाँ तो जैनशासन में यह बताया है कि शक्ति न छिपाकर वचनगुप्तिका अभ्यास करो, वचन बोलो ही मत। और कदाचित् हम वचन स्वच्छन्द होकर बोलने लग जायें तो हम प्रभुकी आज्ञासे कितना दूर जा रहे हैं? हमारा कर्तव्य है कि हम वचन परिमित बोलें। जितने वचनोंका प्रयोजन है, हितके साधक हैं, शांतिके स्थापक हैं उतने ही हम वचन बोलें। जितने वचनोंका प्रयोजन है, हितके साधक हैं, शांतिके स्थापक हैं उतने ही हम वचन बोलें। यों हित मित, प्रिय वचन बोलना यही वचनका सदुपयोग है।

धनका सदुपयोग भैया! पहिले तो ऐसी दृष्टि बनाओ कि हमारा जगतके जीवोंसे परमार्थतः कुछ भी सम्बन्ध नहीं, चाहे वे घरमें उत्पन्न हुए दो-चार सदस्य हों, चाहे बाहरके गैर अनगिनते जीव हों। सब जीव मेरे लिए एक समान हैं, क्योंकि किसी भी परजीवसे मेरेमें कुछ परिणमन नहीं हो जाता। किसी भी परजीवके परिणमनसे मेरेमें कुछ सुधार बिगाड़ नहीं होता। यदि इस गृहस्थावस्थामें धनका कुछ प्रसंग हुआ है तो उस धनको आधे-आधे रूपमें व्यय करें। आधा व्यय घरके कुटुम्बके लिए करें तो इतना ही व्यय इन जगतके अन्य जीवोंके उद्धारके लिए करें। क्या जगतके अनगिनते जीव आपके घरके ४ आदमियोंके बराबरकी भी जान नहीं रखते? जब शुद्ध दृष्टि जगे और अपना कर्तव्य समझमें आए कि तुम कमसे कम कुटुम्ब बराबर भी दृष्टि सब जीवोंपर रख सको और इस प्रवृत्तिसे धनका व्यय करो तो यह धनका सदुपयोग है।

मायासे निर्मोहता इस लोकमें इन मायामय वस्तुओंके प्रति मोह करनेसे आत्माका कुछ लाभ नहीं है। निर्मलता कैसे जगे, इस ओर अपनेको यत्न करना चाहिए। जितनी भी शांति प्राप्त होगी वह निर्मलताके आधारपर होगी। यह ज्ञानसाध्य चीज है। कोई शरीर के कष्टकी बात नहीं कही जा रही है कि तुम २-४ अनशन करो तो तुम्हें सन्मार्ग मालूम पड़ेगा। घरमें हो तो रहो सब कुटुम्बके बीचमें रहना हो रहो, किन्तु अपने ज्ञानको अपने भीतरमें झुकाकर केवल ज्ञानमात्र अपने स्वरूपका अनुभव करो। इसके लिए कोई रोकता है क्या? जितनी सामर्थ्य हो जितना आपका बल चले उतना अपने आपके अन्दर अपने शुद्ध स्वरूपके निरखो। अपने इस ज्ञानानन्द धन सहजस्वरूपके जाननेसे ये नवीन कर्म रुक जाते हैं, प्राचीन कर्म उदयमें आकर खिर जाते हैं और इसके आगेका मार्ग स्पष्ट हो जाता है। इस कारण भरसक कोशिश इस बातकी करिये कि श्रद्धा और चारित्र्य ये दो गुण निर्मल रहें।

श्रद्धा व चारित्र्य गुणकी निर्मलतासे हित आत्मामें अनन्त गुण हैं। उन अनन्त गुणोंमें श्रद्धा और चारित्र्यगुणके विकारसे ही विपत्तियाँ आती हैं। और जो गुणस्थान बने हैं १४, वे श्रद्धा और चारित्र्यके विकार और अविकारकी डिग्रियों पर बने हैं। श्रद्धा मेरे सही हो, चारित्र्य मेरा निर्मल हो ऐसी स्थितिमें फिर जो कुछ होता हो, हो। यह संसार है। यहाँ बड़े-बड़े चक्रवर्ती अर्द्धचक्री महाराजा-राजा अनेक हुए हैं, उनमें कुछ बुरी वृत्तिवाले हुए हैं पर प्रायः अधिक उत्तम वृत्तिवाले हुए हैं। वे प्राप्त समागमके ज्ञाता द्रष्टा थे। उदय है सो सम्पदा आती है, उसके भी ज्ञाता-द्रष्टा रहते थे और जो अपने जीवनमें पाई हुई सम्पदामें हर्षमें मग्न नहीं होते हैं वे वियोगके समय दुःखी भी नहीं हुआ करते हैं।

विवेक जिनके जितनी अधिक आसक्ति है उनको उतना ही अधिक दुःख होता है। जिनके परवस्तुकी आसक्ति नहीं है उन्हें कोई दुःख नहीं है। जिसे आसक्ति सताती हो वह बड़ा दुःखी है; जैसे भोजनके सम्बन्धमें आपको किसी चीज की असक्ति है तो उसके न मिलने पर आपको अधिक क्लेश होगा। और, किसी चीजको आसक्ति न हो, पर उस समय कुछ आवश्यक होनेसे बड़ी जरूरत महसूस करते हैं तो ख्याल तो थोड़ा आता है पर उसके न मिलनेसे दुःख नहीं हो सकता है; क्योंकि

उस पदार्थमें आपकी आसक्ति नहीं है। जितनी अधिक आसक्ति होगी उतनी ही अधिक भोगोंके न मिलनेसे क्लेश होगा और बिछुड़ने में क्लेश होगा। विवेक यह कहता है कि वस्तुके स्वरूपको यथार्थ जानो। सर्व पदार्थ भिन्न हैं। किसी पदार्थसे कोई बात मुझमें नहीं उत्पन्न होती है। उनके ज्ञाता-द्रष्टा रहो। सीधा अर्थ देखो। प्रयोजन सोचो। आत्महितकी बात निरखो। जो बातका प्रयोजन नहीं समझ सकता है वह बाहरी रूढ़ीको कैसा हो उपयोग करके अनर्थमें ले जा सकता है।

बाह्य क्रियाओंका प्रयोजन स्वरूप दर्शनका यत्न—तुम देवपूजा करो तो देवोंकी तरह अपना स्वरूप निरखनेका यत्न करो। गुरुवोंकी उपासना करो तो गुरुवोंकी तरह ज्ञान और चारित्र्य की प्रगतिमें बढ़ने की भावना बनाओ, स्वाध्याय करो तो स्वाध्यायमें जो तत्व आता है, अर्थ आता है उस तत्व और अर्थको अपने आपमें घटाएं। वर्णन आता है कि १००० योजन तककी अवगाहना वाले जीव होते हैं। तो उससे यह अर्थ लगा लो कि ज्ञानकी उपासना बिना ऐसी अवगाहना में भी उत्पन्न होना पड़ता है। स्वाध्यायमें आए हुए प्रकरण से तुम्हें क्या शिक्षा लेनी है यह बात समझते रहिए। संयम करो तो संयमसे प्रयोजन यह मानो कि इस संयमके प्रतापसे चंचल मन स्थिर होगा और अपने प्रभुस्वरूप की ओर यह लगेगा। यह संयमका प्रयोजन है। तपस्याका भी वही प्रयोजन है और छठा कर्तव्य है दान करना। दान करनेका प्रयोजन यह है कि इस परिग्रहमें मेरे आसक्ति संस्कार न रहे। समय-समयपर इसका त्याग किया जाय, परोपकारमें लगाया जाय तो ऐसी वासना संस्कार के कारण परिग्रहमें ममता तो नहीं रह सकती है। यों सभी क्रियाकाण्डों का अर्थ अपने आप में अपने आपको खोजनेमें लगाना चाहिए, इससे कर्मबंध नहीं होता।

कर्मास्रवणका निमित्त—आस्रव क्या है? इसका यह प्रकरण चल रहा है। नवीन कर्म आते हैं अर्थात् आत्मामें एक क्षेत्रावगाह रूपसे अवस्थित विस्रसोपचयकी कार्माण वर्गणायें अपने कर्मत्वरूप बनती हैं तो इसका कारण क्या है? नवीन कर्मोंमें कर्मत्व आने का साक्षात् कारण भावकर्म है। यह किस ढंगसे सिद्ध किया है? वस्तुतः साक्षात् ऐसा नहीं है। नवीन कर्मोंके आस्रवका कारण उदयागत कर्म है। और उदयागत कर्मोंमें नवीन कर्मोंका आस्रवण करनेका निमित्तपना बन जाय इसमें निमित्त है रागद्वेष आदि भाव कर्म। यह आस्रवकी कथा है। चूँकि नवीन कर्मोंके निमित्तपना होनेका निमित्त है रागद्वेष भाव।

कर्मास्रवणके निमित्तके परिज्ञानमें एक दृष्टान्त—एक दृष्टान्त देखिये, जैसे मालिक के साथ कुत्ता जा रहा है। मालिकने सैन दी किसी दुष्टपर कुत्तेके लिए छू छू। तो कुत्ता उस दुष्टपर आक्रमण करताहैं उस दुष्टपर जो आक्रमण हुआ है उसका करने वाला साक्षात् तो कुत्ता है, पर कुत्तेमें आक्रमण करनेकी हिम्मत आ जाय इस हिम्मतके लानेका निमित्तभूत है मालिक की सैन। ठीक ऐसी ही बात कर्मोंके आस्रवके सम्बन्धमें है। नवीन कर्मोंका उस भावकर्मके साथ कुछ साक्षात् सम्बन्ध नहीं है किन्तु उदयमें होनेवाले कर्मोंके साथ इस आत्मका कुछ सम्बन्ध है, पूर्वबद्ध है, किन्तु विरादरीके कारण नवीन द्रव्यकर्मोंके साथ उदयागत कर्मोंका कुछ सम्बन्ध है, इस कारण

नवीन कर्मोंके आस्रवमें निमित्त बनते हैं उदयमें आये हुए पुद्गल कर्म और पुद्गल कर्मोंमें नवीन कर्मोंका, आस्रव करनेका निमित्तपना आ जाय उसका निमित्त होता है रागद्वेष मोह भाव। तो कर्मोंके आस्रवका मूल निमित्त हुआ रागद्वेष मोह। अतः रागद्वेष मोहसे ही आस्रवपना है, इस प्रकारका नियम किया जा रहा है।

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो हु बंधगो भणित्तो।

रायादिविप्पमुक्को अबंधगो जावगो रणवरि ॥ १६७ ॥

रागादिसम्पर्कमज भाव—इस आत्मामें रागद्वेष मोहके सम्पर्कसे उत्पन्न होनेवाला भाव अज्ञानमय ही है। वह कर्म करनेके लिए आत्माको प्रेरित करता है। इन शब्दोंमें बहुत गहरा आध्यात्मिक तत्व भरा है। प्रथम तो यह कहा कि रागद्वेष मोहभाव कर्म करनेके लिए प्रेरित नहीं करता, किन्तु रागद्वेष मोहके सम्पर्कसे उत्पन्न होने वाला परिणाम वह आत्माको कर्म करनेके लिए प्रेरित करता है। रागद्वेष मोहको छोड़कर उसके सम्पर्कसे होने वाला परिणामन और क्या है? यह गहरी सूक्ष्म दृष्टिसे अध्ययन करनेसे मालूम पड़ता है।

निमित्तरूप परिस्थितिका एक दृष्टान्त—इसके लिए एक दृष्टान्त दिया है। चुम्बक पत्थर लोहेके कर्म करनेके लिए प्रेरित करता है। उस लोहेको क्रियान्वित होनेके लिए प्रेरित करता है अर्थात् वह लोहेकी सूई खिंच जाय। बहुतसे चुम्बक ऐसे होते हैं कि सूई चार अंगुल दूर हो यदि चाकूकी नोक दिखा दी जाय तो वह सूई चाकूमें खिंच जाती है। इस ही दृष्टान्तको ले लिया जाय तो चुम्बक, लोहेको कर्म करनेके लिए प्रेरित नहीं करता, किन्तु लोहेका इतने अन्तरसे उपस्थित होनेके कारण उत्पन्न हुआ जो एक परिणाम है, वातावरण है, परिस्थिति है भाव है, वह सूईको कर्म करनेके लिए प्रेरित करता है। यदि चुम्बक ही सूईको क्रियान्वित करनेके लिए प्रेरित करता होता तो कहीं रखा हो चुम्बक प्रेरित कर ले, पर नहीं कर सकता है। इसलिए अयस्कान्तोपलके विशिष्ट सम्पर्कसे उत्पन्न होनेवाला परिणाम वातावरण लोहे की सूईको खींचने के लिए प्रेरित करता है, इसी प्रकार रागद्वेष मोह होनेके सम्पर्क होनेसे उत्पन्न हुआ भाव अज्ञानमय परिणाम कर्मको करनेके लिए प्रेरित करता है।

आस्रवके निमित्तका निमित्तभूत अज्ञानमय भाव—ये रागद्वेष मोह तो अनेक भाव हैं। यह भेददृष्टिसे देखा गया है। पर सम्पर्कमें आनेपर उत्पन्न होने वाला जो परिणाम है वह परिणाम एक अज्ञानस्वरूप है। वह अज्ञानस्वरूप भावकर्मको करनेके लिए आत्माको प्रेरित करता है। इतनेपर भी अभी द्रव्यकर्मकी बात नहीं आई। आत्मामें ही कोई क्रिया बने, विकार बने उसकी चर्चा है यहाँ। जिसे कह सकते हैं कि एक योग करनेके लिए प्रेरित किया। रागद्वेष मोहके सम्बन्धसे उत्पन्न होने वाले अज्ञानसे आत्माको योगरूपमें आनेके लिए प्रेरित किया और वह योग उदयागत कर्मोंमें नवीन कर्मोंका निमित्तपना आ जाय, इसके लिए निमित्तत्व आया और इस परम्परामें भी नवीन कर्म बंध गए। एक अनहोना काम हुआ ना। इसमें भी बेढब, विचित्र वे मूलके ज्ञानस्वाभावी यह आत्मा द्रव्य

कर्मके बंधनसे बंध जाय इतना बेमेल काम होनेमें भीतर कितनी गुत्थियाँ बनीं? तब यह बेमेल काम बना।

विपत्तियोंकी मूल जिम्मेदारी हमारी—इस प्रकरणमें यह जानना है कि सर्व बंधनोंके जिम्मेदार हम हैं। हमारी ही करतूत मूलमें ऐसी भूलकी हो रही है कि यहाँ के सर्व मायामय वातावरण जो मेरी विपत्तियोंके लिए एक सच्चा झगड़ा बन गया है उसके अपराधी हम हैं।

विकट झगड़ा और जड़ हँसी—जैसे कोई हँसीकी ही बात हो, झूठ हो, कल्पनाकी ही बात हो और वह इतनी बढ़ जाय कि परस्परमें दौका बड़ा झगड़ा खड़ा हो जाय। मुकदमेबाजी हो जाय, मारपीट हो जाय, तो झगड़ा तो बड़ा विकट बन गया। एक दूसरेकी जान लेनेके भी यत्नमें हैं। ऐसा सच्चा झगड़ा बन गया। इसका मूल कारण क्या है? इस सम्बन्धमें विचार करनेके लिए कुछ लोग बैठें, बात चले तो अंतमें मिलेगा क्या? कुछ नहीं। कुछ कहा ही नहीं जा सकता है कि किस बातपर इतना बड़ा झगड़ा खड़ा हुआ? वचनोंसे भी कह सकने लायक बात नहीं है, क्योंकि मूलमें कुछ बात हो तब ना कहा जाय, पर वहाँ तो हंसी थी, भ्रम था। झगड़ा बन गया। धन भी खर्च होने लगा, मारपीट हो गई, एक दूसरेकी जान लेनेपर उतारू हैं पर कारण मूलमें कुछ नहीं निकला। थोती एक प्रवृत्तिमात्र थी।

असह्य बंधन और जड़ भ्रम—इसी प्रकार हमारे आपके इन झगड़ोंको देखो तो एक बड़ा बंधन बन गया है। शरीर के बन्धनमें पड़े ही तो हैं। लक्षणदृष्टिकी बात और है। पर व्यवहारसे देखो तो सही, शरीर को छोड़कर हम कहीं ४ हाथ दूर बैठ तो नहीं सकते। शरीर की परिस्थितियोंके साथ-साथ हम भी तो अपने भाव बनाया करते हैं, कर्मबंधन हुआ करता है, जन्म मरण चलता रहता है। हम कितना ही ज्ञान बनाएँ जितना कि बना सकते हैं, फिर भी मेरा जन्ममरण अभी नहीं छूट रहा है। मरेंगे और जन्म लेंगे। जैसी पर्यायमें जन्म लेंगे वहाँ बात उसी ढंगकी बन जायगी। इतना एक सच्चा झगड़ा खड़ा हो गया है, पर कोई निर्णय करे कि इतना सच्चा झगड़ा बन जानेका मूल कारण क्या है? कर्मोंका उदय था इसलिए ये कर्म बन गए। सूकर गधा बनना पड़ा। कर्मोंका उदय क्यों आया? अजी वे कर्म पहिलेसे बने थे तो आखिर समय तो आयगा ही। उनका समय आया, सो यह झगड़ा बन गया। ये कर्म क्यों बंधे थे? पूर्वबद्ध कर्मोंका ऐसा ही उदय था कि जिसके निमित्तसे ये नवीन कर्म बंध गये। तो उन कर्मोंके नवीन कर्मोंके बंधनेकी हिम्मत कहाँ से आ गई? जीव ने रागद्वेष मोह परिणमन किया सो हिम्मत आ गई। यह रागद्वेष क्यों हुआ था? कुछ भ्रम हो गया था।

तिलका ताड़—इस विभावसे एक ऐसा अज्ञानमय वातावरण बन गया कि जिससे उदयागत जड़कर्मोंके नवीन कर्मोंमें आस्रवण करनेका साहस हो गया। तो ये रागद्वेष मोह क्या चीज है? जरा भीतरमें पकड़कर तो देखो। दृष्टिबलसे निहारकर तो देखो कि ये रागद्वेष मोह क्या वस्तु हैं? भले ही कुछ रागद्वेष समझमें आयें, क्योंकि सुहावने लग गये ना। भावात्मक होकर भी ये रागद्वेष मोह तो

कुछ थोड़ा समझमें आते और ऐसा लगता है कि झगड़ेकी जड़ तो मालूम होती है, पर ये रागद्वेष कैसे बने? इसकी खोज करनेको तब अपने अन्तरणमें उतरते हैं। कैसे बने ये, राग क्या चीज है? किसी भिन्न पदार्थके सम्बन्धमें कुछ विचार करनेसे चित्त सुहावना हो गया, बस यह है रागका ढाँचा ऐसा न हो तो उस पर वस्तुके प्रति इसकी उन्मुखता हो क्यों? है तो केवल भिन्न पदार्थ और इन भिन्न पदार्थों से कुछ सम्बन्ध भी नहीं है। ये हो कैसे गए? बस मोह कहिए, भ्रम कहिए। भ्रममें क्या कोई ढंग भी है? वह भ्रम कोई पकड़ सकने लायक भी है क्या? जान सकने लायक भी है क्या? उस भ्रममें कुछ तत्व नहीं मिलता। उसमें केवल अज्ञान भाव मिलता है। तो झगड़े की कोई जड़ भी नहीं मिली। जड़ तो केवल झूठ है। उस झूठसे ही इतनी बड़ी विपत्तियाँ खड़ी हो गई, देखो तो तिलका ताड़ बन गया।

मनुष्य भव इतरानेके लिये नहीं समझें—आज मनुष्य भवमें हैं, इसलिए इन विपत्तियोंका कुछ अधिक अंदाज नहीं है। संसारके अन्य जीवोंपर दृष्टिपात करके देखो तो सही। इन मनुष्योंको जो कुछ मिला है उसमें ही संतोष नहीं है। ये समझते हैं कि मैं गरीब हूँ। कुछ भी मेरे पास नहीं है। अभी और अच्छा मेरा गुजारा नहीं हो रहा है। सो जैसे सेठके लाड़ले बच्चोंको चूँकि लाड़ मिल रहा है सो वह रिसाता है, नई-नई कल्पनाएं करता है, अपनी माँगें बढ़ाता है और ऊधम करके परिवारको हैरान करता है। इसी प्रकार हम और आपको दुर्लभ मनुष्य जीवन मिला है सो जितना चाहे रिसा लें। उन गाय, भैंस, घोड़ोंका क्या जीवन है, जिनकी भाषा भी सही नहीं है, ऐं ओं कर रहे हैं, जिनका अभिप्राय नहीं समझ सकते हैं। इस मनुष्य जीवनमें एक दूसरे को अभिप्राय दे सकते हैं और सुन्दरसे सुन्दर राग रागनियाँ और कलाएँ ये अपनी कर सकते हैं। कितना श्रेष्ठ यह जीवन है। इस भवमें कितना खुश होते हैं। कुछ पुण्य कर्मका लाड़ मिला है ना। कुछ योग्य सम्पदा प्राप्त हुई ना, तो यह और ऊधम मचाने लगा। जो मिला है उसमें भी संतोष नहीं है। हमें और प्राप्त हो जाय। अरे कितना ही और प्राप्त हो जाय, वे सब परवस्तु हैं। वे सब छोड़ ही तो जाना पड़ेगा। जब तक साथ हैं तब तक भी उनमें से अपनेको कुछ मिलने वाला नहीं है। यह भ्रम भाव, अज्ञानपरिणाम हमारी समस्त विपत्तियोंका मूल कारण है।

भ्रम मेटनेकी पद्धति—भैया! यह भ्रम भाव कैसे मिटता है, हमें मिटाना है। गुप्त होकर मिटता है। किसीको दिखता नहीं है। यहाँ हमारा सर्वस्व, साथी, शरण, रक्षक कौन है जिस पर अपनी कुछ कलाबाजी दिखा दें तो क्षमा हो जाय, अथवा कुछ उद्धार हो जाय। किसीमें शक्ति नहीं है कि कोई अन्य मेरा उद्धार कर सके। मुझे अपने आपमें ही गुप्त रहकर गुप्त पद्धतिसे गुप्तमें गुप्त कार्य करना है। वह क्या कि जो आत्माका स्वरूप है केवल जाननहार, उसमें न मायाचार, न कषाय, न कोई टेढ़ापन है, जो है जाननमें आ गया, ऐसा भोला-भाला इस निज शंकर सुखकर इस शिव तत्वकी ओर निहारना है। मैं ज्ञानमात्र हूँ। ऐसा अपने आपका अनुभव करना है। यही अनुभव सैकड़ों रोगोंकी दवा है। कितने ही रोग उठ रहे हों, कितने ही संकट आ रहे हों उन सबको मूलसे मिटा सकनेकी शक्ति है तो शुद्ध ज्ञानस्वभावकी दृष्टिमें है। वहाँ एक भी संकट ठहर नहीं सकता।

भ्रम मिटनेका उपाय स्वतन्त्र सत्ताका दर्शन—इस परमपिताकी दृष्टि करा सकने में समर्थ उपदेश जैन शासनमें है। यह बात तो तब आये जब परपदार्थों की उपेक्षा हो जाय। परपदार्थोंसे उपेक्षा होना तब परपदार्थों को भिन्न और असार समझ लीजिए। परपदार्थों को भिन्न और असार तब ही समझ सकते हैं जब परपदार्थों का स्वरूपास्तित्व यथार्थ ध्यानमें आ जाय। त्रिकालमें भी किसी पदार्थका किसी अन्य पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। एकमें दूसरे द्रव्यका अत्यन्ताभाव है। ये सब व्यवहारकी बातें हैं। जो यहाँ करते हैं कि देखिये अग्निका असर पानीपर पड़ा। अमुकका असर अमुकपर पड़ा। अरे किसी पदार्थका असर किसी दूसरेपर नहीं पड़ा करता है, किन्तु परिणमनेवाले पदार्थोंमें स्वयं योग्यता ऐसी होती है कि अनुकूल परका निमित्त पाकर स्वयं अपनेमें विचित्र असर उत्पन्न कर लेते हैं। इसी बातको व्यवहारमें निमित्तपर ढालकर कहा जाता है कि देखो अमुक निमित्तने अमुक वस्तुको इस प्रकार परिणमा डाला। अर्थ उसका यह है कि यह परिणमनवाला पदार्थ अपनेमें ऐसी योग्यता रखता था कि ऐसा निमित्त पाकर अपने आपमें ऐसा असर कर सका।

विकारपरिणमनकी विधिपर एक दृष्टान्त—यहीं देखो हम बैठे हैं, यहाँ और फर्शपर छाया पड़ रही है। बिगड़ा कौन? वह फर्श। वहाँ अंधेरा बन गया। उस फर्शपर परिणमन हो गया तो व्यवहार भाषामें तो यह कहेंगे कि देखो इस फर्शको हमने ऐसा बना डाला, किन्तु खूब खोज लीजिए। यह मैं अपनेसे बाहरमें क्या काम कर सकता हूँ? क्या मैं अपने प्रदेशोंसे एक प्रदेश भी बाहरमें खिसक सकता हूँ? नहीं। उस फर्श में मैंने कुछ उथल-पुथल मचाया क्या? नहीं। यह मैं अपने इस शरीरमें रहता हुआ अवस्थित हूँ। इस चमकीले और प्रकाशमय फर्शमें ऐसी योग्यता है कि यदि अपने समक्ष मुझे या किसीको भी पाये तो उसका निमित्त पाकर यह फर्श स्वयं अपनेमें छायारूप परिणम जाता है।

विकारपरिणमनकी विधि—ऐसे ही जगतके सब पदार्थोंमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, ऐसी अपने आपकी क्रियाके मर्मसे अपरिचित अज्ञानी जन, चूँकि व्यवहार भाषामें परमार्थ अर्थ लगा बैठते हैं इस कारण उनका परमें आकर्षण पहुँचता है। जिसे यह पता हो कि मुझे दुःखी करने वाले अमुकलाल नहीं हैं, किन्तु मैं ही ऐसी योग्यताका हूँ कि अमुक नाम वाले भाईका निमित्त पाकर उल्टी कल्पना बनाकर दुःखी होता हूँ। सो यद्यपि दुःखी हो रहे हैं, निमित्त भी उपस्थित है तिसपर भी उसके दुःखमें निर्वृत्ति भरी हुई है। और एक अज्ञानी पुरुष जिसे यह बोध है कि मुझको तो इस अमुकने ही दुःखी किया है, यह बड़ा क्रूर आशयवाला पुरुष है। सो वह दुःखी हो रहा है।

अपने प्रभुपर अन्यका दुष्परिणाम—भैया! हम और आपका इस लोकमें कोई रक्षक नहीं है। रक्षक है तो मात्र सम्यग्ज्ञान है। बहुत कुछ तो देखभाल डाला है और यदि यह बात निर्णीत नहीं हुई है तो अभी और देखोगे तो अंतमें यह निष्कर्ष निकलेगा कि जब भी मैं दुःखी होता हूँ तब अपने अपराधसे ही दुःखी होता हूँ। मैं अपने स्वरूपसे चिगकर बाहरकी ओर उपयोगरूपी

मुखको करके मैं गर्विष्ठ रहा, अहंकारी रहा, सो अपने आपके इस भोले-भाले ज्ञानस्वरूप आत्मभगवानपर अन्याय करनेका तो यह परिणाम निकलेगा ही कि संसारके चतुर्गति सम्बन्धी भेष धारण किये जा रहे हों। अपने आपके आत्मभगवानपर इस महान अन्यायका यह परिणाम है कि रुलती सूरतमें खड़े रहते हैं। आज मनुष्य हैं, कभी सूकर थे, अथवा कोई सूकर बन जाय तो देखो उनकी कैसी हालत है? कीड़े-मकोड़े बन जायें, पेड़-पौधे बन जायें तो देखो उनकी क्या हालत हो रही है? इतना बड़ा दंड क्यों मिल रहा है इस जीवको? इसने एक महान् अपराध किया जिससे बढ़कर कोई अपराध नहीं हो सकता। वह अपराध है अपने सही स्वरूपको लक्ष्यमें नहीं ले सकता। अपने स्वरूपको अपने ज्ञानमें न ले सकनेसे इतने महान् संकट इस जीवपर आ गये हैं।

प्रभुदर्शनसे संकट समाप्ति—अपने आपमें अपना सुलझेरा करना अपने भीतरकी ही बात है। अपने आपमें इस पवित्र कामको तुम कर सकते हो, मगर सबकी ओरसे आँखें बंद कर लो। ये जगतके सब जीव मेरी ही तरह बल्कि मेरेसे भी अधिक बुरी तरह मलिन हैं, संकटोंमें हैं, असहाय हैं। उनका भविष्य अंधकारमें है। जो स्वयं अशरण हैं, असहाय हैं उनसे अच्छा कहलवाकर मैं क्या लाभ पाऊँगा, ऐसा मनसे सोचो। जो होता है उसके मात्र ज्ञाता-द्रष्टा रहिए। अपने आपके अंतरण में कुछ निहारिये। उस सामान्य ज्ञानप्रकाश का इस ज्ञानमें परिणमन होनेपर, अनुभव होनेपर मूलतः शत प्रतिशत संकट समाप्त हो जायेंगे। यह अनुभव करके देख लीजिए, किन्तु जब उस अनुभवसे चिपटते हैं तो वे सब संकट नये सिरेसे फिर अपना नाच दिखाने लगते हैं। जैसे कोई चिर परिचित पुरुष १०-१२ वर्ष तक न मिले और बादमें मिले तो कुछ अपरिचितपनासा रहता है। उतना दृढ़ सम्बन्ध नहीं हो पाता। इसलिए ही एक क्षणमात्रके ज्ञानानुभव को इन सब संकल्प विकल्पोंको अनगिनते वर्षों जैसा अपरिचित बना दिया है। इस कारण इस आत्मानुभवके बाद फिर ये संकट थोड़े थोड़े रूपमें नये सिरेसे आते हैं। वे भी खतम होनेके लिए हैं। इस आत्मज्ञानीकी ही ऐसी अलौकिक महिमा है।

उक्त गाथामें यह नियम किया गया था कि रागद्वेष और मोह भावोंके ही आस्रवपना है। अब यह दिखाते हैं कि ऐसे भी भाव होते हैं जो रागादिकसे युक्त न हों संकीर्ण न हों।

पक्के फलमिह पडिए जग ण फलं बज्झए पुणोविटे।

जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेइ ॥ १६८ ॥

पुनर्बन्धाभाव व एक दृष्टान्त—जैसे पका हुआ फल गिर जाय तो वह फल फिर डंठलमें नहीं लगता है, इसी प्रकार ज्ञानी जीवके कर्म उदयमें आ जायें तो वे खिरते ही हैं, वे फिर बंध नहीं करते हैं और न आगे उदयमें आ सकते हैं। पका हुआ फल जो पेड़से गिर जाता है, क्या वह फल फिर डंठलमें लग सकता है? नहीं। इसी प्रकार कर्मोंके उदय से उत्पन्न होने वाला जो भाव है, वह जीव भावोंसे एक बार अलग हो तो अलग होकर क्या वह जीव भावोंमें आता है? नहीं। ज्ञानी जीवके

जो कषाय भाव उत्पन्न होता है वह परम्पराको बढ़ानेके लिए नहीं होता, वह कषायभाव होता है और खिर जाता है।

ज्ञानीके रागादिकका विलगाव—रागादिक तो हुए, पर ज्ञानी जीवके कारण उपयोग में संकीर्ण नहीं हो सका अर्थात् उपयोगमें रागादिकको रचापचा न सका तो जब रागादिकसे रहित ज्ञानमात्र परिणति होती है तब यह जीव शिव आनन्दका पात्र होता है। जो भाव रागद्वेष मोहसे रहित है वह तो ज्ञानसे रचा हुआ भाव है, जो भाव ज्ञानसे रचा हुआ है वह समस्त द्रव्य कर्मोंके आस्रवको रोकता है। और इस प्रकार समस्त भावास्त्रवोंका अभाव हो जाता है। जैनसिद्धान्तके अनुसार सर्वसर्जन भावोंसे हुआ करता है। भ्रमसे यह जीव अपनेको संकटोंमें डालता है, बंधनमें डालता है। और परिणामोंसे ही यह जीव संकटोंसे मुक्त हो जाता है। यह आत्मा एक भावात्मक पदार्थ है। भाव ही इसका बंधन है, भाव ही इसकी मुक्ति है। जहाँ भेदविज्ञान और यथार्थ ज्ञानरूप परिणाम है वहाँ तो इसकी मुक्ति है और जहाँ स्व-परका भेद ज्ञात न हो वहाँ इसका बंधन है।

ज्ञानीके आस्रवभावका बन्धका अभाव—ज्ञानी जीवके आस्रव भाव नहीं होता; अर्थात् रागादिक भाव मेरे हैं ऐसी पकड़ ज्ञानीके नहीं होती। अपने विभावोंको अपना न माने तो वहाँ कर्मोंका आस्रव बंध नहीं होता। जो होता है उसकी गिनती नहीं की गई है। जैसे किसी पुरुषको १ लाखका कर्जा किसीको देना है और ६६ हजार ६६६ रुपये ६६०० पै० ऋण चुका दिया हो तो १ नये पैसेको कर्जा भी कहते हैं क्या? नहीं। स्वरूपसे तो कर्जा हैं, पर उसे कर्जा नहीं कहा। इस प्रकार भेदविज्ञान हो जानेपर अनन्त संसार तो कट गए। कुछ थोड़े भव शेष रह गए, तो इतने मात्र रह जानेको या छोटी स्थितिके कर्मबंधनको बंधमें शामिल नहीं किया। जो बंधकी परम्परा बढ़ाए उसे बंधन कहते हैं। यों ज्ञानी जीवके आस्रव नहीं होता।

अब कहते हैं कि ज्ञानी जीवके द्रव्यास्रवका ही अभाव है। आस्रव कहते हैं कर्मोंका आना। कर्म होते हैं दो प्रकारके। एक जीवके विकार परिणाम और कार्माण वर्गणावर्णादिक रूप बनना। विकार परिणामका नाम है भावकर्म और ज्ञानावर्णादिक कर्मों का नाम है द्रव्यकर्म। तो आस्रव भावकर्म तो ज्ञानी जीवके होता नहीं, क्योंकि वह तो अलिप्त रहता है। अपने आपमें उत्पन्न होने वाले रागादिक विकारोंको भी अपनेसे पृथक् ज्ञानी जीव समझता है। जैसे इस फर्शपर यह छाया पड़ रही है तो बतलावो यह छाया फर्श की निजी चीज है या फर्शपर यह छाया पड़ रही है तो बतलावो यह छाया फर्श की निजी चीज है या फर्शसे अलग चीज है? फर्शका चूँकि परिणामन है इसलिए फर्शकी चीज है, पर प्रकट समझमें यह भी आ रहा है कि फर्श पर छायासे अलग है। लो अभी जरासी देरमें सिर हिलाया तो वहाँकी छाया अलग हो गई; जैसे फर्शकी छाया फर्शसे भी न्यारी है इसी प्रकार आत्माके रागादिक विकार आत्मासे न्यारे हैं।

ज्ञानीका ज्ञानमय जागरण—अज्ञानी जीव ही रागादिक विकारोंसे ही निज शुद्ध आत्मतत्वका बोध नहीं कर सकता, किन्तु ज्ञानी सदा जागरूक है। स्वप्नमें भी अर्थात् किसी भी समय वह विह्वल

नहीं होता कि लो रागादिक हुए तो अब मुझे कोई शरण नहीं है। रागादिक हो रहे हैं, हों, किन्तु परमार्थ शरणभूत यह मैं परमात्मतत्व सबसे पृथक् हूँ। इस सावधानीके कारण जब ज्ञानीके भावास्त्रव नहीं होता तो भावास्त्रवका निमित्त पाकर ज्ञानावर्णादिक कर्म आते थे, सो भावाश्रये न होनेसे द्रव्यकर्मोंका आना भी रुक जाता है अर्थात् बद्धकर्म नवीन आस्त्रवरण नहीं करते। इस ही बातको इस गाथामें कह रहे हैं

**पुढ्वीपिण्डसमाणा पुव्वणिवद्धा हु पच्चया तस्स।
कम्मसरीरेण हु ते बद्धा सव्वेपि णाणिस्स ॥ १६९ ॥**

कर्मकी कार्माण शरीरसे बद्धता—ज्ञानी जीवके पूर्वकालमें बंधे हुए जो कर्म हैं वे यद्यपि आत्मामें अपनी सत्ता रखे रहते हैं तो भी वे पृथ्वी पिण्डके समान हैं, वे सबके सब कर्म कार्माणशरीरसे बंधे हैं, आत्मासे नहीं बंधे हैं। देखिए एक गायको आप बाँधते हैं तो किस प्रकार बाँधते हैं? एक हाथसे गायका गला पकड़कर रस्सीके एक छोरसे दूसरे छोरको बाँधते हैं। क्या गायके गलेको रस्सीसे बाँधें तो गाय मर जायगी। रस्सीका एक छोर दूसरे छोरमें ऐसा बाँधते हैं कि गायका गला बिल्कुल सुरक्षित रहता है। तो रस्सी से गाय नहीं बंधी है बल्कि रस्सीसे रस्सी बंधी है, किन्तु इस प्रकारकी रस्सीका निमित्त पाकर गाय बंधनको प्राप्त हो जाती है ऐसी ही बात इस अपने आत्माकी देखिए।

ज्ञानीके पृथ्वीपिण्डवत् कर्मोंका सत्त्व—यह आत्मा आकाशकी तरह अमूर्त समस्त परद्रव्योंके लेपसे रहित है। ये कर्म बंधते हैं तो कर्मोंसे कर्म बंधते हैं। चाहे अज्ञानी जीवके कर्म बन्धन हो, चाहे ज्ञानी जीवके कर्म बन्धन हो, कर्मोंसे ही कर्म बंधते हैं। पर उस बंधी हुई हालतमें अज्ञानी जीवने बंधको अपना लिया है, इसलिए अज्ञानीका बंध कहलाता है, और ज्ञानोंने उस बन्धन को नहीं अपनाया, ज्ञान भावको ही अपनाया है। अतः उस परिस्थितिमें भी ज्ञानी जीव मुक्त रहता है, अबद्ध रहता है। जितने भी अज्ञानसे पापकर्म बंध गये थे द्रव्यास्त्रवरूप कर्म अर्थात् पुद्गल कार्माणवर्गणावोंके कर्म जो मिथ्यात्व अविरति कषाय और योगके करनेमें निमित्तभूत हो सकते हैं, सो तत्तत् विषयक ये सब द्रव्यकर्म ज्ञानी जीवके द्रव्यांतरभूत हैं, अचेतन पुद्गलके परिणमन हैं। इस कारण पृथ्वीपिण्डके समान ही ये वहाँ पड़े हुए हैं। वे सभी कर्म स्वभावसे ही कार्माण शरीरसे सम्बद्ध होते हैं पर जीवके साथ बद्ध नहीं होते हैं। इस कारण ज्ञानी जीवके द्रव्यास्त्रवभावका अभाव स्वमेव ही स्वभाव सिद्ध है।

यह जीव ज्ञानबलसे भावास्त्रवसे दूर रहता है, ये धन कुटुम्ब तो मेरे हैं ही नहीं, यह तो मोटा भेदविज्ञान है, किन्तु आत्मामें ही उपाधि कर्मोंका निमित्त पाकर उत्पन्न होने वाली विभाव तरंगों भी मेरे नहीं हैं, ऐसा भेदविज्ञान ज्ञानी जीवके निरन्तर रहता है। तब भावास्त्रव कहाँ रहा? जैसे लोग कहते हैं कि तुमने हमें गाली दिया और हमने एक भी न लिया तो वह गाली कहाँ रही? इसी प्रकार इन द्रव्य कर्मोंके उदयमें रागादिक विकार आत्मापर आये, किन्तु ज्ञानीने ग्रहण नहीं किया तो रागादिक विकारोंके आनेका प्रयोजन क्या रहा? बस यही स्थिति भावास्त्रवके भेदकी कहलाती है।

ज्ञानीकी पिरास्त्रवता—जो जीव रागद्वेष भावोंको भी अपना नहीं मानता है वह द्रव्यास्त्रवोंसे तो स्वतः ही भिन्न हो जाता है। ज्ञानी जीव सदा ज्ञानमय एक भावरूप होता है। वह ज्ञानी निरास्रव है। ज्ञानीको निज सहज ज्ञानस्वरूपकी दृढ़ श्रद्धा बनी रहती है। मेरा तो यह मैं ही हूँ। इसके अतिरिक्त जितने भी विभाव हैं, रागादिक विकार हैं ये सब मैं कुछ नहीं हूँ। ऐसे परिणाम वाले ज्ञानी पुरुषोंको निरास्रव ही समझना चाहिए। अब यह पूछा जा रहा है कि ज्ञानी जीव निरास्रव कैसे होता है? तो उत्तरमें कहते हैं कि

**चहुविह अणेयभेयं बंधते णाणदंसणगुणेहिं ।
समये समये जम्हा तेण अबंधोत्ति णाणी हु ॥ १७० ॥**

ज्ञानीकी अबन्धकताका कारण—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार प्रकारके परिणाम ज्ञान दर्शन गुणके विचित्र परिस्थितियोंके कारण अनेक भेद वाले कर्मोंको बाँधते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुषके आस्रव भावकी भावना नहीं है इसलिए वह तो अबद्ध ही कहलाता है। जो अपने विकारको अपनाए सो संसारमें रुले। ज्ञानी जीव निरन्तर शुद्ध ज्ञानमात्र अपने स्वरूपका विश्वास रखता है। मेरे तो ये रागादिक भी नहीं हैं। शरीर तो मेरा क्या होगा? ये वैभव सम्पदा तो मेरे क्या होंगे? यह मैं शाश्वत ज्ञानमात्र आत्मतत्व हूँ। ज्ञानी जीवके आस्रव भावकी भावनाका अभिप्राय नहीं है, इस कारण वह निरास्रव ही है, निरास्रव है, तब अबन्धक तो स्वतःसिद्ध हो गया।

द्रव्यप्रत्ययमें विभावका सहयोग—ज्ञानीके भी जो द्रव्यप्रत्यय होता है, कर्मोंका उदय होता है और वह प्रतिसमय अनेक प्रकारके पुद्गल कर्मोंको बाँधता है तो वहाँ ज्ञानगुण का जघन्य परिणमन ही कारण है। ज्ञानी जीवके जो कर्म बंधते हैं वे उसकी रही सही कमजोरीके कारण बंधते हैं। वह प्रगत्या नहीं बाँधता। इसका तात्पर्य क्या है कि द्रव्यकर्म तो परतत्वमें आये जिन कर्मोंकी विनितियोंमें आप चर्चा करते हैं ये दुष्ट कर्म हैं, ये दुःख देते हैं या दुष्ट कर्म विनाशनाय धूपं। जिन कर्मोंके लिए आप कहा करते हैं वे कर्म जब आते हैं तो जीवके ज्ञान और दर्शन गुण रागादिक अज्ञानभाव रूपमें परिणम जाते हैं। उस समय रागादिक भावमें परिणमते हुए वे ज्ञान दर्शन गुण बंधके कारण होते हैं।

विभावकी मलीनताका विस्तार—वस्तुतः रागादिक अज्ञानभावसे परिणमा हुआ भी ज्ञानदर्शन गुणज्ञानदर्शन ही कहलाता है, इसकी जघन्यताका कारण तो विभावका सम्बन्ध है। सो ज्ञान दर्शन गुण जब अज्ञानरूप होते हैं तो वे नये कर्मोंको बाँधते हैं, किन्तु जो भेदविज्ञान है वह कर्मोंको नहीं बाँधता। ज्ञानदर्शन गुणका रंगीला कर देनेवाला जो प्रत्यय है वह (भाव) कर्म ही वास्तवमें (भाव) कर्मका बन्धन है। ज्ञानी जीव तो निरास्रव है। विष की जड़ है मोह भाव।

विभावका मालिन्य—घरमें रहने वाले दो चार व्यक्ति जो आपके प्रभुतुल्य बने रहें अर्थात् सब कुछ ये ही हैं। जो तन, मन, धन वचन जो कुछ न्यौछावर करना है वह सब इनके ही लिए है। और उन जीवोंको छोड़कर बाकी जगत् के मनुष्यादिक जो जीव हैं इन सबके प्रति कृपाभाव नहीं

होता। उनको भली दृष्टिसे नहीं देख सकते। कुटुम्बके लोग चाहे कैसे ही अपराधी हों, चाहें कैसे ही अज्ञानी हों उनको अपना सर्वस्व समझते हैं और उनको छोड़कर बाकी जीवोंका कुछ मूल्य भी नहीं किया जा सकता हो तो इसे कितना बड़ा व्यामोह कहेंगे? जहाँ ऐसा तीव्र व्यामोह है वहाँ इस जीवको सत्य नजर नहीं आता। ऐसी हालत में हो क्या रहा है मोहियोंको कि ज्ञानबल कमजोर है। जब ज्ञानका जघन्न परिणमन हो रहा है तो वह बंध करेगा ही।

स्वयंकी परिणति ही स्वयंका प्रभाव—जैसे कोई छोटा देहाती पुरुष किसी बड़े हाकिमके पास जाता है, किसी कारणसे जाना पड़ता है तो वह भयभीत शंकित रहता है, उस पर जो इतना प्रभाव पड़ा, भय आ गया, शंका आ गई इस प्रभावका कारण कौन है? क्या जजने प्रभाव डाल दिया? नहीं। वह देहाती स्वयं कमजोर प्रकृतिका था, ज्ञान उसका विशिष्ट न था, पहुँच उसकी ऊपर तक न थी, इस कारण वह स्वयं ही कल्पना करके अपने आपमें अपना असर पैदा कर लेता है और भयभीत तथा शंकित रहता है। ये जगत्के सभी जीव जो नाना प्रकारके संकटोंमें फंसे हुए हैं, आनन्दसे बहिर्भूत हैं, इनको सताने वाला कोई दूसरा है क्या? नहीं। यह जीव स्वयं ऐसे अशुद्ध उपादान वाला है कि अपनी योग्यता के अनुकूल अपने आपमें कल्पनाएं बनाकर दुःखी हुआ करता है। इसको बेचैन करने वाला जगतमें कोई दूसरा नहीं है। ज्ञानी जीव इस सब राजको जानता है, इस कारण उसे निराश्रय ही कहा है।

ज्ञानी और अज्ञानीकी दृष्टिकी पद्धतिपर एक दृष्टान्त—कुत्ता और शेर दो जानवर होते हैं। इन दोनोंको ही देखो कुत्ता कितना उपकारी जीव है कि आपकी दो रोटी के टुकड़ोंमें ही रात दिन आपकी रखवाली करता है। यदि आपपर कोई आक्रमण करता तो उसका वह कुत्ता मुकाबला करता। आपके पास बड़े विनयसे पूँछ हिलाकर बैठता, वह आपकी रक्षा करता है। और सिंहको देखो यदि उसकी शकल भी दिख जाय तो जान सूख जायगी अजायब घरमें शेरको देखने जाते हैं तो वह लोहेके सिकंजोंसे बंद है तो भी पास जाते हुए डर लगता है। और अकल्पित कल्पनाएं हो जाती हैं कि यदि इस लोहेका सिकंजा तोड़कर निकल आवे तो हमारी खैर नहीं है। सिंह इतना अनुपकारी जानवर है।

इनकी उपमामें लोगोंकी दृष्टि—किन्तु यदि कोई मनुष्य, सेठ जी की या किसी मिनिस्टरकी प्रशंसा करने कोई लग जाय भरी सभामें कि यह बड़े उपकारी हैं, सबके काम आते हैं, इनके गुणोंका क्या वर्णन करना है? ये तो कुत्तेके समान हैं; अर्थात् जैसे कुत्ता उपकारी होता है, विनयशील होता है, स्वामिभक्त होता है इसी तरह ये मिनिस्टर साहब भी या सेठ जी भी देशभक्त हैं, प्रजाके उपकारी हैं। उनकी प्रशंसा कोई करने लगे तो सुनने वाले और मिनिस्टर भी क्या खुश होंगे? नहीं और ऐसा कह दिया जाय कि यह तो शेरके समान है तो वह खुश हो जायगा और कहा गया इसमें यह कि जैसे शेर हिंसक होता है, खूंखार होता है, दूसरोंका विनाशक होता है इसी प्रकार यह भी है, पर सिंहकी उपमाको सुनकर तो वह खुश होता है और कुत्तेकी जैसी बड़ी अच्छी बात सुनकर दुःखी जो जाता है। इसका कारण क्या है? इसका मूल कारण है ज्ञान और अज्ञानकी पद्धतिकी बात।

कुत्ता और सिंहमें बाह्यमें बाह्य व अन्तरकी दृष्टि—जैसे कुत्तेको कोई लाठी मारे तो उसे यह पता नहीं कि मुझे मारने वाला मनुष्य है, वह तो लाठीको ही मुँहसे चबाता है। इस लाठीने मुझे हैरान किया, मैं इसे तोड़कर रहूँगा, साक्षात् मारनेवाला जो पुरुष है यह मेरा बाधक है ऐसी दृष्टि कुत्ते के नहीं जगती, किन्तु जो लाठी निमित्त है उसपर ही दृष्टि लगाता है कि इस लाठी ने ही मुझे दुःख दिया। वह लाठीको चबाता है, किन्तु सिंहको कोई पुरुष लाठी मारे, तलवार मारे तो सिंहकी ऐसी विशद दृष्टि है कि यह लाठी या तलवारको तो देखता ही नहीं, वह मारनेवाले पुरुषपर ही सीधा प्रहार करता है। ज्ञानी और अज्ञानी जीवमें ऐसा ही अन्तर है।

ज्ञानी और अज्ञानी जीवमें अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दृष्टि—ज्ञानी जीव तो सिंहके मानिन्द अपने बाधक तत्वमें दृष्टि न डालकर सीधे रागादिक विकारभावोंको बाधक समझता है। यद्यपि रागादिक विकारोंके निमित्त कर्मका उदय है, लेकिन वह उदय मुझसे अत्यन्त भिन्न है। उनका कोई गुण या परिणमन या असर इस मुझ आत्मामें नहीं होता। ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक मेल है कि कर्मोंका उदय हो तो उसे निमित्तमात्र करके यह अशुद्ध परिणम सकने वाला जीव स्वयंकी परिणतिसे रागादिक रूप परिणम जाता है। ज्ञानी जीवकी यह दृष्टि है कि उसकी आत्माका बाधक भ्रम रागद्वेषादि हैं, किन्तु अज्ञानी जीवको यह पता नहीं है। कुछ सुन रखा है सो कर्मोंको गाली देता है। ये ८ दुष्ट कर्म मेरेको सता रहे हैं। प्रभो! इन दुष्ट कर्मोंको निकाल दो अथवा जिन्होंने ८ कर्मोंकी चर्चा नहीं सुनी है। वे इन चेतन अचेतन पदार्थोंमें अपना बाधक साधक मानकर इनके ही निग्रह और अनुग्रहमें ही लगे रहते हैं।

भेदविज्ञानकी विशेषतासे ज्ञानी जीवकी निरास्रवता—बस इस विशेषताके कारण ज्ञानी जीव निरास्रव है और अज्ञानी जीव सास्रव है। दृष्टान्तमें इतने ऐबके कारण कुत्तेकी उपमा कोई नहीं सुनना चाहता है, यद्यपि उसमें गुण अनेक हैं तथा सिंहकी उपमा सब सुनना चाहते हैं, यद्यपि उसमें अवगुण अनेक हैं। यों भेदविज्ञानके प्रतापसे यह ज्ञानी जीव रागादिक विकार भावोंको नहीं अपनाता है और संसारसाधक कर्मोंका आस्रव नहीं करता।

आत्माका गुण है ज्ञान। यह ज्ञानगुण जब समर्थ विकासमें होता है तब इस जीवके बंध नहीं होता, किन्तु जब ज्ञानगुण जघन्य अवस्थामें होता है तो वह ज्ञानगुणका विभिन्न, विचित्र परिणमन होता है और ज्ञानगुणका परिवर्तन ही कर्मबंधका कारण है। इस पर यह प्रश्न हुआ कि ज्ञानगुणका परिणमन परिवर्तन बंधका कारण कैसे है? इसके उत्तरमें कहते हैं

जम्हा हु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि।

अण्णत्तं णाणगुणो तेण हु सो बंधगो भण्णदो ॥ १७१ ॥

कर्मबन्धका कारण ज्ञानगुणका जघन्य परिणमन—चूँकि ज्ञानगुणका जघन्यगुण रूप, अन्य रूप परिणमन है, इस कारण यह ज्ञानगुण कर्मबंधका करने वाला कहा गया है। हम आप देखते हैं कि अपन लोगोंका ज्ञान व्यवस्थित और स्थिर नहीं रहता है, कभी किसी विषयमें ज्ञान किया,

कभी किसी विषयमें ज्ञान किया, कभी किसी विषयमें गये, यों चित्तवृत्ति का परिणमन होता रहता है। इस परिवर्तनका मूल निमित्त है रागद्वेष भाव। रागद्वेष भाव का मूल कारण है मोहभाव। जहाँ मोह रागद्वेष रहता है वहाँ ज्ञानगुण अस्थिर रहता है। ज्ञानका परिवर्तन चलता रहता है उसे कहते हैं जघन्य ज्ञानगुण, असमर्थ ज्ञानपरिणमन। जब तक ज्ञानगुणका जघन्य भाव रहता है तब तक चह चूँकि अन्तर्मुहूर्तमें विपरिणत हो रहा है, अभी किसी विषयको जाना, उसे छोड़कर फिर अन्य विषयको जाना, उसे छोड़कर अन्य विषयको जाना। अन्य, अन्य समयोंमें विभिन्न परिणमन हो रहा है, इस कारण कर्मबन्ध हो रहा है।

ज्ञानगुणके जघन्य परिणमनका कारण—जघन्यगुणमें अन्य-अन्य रूपसे उसका परिणमन हुआ और यह परिणमन यथाख्यात चारित्र अवस्थासे पहिले अर्थात् जब तक कषायका उदय चल रहा है तब तक अवश्यंभावी रहा, वहाँ रागद्वेष रहा करते हैं। इस कारण यह विभाव ज्ञानी जीवका जघन्य परिणमन कारण है। जैसे किसी भले लड़केके साथ खोटा लड़का लगा है और भले लड़केने किसी प्रकारकी गलती की है तो समझदार आदमी उस भले लड़केको डांटता है कि यह क्यों किया? अरे सारे मूल ऐबका कारण तो वह दुष्ट लड़का है पर भले आदमीकी डांट पहिले होती है। नाम धरेगा तो भले आदमीका पहिले धरेगा, इसी तरह देखो इस आत्मामें ज्ञानगुण भी चल रहा है और रागद्वेष विकार परिणमन भी चल रहा है। सो रागद्वेष विकार हैं, अपराध तो उनका है पर यहाँ आचार्यदेव चूँकि रागद्वेष अपराधके संगसे ज्ञानगुणका जघन्य परिणमन हो गया, अल्पविकास हो गया, स्थिर हो गया, भागता फिरता है यह ज्ञान, विचार इस कारण आचार्यदेव ज्ञानगुणको बंधन का कारण बतला रहे हैं। परमार्थ से देखा जाये तो ज्ञान बंधका कारण नहीं होता।

बन्धनका अनुपचरित निमित्त—बंधनका कारण है रागद्वेष भाव। पर इस प्रकरण में ज्ञानगुणके जघन्य परिणमनपर ही एक लतार चल रही है, जो कि जघन्य रूपसे परिणमन रही है। इन समस्त कर्मोंके बंधका कारण ज्ञानगुणका जघन्य परिणमन है। यथाख्यात चारित्र होता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें। जब साधु महात्मावोंके कषाय सब शांत हो जाते हैं तब कर्मों का आस्रव रुकता है। यथाख्यात चारित्रावस्थासे पहिले यह जघन्य परिणमन है, कषाय सहित है, अन्तर्मुहूर्तमें अन्य अन्य ध्यानरूपसे विपरिणत होता रहता है। यों कल्पनाकी जाय कि साधु पुरुष ज्ञान और वैराग्यके शुद्ध विकासके कारण निर्विकल्प समतापरिणाममें लगता है लेकिन अभी उसकी कषाय मूलमें शांत नहीं हुई है तो मिनट आध मिनटमें निर्विकल्प समतापरिणामें ठहर गया, किन्तु पुनः अन्तरसे रागद्वेषकी तरंग उठती है जिसके कारण यह ज्ञान और चारित्र अस्थिर हो जाते हैं। इस अस्थिरतामें यत्र तत्र उपयोग धूम रहा है। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसी अस्थिरता, ऐसे उपयोगको देखिये यह मिथ्यात्व का कारण है। सो कषाय भावके कारण यह ज्ञानगुण बंधक कहा गया है अथवा जघन्यगुण हुआ मिथ्यात्व। मिथ्यात्वमें ज्ञानगुणसे बंध हुआ करता है। यदि समय आ

जाय, उपदेश लग जाय, विचार स्वच्छ हो जाय, परवस्तुओंसे ममता हट जाय तो यह ज्ञानगुण मिथ्यापर्यायको छोड़कर सम्यक्पर्यायरूप परिणमन करता है।

ज्ञानके जघन्यपरिणमनको बन्धहेतु कहनेका समर्थन—मोक्षके विषयमें कहते हैं ना कि सग्यज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी एकता ही मोक्षका मार्ग है। वह सम्यग्दर्शन क्या है? ज्ञानका जीवादिकके श्रद्धान स्वभावसे होनेका नाम सम्यग्दर्शन है और जीवादि तत्वोंके जाननस्वभावसे ज्ञानके होने का नाम सम्यग्ज्ञान है और जैसा आत्मतत्त्व है, वीतराग, रागद्वेषरहित उस प्रकार रागद्वेषरहित स्वभावरूपसे ज्ञानके होनेका नाम सम्यक्चारित्रहै। इस स्थितिमें जब ज्ञानको मोक्षका कारण कहा तो क्या कर्मोंके बंधका कारण नहीं कह सकते। ज्ञानका शुद्ध विकास मोक्षका कारण है तो ज्ञानका अशुद्ध परिणमन बंध का कारण है। यह ज्ञान जब अन्य पदार्थोंको 'यह मेरा है, इससे मेरा हित है, इस रूप में हूँ' इन विकल्पोंके रूपसे परिणमता है तब वह ज्ञान बंधन कराता है, जीवको परतंत्र करता है। और जब यही ज्ञान वस्तुमें यथार्थस्वरूपको जानकर जब सही-सही जाननहार रहता है तब कर्म बंध रुक जाता है।

भ्रमके दूर होनेपर संकटकी समाप्तिपर एक दृष्टान्त—जैसे सामने रस्सी पड़ी है, दूरसे देखनेमें साँप जैसी लगे तो वह घरवाला पुरुष घबड़ाता है, कभी किसीको काट न खाये, किसी की मृत्यु न हो जाय, वह चिंतित है, बेचैन है। लोगोंको पुकारता है, लोगोंके आनेका अवसर न था। तब वह हिम्मत बाँधकर देखने चलता है कि आखिर देखें तो सही कि कैसा साँप है, विषैला है या साधारण है। तो जब हिम्मत बाँधकर आगे बढ़ा तो सोचा कि यह तो साँपसा नहीं मालूम होता है। यह तो जरा भी हिलता-डुलता नहीं है। जब और निकट गया तो देखा कि अरे यह तो साँप नहीं मालूम होता। जब बिल्कुल निकट गया तो देखा अरे यह तो कोरी रस्सी है, साँप नहीं है। जब ऐसा ज्ञान हुआ कि यह तो कोरी रस्सी है, इस ज्ञानके आतेही आप बतलावो कि सारे संकट, सारी बेचैनी मिट गई कि नहीं? मिट गई। जब तक उसे भ्रम था तब तक कितनी आकुलताएँ थीं, जब उसका भ्रम दूर हो गया तो सारी आकुलताएँ समाप्त हो गईं।

भ्रमके दूर होनेपर आकुलतावोंकी समाप्ति—इसी प्रकार यहाँ कितनी आकुलताएँ लगी हैं। न जाने कैसा कानून बनेगा, व्यापार, रोजगार, आजीविका, ठीक ठिकाने रह सकेगी या नहीं। घरके लोग स्वस्थ रह पा रहेंगे या नहीं अथवा इज्जत पोजीशनमें कहीं बट्टा न लग जाय, कितने ही प्रकारके यहाँ संकट और आकुलताएँ मचा रखी हैं। उन संकटोंका मूल कारण है परवस्तुवोंमें आत्मीय बुद्धि करना, परवस्तुवोंसे ही मेरा हित है, वे ही शरण हैं, मेरी जान इन परपदार्थोंके आधीन है ऐसी जो मिथ्याबुद्धि बनी है इस मिथ्याबुद्धिके कारण सैकड़ों आकुलताएँ उत्पन्न हो गईं। जरा हिम्मत तो बाँधें, परवस्तुवोंके निमित्तसे बहुत-बहुत दुःखी हो जानेपर अब साहस तो बनाएँ, आखिर ये समस्त पदार्थ मेरे अनुकूल नहीं रहते। जैसा मैं चाहता हूँ तैसे ये परिणमते ही नहीं, प्रतिकूल परिणमा करते हैं, आखिर मामला क्या है? मेरा इन परपदार्थोंके साथ रंच भी सम्बन्ध नहीं है। मेरा

उनपर रंच भी अधिकार नहीं है, सोचा, स्वरूप निरखा, मालूम पड़ा कि अहो ये तो समस्त वस्तुयें पूर्ण स्वतंत्र हैं। जगतके सब जीव अपने आपमें परिपूर्णता लिए हैं, स्वतंत्र हैं। किसी भी द्रव्यका किसी भी दूसरे द्रव्यमें प्रवेश नहीं। न कोई शक्ति जाती है, न परिणमन जता है, न असर होता है। ये ही पदार्थ अनुकूल निमित्त पाकर स्वयं अपने आप अपनेमें असर उत्पन्न कर लेते हैं। ऐसा ही समस्त पदार्थोंका परिणमन चल रहा है। जहाँ यह यथार्थ अवगम हुआ वहाँ सारी आकुलताएँ समाप्त हो जाती हैं।

इस वर्णनके बाद यह शंका होना स्वाभाविक है कि यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि १०वें गुणस्थान तक यह जीव बंधक है और पहिले यह कहा था कि सम्यग्दृष्टि जीव विरास्रव है। सम्यग्दृष्टि जीव होता है चौथे गुणस्थानसे। वहाँ चौथे गुणस्थानसे ही कर्मोंका आस्रव और बंधका निषेध किया था और अब यहाँ यह कह रहे हैं कि आस्रव और बंध १०वें गुणस्थान तक होते हैं: तो पहिली बात कैसे सही है? इसका उत्तर इस गाथामें देते हैं

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ।

णाणी तेण दु वज्झदि पुगलकम्मेण विविहेण ॥ १७२ ॥

दर्शन, ज्ञान और चारित्र चूँकि जघन्य भावसे परिणते हैं इस कारण ज्ञानी नाना प्रकारके पुद्गलकर्मोंसे बंध जाता है। किन्तु यहाँ भी ज्ञानगुणके स्वरूप और स्वभावको परखो। जो ज्ञानी जीव है वह बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष मोहभाव नहीं करता। इसलिए वह निरास्रव ही है। श्रद्धाकी बात देखो।

प्रवृत्तिमें भी शुद्ध श्रद्धा रह सकनेका एक दृष्टान्त—एक रईस रोगी जिसके यह ज्ञान है कि यह रोग मेरे है और इस रोगसे मुक्त रहनेकी स्थिति आत्माकी निःसंकट अवस्था है, वह रईस रोगका उपचार कर रहा है, दवाई सेवन कर रहा है, फिर भी उसे दवाईमें राग नहीं है कि मैं इस औषधिको जिन्दगी भर पीता रहूँ और दिनमें तीन चार बार औषधि पीऊँ। वह तो यह चाहता है कि कब यह औषधि मुझसे छूटे और कब मैं दो चार मील रोज चल जाया करूँ। उसे रोग अवस्थामें होने वाले आरामसे प्रेम नहीं है।

प्रवृत्तिमें भी ज्ञानीकी शुद्ध श्रद्धाके कारण बन्धभावका अभाव—इसी तरह इस ज्ञानी जीवके पूर्वकृत कर्मोंके उदयसे पूर्वोदयसे वैभव सम्पदा प्राप्त हुई है तो उसे उस आरामसे प्रेम नहीं है। वह वैभव सम्पदाके आरामसे, परिवारके सद्व्यवहारसे प्रेम नहीं करता। वह आराम तो अपने आपके शुद्ध ज्ञानस्वभावमें स्थित होनेसे ही मानता है। ज्ञानी जीवके बुद्धिपूर्वक रागद्वेष रहित होनेसे आस्रव नहीं है। रुचिपूर्वक अर्थात् इन्द्रिय और मनके व्यापार बिना केवल कषायके उदयके निमित्तसे जो परिणाम होते हैं। रुचिपूर्वक अर्थात् इन्द्रिय और मनके व्यापार बिना केवल कषायके उदयके निमित्तसे जो परिणाम होते हैं वे बुद्धिपूर्वक नहीं कहे जाते। तो जानकारी सहित अपने आपका उपयोग लेकर रुचिपूर्वक रागद्वेष मोहभाव नहीं है।

दृष्टान्तपूर्वक प्रवृत्तिमें निवृत्तिके आशयकी सिद्धि—जैसे किसी भाई या बहिनको छोटे को उसे छोटा बच्चा सौंप दिया जाय कि तू इसे खिला। तो वह भाई बहिनको खिलाता है, गोदमें लेता है, पर उसे लेनेमें अड़चन पड़ रही है कि। ८ वर्षके भैया को ४ वर्ष की बहिन खिलानेको दे दिया तो अब वह कैसे टांगे फिरे? कभी पेटपर रखता, कभी कंधेपर रखता, मगर उसके चित्तमें है कि क्या झंझट लग गया है? अगर न खिलायेंगे तो माँ डंडे मारेगी। सो माँके डंडे पड़नेके डरसे उसे जबरदस्ती खिलाना पड़ रहा है। इसी प्रकार कर्मोंके डंडोंके डरके मारे यह ज्ञानी जीव रागमें रह रहा है घर गृहस्थी में, पर उसे इस वैभव और गृहस्थीमें रुचि नहीं है। उसकी रुचि शुद्ध आत्मतत्वकी ओर है। जिसकी रुचि शुद्ध आत्मतत्वकी ओर है उसकी प्रवृत्ति कर्मोदयवश बाह्य पदार्थोंका आलम्बन करके चल रही है तो भी उसे निरास्रव कहा गया है।

जघन्य परिणमनका असर—यह तो अपने परिणामोंकी बात है। ऐसा ज्ञानी भी जब तक ज्ञानको सर्वोत्कृष्ट भावसे देखनेके लिए, जाननेके लिए और आचरित करनेके लिए आसक्त रहता है तब तक वह अपने ज्ञानको जघन्य भावरूपसे ही देखता है; अर्थात् अस्थिर प्रवृत्तिसे यह ज्ञान परिणमता रहता है। जघन्य भावसे ही देखता है, जघन्य भावको ही जानता है, और जघन्यभावका ही आश्रय करता है। जब तक ऐसी परिस्थिति है तब तक चूँकि जघन्य भाव अन्यथा हो नहीं सकते थे, इस कारण अनुमानमें आये हुए आस्रव बंध पूर्वक जो कर्मकलंक हैं उनका उदय चल रहा है, इस उदयके निमित्तसे पुद्गल कर्मका बंध होता है।

विभावरूप अपराधकी सङ्गवालोंपर लाद—देखो जब किसी गोष्ठीमें कोई मामला बिगाड़ जाता है तो कोई किसीपर अपराध ठोकता है, कोई किसीपर अपराध ठोकता है। जो बड़ा भला भी है, अच्छा भी है उसकी भी गलती बताते हैं। तुम इसमें चूक कर गए थे, नहीं तो मामला न बिगाड़ता, तुमने सब मामला बिगाड़ दिया। कभी कर्मोंपर दोष ठोका, कभी पुद्गलपर दोष ठोका, कभी रागद्वेषोंपर दोष ठोका, कभी जीवके अज्ञानभावपर दोष ठोका, क्यों ये दोष ठोके जा रहे हैं? तुमने ज्ञानका जघन्य परिणमन किया इसलिए दोष हो गया। सो इस सज्जन ज्ञानी पुरुषपर भी दोष लगाया जा रहा है। तुम चूँकि ऐसे बैठे हो, ऐसे परिणम रहे हो इस कारण कर्मोंका बंध हो रहा है। पर दोष किसपर ठोको? दोष तो असली है विभाव कर्म कलंकका, आत्माके रागद्वेष मोहभावका। उसके कारण पुद्गल कर्मों का बंध होता है।

ज्ञानके आलम्बनका उपदेश—अतः हे मुमुक्षुजनो! तब तक ज्ञानको देखना चाहिए, तब तक ज्ञानको जानना चाहिए, तब तक ज्ञानका आचरण करना चाहिए जब तक ज्ञानका पूर्णभाव न देख लिया जाय, जान न लिया जाय, आचरण न कर लिया जाय तब तक ज्ञान को ही देखते जावो। अन्य पदार्थोंकी नजर मत करो, केवल निज ज्ञानस्वरूपको ही देखो, जानो और ऐसे ही देखने वाले बने रहो। इस प्रक्रियासे जब केवल ज्ञानीभूत हो जायगा, केवल जाननहार ज्ञाता-द्रष्टा बन जायगा तब यह जीव सर्वथा निरास्रव है।

अरहंत सिद्धके कर्मबन्धका अभाव—देखो आस्रव और बंध नहीं होता। किसके नहीं होता? सिद्ध भगवानके नहीं होता। इस बातको बड़ी जल्दी मान जावोगे या नहीं कि सिद्धप्रभु के कर्मबंध नहीं होता। और अरहंत भगवानके भी कर्मबंध नहीं होता। मान जायेंगे, जरा भी शंका न करेंगे, क्योंकि वह साक्षात् ज्ञानीभूत है। वहाँ ज्ञानप्रकाशके अलावा और कुछ ऐब हैं ही नहीं। रागद्वेषादिक तक रंचमात्र नहीं हैं।

वीतराग छद्मस्थके कर्मबन्धका अभाव—अच्छा उससे और नीचे चलो ११वें, १२वें गुणस्थानमें जहाँ कि कषाय तो नहीं है पर ज्ञप्ति परिवर्तन है। वहाँ भी जीव निरास्रव है, यह भी बात मान जा सकते हैं, क्योंकि कषाय नहीं है।

अप्रमत्त साम्परायवर्तियोंके बन्धका अभाव—७वें गुणस्थानसे लेकर १०वें गुणस्थान तक भी यह जीव निरास्रव है। यह बात जरा देरसे मानी जा सकेगी, क्योंकि इस गुणस्थानमें उदय है, कषाय चल रहा है तब वहाँ दृष्टि लगानी पड़ेगी कि ओह बुद्धिपूर्वक रागद्वेष भाव नहीं है। उनका जो रागद्वेष होता है वह विषयों बिना हो रहा है। उनको भी यह पता नहीं रहता है कि मेरेमें रागद्वेष आ भी रहे हैं। वे समाधिमें स्थित हैं, रागादिकसे रहित हैं उन साधुओं को स्वयं का कुछ पता नहीं है ऐसी स्थितिमें वे जीव निरास्रव हैं। जो आस्रव होता है उसकी कुछ गिनती नहीं है।

प्रमत्त ब्रतियोंके बन्धका अभाव—अब कुछ और नीचे चलकर देखो तो ५वें, छठवें गुणस्थानमें भी जीव निरास्रव है। यह जीव मोक्षमार्गमें चल बैठा, अणुब्रत और महाब्रत रूप इसका परिणमन बनने लगेगा तो यह मोक्षमार्गी है, किन्तु प्रमाद तो बना हुआ है। जानकर कषाय भी करते हैं। श्रावक लोग या साधु लोगके क्या कभी कषाय नहीं होती? होती है। परके उपकारके लिए क्रोध, मान, माया, लोभ भी कुछ अंशोंमें आता रहता है तिस पर भी उन्हें निरास्रव कहा है। इसका कारण यह है कि जो कषाय उनके जगती है उन कषायोंसे भी हटते हुए रहते हैं। कषाय शांत करते हैं, विश्राम करते हैं, इस कारण इन गुणस्थान वालोंको भी निरास्रव कहा है। याने इनके कर्म नहीं आते।

असंयत सम्यग्दृष्टिके बन्धका अभाव—अब देखिये चतुर्थ गुणस्थान वाले जीव जिसके ब्रत नहीं है उसे भी निरास्रव कहा है। तो अनन्तानुबंधी आदि संसारके बढ़ाने वाली प्रकृतिका निरास्रव नहीं है और उनके भी कर्मोंका ग्रहण करनेमें रुचि नहीं है इस कारण उसे निरास्रव कहा है। अब इस प्रकरणमें यह समझ लीजिए कि हमको कैसा उपयोग बनाना उचित है जिससे वर्तमानके भी और भविष्यके भी संकट टलें। यों ही अपने आत्मा को ज्ञानस्वरूप निरखो और दृढ़ संकल्प बनाओ कि मैं तो मात्र इस ज्ञानरूप ही हूँ, धन वैभव चेतन अचेतन पदार्थ मेरे स्वरूप नहीं।

शरीरका आत्माको मुँहफट जवाब—भैया! यह मेरा शरीर भी मेरा शरण नहीं होता। इसको कितना पोसा, न्याय, अन्याय न गिना, भक्ष्य अभक्ष्य न गिना, दिन रात कुछ न देखा और इस शरीरके पोषणमें कितना उपयोग लगाया, जो मिला सो खाया, जब मिला तब खाया जहाँ मिला तहाँ

खाया, ऐसा इस शरीरसे प्रेम किया हम आप लोगोंने, जरा मरते समय इस शरीरसे कहो तो कि ऐ शरीर! तुम्हारे पोषणके लिए मैंने बहुत श्रम किया, अब हम मरते हैं, ये परिवारके लोग कोई साथ नहीं जाना चाहते हैं। अब तुम तो हमारे संग चलो। सबने मना कर दिया है। पर हे शरीर! तेरेसे तो मैं बहुत मिला-जुला हूँ, तेरे लिए तो मैंने सारे संकट सहे हैं तू तो मेरे साथ चलेगा ना? तो शरीर से उत्तर मिलता है कि अरे तू बावला बन गया है, क्या मैं किसीके साथ जाता हूँ? मैं तो तीर्थकरके भी साथ नहीं गया। तुम मुझे मानो तो तुम्हारे नहीं, न मानो तो तुम्हारे नहीं, हम तो जड़ हैं, रूप, रस, गंध, स्पर्शके पिण्ड हैं। अपने आपके गुणोंसे परिणमते रहते हैं, हमारा तुम्हारा क्या सम्बन्ध?

हितकी शीघ्रता आवश्यक—अब जब कुछ वैराग्य जगता है मनुष्यके तो तब यह समझमें आता है कि अब मैं रोगमें या संकटोंमें बुरी तरह फंस गया हूँ, अब तो मेरी मृत्यु सुनिश्चित है। हम जा रहे हैं, देखो मैंने ऐसा दुर्लभ मनुष्यजीवन पाया है और इसे यों ही विषयोंमें गवां डाला, तब कुछ ख्याल आता है कि ओह मरते समय मैं कुछ धर्म न कर सका। जो पछतावा तब होगा वैसा पछतावा अब इस जीवनमें हो जाय और मोक्षस्वरूप आत्मस्वभावकी दृष्टिमें लगें तो हम और आपका कल्याण सुनिश्चित है। किसी भैयाको कहते हैं कि अब मेरा भैया तो २० वर्षका हो गया है, अर्थ उसका यह है कि मेरा भैया २० वर्षका मर चुका है। जो २० वर्ष व्यतीत हुए वे क्षण अब तो नहीं आयेंगे। मानो ५० वर्ष रहे थे तो उसमें २० वर्ष कम हो गए हैं। ऐसे ही हमारा आपका प्रतिक्षण मरण हो रहा है।

आवीचिमरण और अपना कर्तव्य—प्रतिक्षण मरण होनेका नाम हे आविचिमरण। जैसे समुद्रमें लहरें चली जाती हैं। इसी प्रकार इस जीवन की क्षण गुजरती चली जा रही है। जो क्षण गुजर गई वे पुनः वापिस न आयेंगी। इन क्षणोंमें यदि सम्यग्दर्शन उत्पन्न किया जा सकता है तो समझ लीजिए कि इस अनन्त कालमें जो अपूर्व काम नहीं किया वह अपूर्व काम अब किया जा रहा है।

नया दिन—जिस क्षण सम्यक्त्व हो वही आपका नया दिन है। मिथ्यात्वसे पगे थे तो इतने अनन्तकाल व्यतीत हो गए वे कोई अपूर्व दिन नहीं है। इस जीवनको तभीसे जीवन समझो जबसे रागद्वेषकी तरंगोंसे रहित निज शुद्ध आत्मतत्वका श्रद्धान हो। यह मैं तो जगतके समस्त परवस्तुवोंसे निराला ज्ञान ज्योतिमात्र हूँ, ऐसे अपने भीतरी स्वरूपका यदि अनुभव हो तो समझो कि मैंने नया जन्म पाया।

ज्ञानमयवृत्ति ही यथार्थ जीवन—किसीसे पूछा जाय कि आपकी आयु कितनी है? तो आप बतायेंगे कि मानो ४० वर्ष है। हम तो आपकी आयु पूछ रहे हैं, हमें इस शरीर से क्या मतलब? यह शरीर तो जड़ है, हम उस शरीर की बात नहीं पूछ रहे हैं। तो मेरी आयु, मैं अनन्त कालका बूढ़ा हूँ, मैं किस समयसे हुआ हूँ क्या कोई बता सकता है? जो सत् है वह अनादिसे सत् है। मैं अनन्तकालका बूढ़ा हूँ और परमार्थ से पूछो तो जबसे मेरे आत्मस्वभावकी श्रद्धा जगी है तबसे मेरी

उमर शुरू हुई है। इससे पहिले तो मैं था भी नहीं। अपना जीवन तबसे मानो जबसे इस निज आत्मत्वका श्रद्धान हुआ हो अपने आपका सही पता पड़े, फिर संसारमें संकट नहीं रहते हैं। प्रभुकी हम इसी नातेसे पूजा करते हैं, नहीं तो ऐसा कौनसा दबाव है कि भगवान पूज्य बने रहें और हम पूजा करें। बस आत्माकी निर्मलता ही आनन्दकी निधि है। अतः अत्यन्त गम्भीर काम बनाकर अपने आत्माको निर्मल करना चाहिए।

बुद्धिपूर्वक रागादिकका अभाव होनेसे निरास्रवता—ज्ञानी जीव निरास्रव होता है इसका यह वर्णन चल रहा है। निरास्रवता अर्थ पूर्णतया निरास्रव नहीं लेना चाहिए, किन्तु संसार परम्परा बढ़ाने वाले कर्मोंका आस्रव नहीं होता। एक तो होता है साक्षात् ज्ञानीभूत, वह तो है मोहरहित और परमात्मा अरहंत सिद्ध, जो कि साक्षात् ज्ञानीभूत है वह तो सर्वथा निरास्रव ही है, किन्तु जिसने अपने आपकी भूमिकामें अपने आपमें उत्पन्न हुए रागादिक भावोंसे अपना उपयोग अलग कर लिया है; अर्थात् अपनेको मात्र चैतन्यस्वरूप ही देखा करता है ऐसे ज्ञानी संतको निरास्रव कहते हैं। जब आत्मबुद्धिपूर्वक समस्त रागादि भावोंको त्याग दिया, तो मैं तो चैतन्य प्रकाश मात्र हूँ, राग भी होता है तो उसे भी जो भिन्न निरख सकता है, जैसे दूसरे जीवोंके रागद्वेषोंको हम भिन्न निरखा करते हैं और उनके रागद्वेषोंको देखकर हम उनको मूढ़ समझा करते हैं इसी प्रकार अपने आपमें भी जो रागादिक विकार होते हैं उन्हें जो भिन्न निरख सकते हैं, रागादिक विकार होते सन्ते अपने को मूढ़ मानते हैं ऐसे ज्ञानी संत चूँकि रागमें राग नहीं रहा अतएव निरास्रव हैं।

अनन्त संसारका उपदेश—जैसे लाखोंका कर्जा वाला पुरुष सब कर्जा चुका ले, केवल १ रुपया कर्जा रह जाय तो उसे लोग कर्जमें शामिल नहीं करते हैं। वस्तुतः तो १ पाईका भी कर्जा हो तो कर्जा कहलाता है। जहाँ ६६ हजार ६६६ रुपये और ६६ नये पैसेका कर्जा चुका दिया वहाँ एक नये पैसेकी गिनती ही क्या होती है? इसी प्रकार अनन्तकालका बंध मिट चुका हो, केवल कुछ वर्ष संसारमें रहना शेष है, मामूली स्थिति बनती है, ऐसा बननेके आस्रवको आस्रव नहीं गिना गया। करणानुयोगके अनुसार तो कषाय व योग तक आस्रववान है और द्रव्यानुयोगके अनुसार ज्ञानीको आस्रवान नहीं कहा गया। जो रागादिकसे विरक्त रहता है और अपनेमें उत्पन्न हुए अबुद्धिपूर्वक रागादिक विकारोंको भी जीतने के लिए शक्तिका स्पर्श कर रहा है वह ज्ञानी समस्त परवृत्तियोंका उच्छेद करता है, वह तो निरास्रव है। तब ज्ञानी बुद्धिपूर्वक रागसे तो विरक्त है और अबुद्धिपूर्वक रागको जीतनेके लिए अपनी शक्तिका स्पर्श करता है इससे उसे निरास्रव कहा गया है। कर्मोंको जीतना, कषायको दूर करना, अनादि अनन्त नित्य अंतःप्रकाशमान इस चैतन्यस्वभावके स्पर्श बिना नहीं हो सकता।

अपना आश्रय लेनेका कर्तव्य—भैया! इस जगतमें हम आपका कोई साथी शरण नहीं है। जो लोग भला बोलते हैं, बुरा बोलते हैं वे अपने ही कषायका परिणमन करते हैं। वे मुझमें कुछ कर नहीं सकते। यह मैं ही स्वयं अपनेमें विकल्प बनाकर अपने आपमें दुःख या सुखका परिणमन

कर रहा हूँ, अब मेरा जितना भी भविष्य है वह सदा भविष्य अपने धर्म अधर्म भावोंके ऊपर है। अपनेको सबसे निराला जो मात्र उपयोगम में देखा जाय तो उस दृष्टि में इतनी सामर्थ्य है कि भव-भवके और भवके ही नहीं, अवधिज्ञानसे अगम्य अनन्त भवोंके भी कर्म क्षणमात्रमें ही ध्वस्त हो सकते हैं कदाचित्त सबसे पहिले निगोदिया जीव हो कोई और निगोदिया जीव कुछ सागरों पर्यन्त रह गया हो तो उसके अनन्त भव हो जाते हैं। जो अवधिज्ञानी हो वह असंख्यात भी समझ सकेगा, इससे ऊपरकी गणना अवधिज्ञानके विषयसे परे है। इतने अनन्त भवके कर्म भी आज कर्म सत्तामें हो सकते हैं। वे समस्त कर्म ध्वस्त हो जाते हैं। अपने स्वरूपके स्पर्शकी कितनी अलौकिक महिमा है?

इस वर्णन को सुनकर जिज्ञासु जीवको यह प्रश्न हो सकता है कि जब समस्त द्रव्यप्रत्ययकी संतति जीवित है? कर्मोंका सत्व भी है, कर्मोंका उदय भी चल रहा है, फिर भी उस ज्ञानीको नित्य निरास्रव कहें, यह कैसे हो सकता है? इसके उत्तरमें यह गाथा कही जा रही है। यहाँ चार गाथाएँ एक साथ कही जायेंगी

सव्वे पुव्वविबद्धा हु पच्चया संति सम्महिट्ठस्स।
 उबओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ॥ १७३ ॥
 संती हु णिरुवभोज्जा वाहा इत्थी जहेव पुरिसस्स।
 वंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥ १७४ ॥
 होइण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा।
 सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥ १७५ ॥
 एदेण कारणेण हु सम्मादिट्ठी अबंधगो होदि।
 आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥ १७३ ॥

उपभोग्य कर्म और बन्धन—सम्यग्दृष्टि जीवके भी पूर्व निबद्ध कर्मसत्तायें हैं, द्रव्यकर्म और उनके उदयानुकूल होने वाले संस्कार सत्तामें हैं तो भी उपयोग के प्रयोग रूप जैसा बन सके वैसे ही वे कर्मभाव उस आगामी बंधको प्राप्त होते हैं। यहाँ दृष्टान्त यह दिया जा रहा है कि जैसे किसी युवकका किसी अत्यन्त छोटी आयुकी बालिकासे विवाह किया गया हो, तो वह बालिका स्त्री कहलाती है, लेकिन वह बालिका अभी निरुपयोग्य है। वह स्त्री पुरुषको बाँध नहीं सकती, उसका बँधन नहीं कर सकती। जब वह उपभोग्य होती है, बड़ी आयुकी होती है तब पुरुषको उसका बँधन हो जाता है। इसी प्रकार जब तक कर्म उदय नहीं आते अथवा उपभोग्य नहीं होते तब तक वे कर्म सत्तामें हैं, किन्तु वे इसका बँधन नहीं करा सकते। जब वे कर्म उपभोग्य होते हैं तब उनका निमित्त पाकर यह आत्मा बँधनको प्राप्त होता है।

रागरूप भाव न होनेके कारण बँधका अभाव—हुआ क्या वहाँ दृष्टान्तमें? उस पुरुष के रागरूप भाव नहीं हो पा रहा है। तो रागरूप भाव न होनेके कारण वह पुरुष बँधनमें नहीं है, इसी

प्रकार यह ज्ञानी पुरुष भी रागरूप बँधन नहीं कर रहा है तो वह तो बँधनमें नहीं है इसी प्रकार यह ज्ञानी पुरुष भी रागरूप बँधन नहीं कर रहा है तो वह तो बँधनमें नहीं है अथवा बड़ी आयुकी भी स्त्री होनेपर भी यदि पुरुषके रागरूप भाव नहीं है तो वह स्त्रीके बँधनमें नहीं है। इस प्रकार वे कर्म उदयमें आते हैं। उदयमें आनेपर यदि जीवके रागरूपी भाव नहीं है तो वह जीव बँधनको प्राप्त नहीं हो सकता।

उदयकी निष्फलताविषयक प्रश्नोत्तर—अब यहाँ एक प्रश्न ऐसा भी होता है क्या कि कर्म उदयमें आ रहे हों और जीवके रागादिक विकार न होते हों? उत्तर इस सम्बन्धमें दो दृष्टियोंसे जानना होता है। एक तो जब जघन्य गुण परिणमन वाला रागपरिणमनमें आता है जैसे १०वें गुणस्थानके अंतिम क्षणोंमें तो उस रागसे रागादि कर्मोंका आस्रव नहीं होता, किन्तु यह बात हम सब जीवोंमें नहीं है, जो ऐसा घटित कर लें कि कर्म उदयमें आते हैं आने दो, क्या परवाह है अपन राग न करें तो कर्मोंसे न बँधेंगे ऐसी स्थिति अपने लिए नहीं है। फिर भी जो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष हैं उनके सहज ज्ञान और सहज वैराग्यमें ऐसी सामर्थ्य है कि उदयक्षणसे पहिले उनके निर्मल परिणामोंके निमित्तसे स्तिवुक संकममरण हो जाता है।

स्तिबुक संक्रमणसे उदयकी परिस्थिति—उदयका टाइम है एक आवलि। यह मोटे रूपसे कथन है; अर्थात् कर्मोंकी उस जातिकी वर्गणाओंका आवलि पर्यन्त निरन्तर उदय चलता है पर किसी भी प्रकृतिके निषेकके उदयका टाइम एक समय होता है। आवलिमें असंख्यात समय होते हैं। आवलिमें उस-उस जातिका परिणमन चलता है, किन्तु एक ही निषेक आवली पर्यन्त उदय चले ऐसा नहीं होता है। आवलिका जो समय है उसके पहिले संक्रमण हो जाता है। चूँकि वह संक्रमण उदयकी आवलिमें ही होता है इसलिए उदय ही कहा जाता है तो संक्रमण होकर भी जो अन्य निषेक रूपसे निकला होता है वह उदय कहलाता है। ऐसे उदयके होनेपर पूर्वनिश्चितमें राग विकार न हो यह बात सम्भव है। यह कारणनुयोगकी बात कही जा रही है।

रागका उपयोगभूमिमें न आना संवरका कारण—द्रव्यानुयोगमें बात यह है कि अपना उपयोग रागकी ओर न करे तो कर्म न सतायेंगे। जैसे घरके लोग उद्दण्ड हो रहे हैं तो अपना उपयोग उनमें न लगावो तो उनसे लगाव तुमपर न होगा। इसी तरह अंतरणमें रागादिकका ऊधम मच रहा है, तुम अपना उपयोग उन रागादिकोंपर न लगावो तो उन रागादिकोंके असरसे तुम बच जावोगे। क्या हो सकता है ऐसा? हाँ होता है। जब कोई ज्ञानी पुरुष केवल आत्माके शुद्ध स्वभावको जाननेमें लग रहा है, इसका काम तो जानना है ना, जाननेका विषय किसी परसे नहीं बनाया जा रहा है, किन्तु यह निजसे ही बनाया जा रहा है। उस समय चूँकि ज्ञानस्वभाव ही दृष्टिमें आ रहा है तो रागका अन्तरात्मापर असर नहीं होता। अबुद्धिपूर्वक तो चल रहे हैं, पर अबुद्धिपूर्वकका कोई असर बुद्धिमें नहीं होता।

भावप्रत्ययके योगसे द्रव्यप्रत्ययका सामर्थ्य—क्षोभमें आ जाय, आकुलता हो जाय, कोई चिंता हो जाय, यह असर स्वानुभवी पुरुषके नहीं हुआ करता है। तो रागभावका अभाव होनेपर ये द्रव्यप्रत्यय, उदयमें आये हुए कर्म भी बंधके कारण नहीं होते। उदयसे पहिले वे निरुपभोग्य होकर अपने-अपने गुणस्थानोंके अनुसार उदयकालको पाकर यथा जैसे-जैसे भोग्य होता है वैसे ही वैसे रागादिक भावोंके द्वारा आयुर्बन्ध कालमें ८ प्रकारके, और जब आयुर्बन्ध नहीं होता तब ७ प्रकारके ज्ञानावरणरादिक द्रव्यकर्मोंका बन्ध होता है, किन्तु सत्तामात्रसे बन्ध नहीं होता।

देवगतिमें आयुर्बन्धका विभाग—ये कर्म वादरसाम्पराय तक निरन्तर ७ प्रकारके बँधते हैं? आयुर्कर्म हमेशा नहीं बँधता है। आयुर्कर्म कब-कब बँधता है? इसका गतियों का जुदा-जुदा नियम है। देवगतिमें जब आयुके ६ महीना शेष रह जाते हैं तब उसके त्रिभाग बनते हैं; अर्थात् चार महीने व्यतीत होनेपर केवल २ माह शेष रहे तब आयु बँधती है। जब आयु न बंधे तब ६० दिनोंमें ४० दिन गुजर गए, २० दिन शेष रहे तब आयु बँधती है। तब भी न बँधे, तब २० दिन के ३ भाग करें तब आयु बँधती है। तब भी न बँधे तो फिर उसके तीन भाग करें। इस प्रकारसे ८ अब अवसर आते हैं। यदि ८ बारमें भी न बँधे तो मरण समयमें अवश्य बँधते हैं। इसी प्रकार नरकगतिमें अंतिम ६ माहमें आठ अपकर्ष होते हैं।

मनुष्यगतिमें आयुर्बन्धका विभाग—भोगभूमिके जीवोंमें जो स्थिर भोगभूमिके जीव हैं, जैसे हैमवत, हरि, देव कुरु उत्तर, कुरु, रम्यक और हैरण्ये। इन क्षेत्रोंमें रहने वाली भोगभूमिके जीवोंका आयुर्बन्ध देवगतिके की जीवोंकी भांति होता है किन्तु जो अस्थिर भोगभूमियाँ हैं, भरत और ऐरावत क्षेत्रमें समय-समय पर भोगभूमियाँ आया करती हैं उस समय मनुष्य स्त्री पशु-पक्षियोंके जब आयुके ६ महीने शेष रह जाते हैं तब उकसे ८ भाग किए जाते हैं और कर्मभूमिके सभी जीवोंके उनकी पूरी आयुका त्रिभाग किया जाता है। जैसे किसी मनुष्यकी आयु ६० वर्ष की है तो ४० वर्ष बंध नहीं होगा। ४० वर्ष बीतनेके बादमें आयुर्बन्ध होगा। तब भी न बंधे तो शेषका त्रिभाग करते जाइये। जायगा। इस प्रकार इसकी पूरी आयुका विभाग किया जाता है। जब आयु बंध हो रहा है उस समय इस जीवके ८ कर्मोंका बंध चल रहा है, किन्तु जब आयुर्कर्मका बंध नहीं चल रहा है तब इसके ७ कर्मोंका बंध निरन्तर चलता है। इसी प्रकार तिर्यञ्चगतिमें आयुर्बन्धका कालविभाग जानें।

बंधके निमित्तके निमित्तपनामें निमित्त होनेसे रागादिकी बंधहेतुता—रागादिक भावही आस्रव हैं। इनका अभाव होनेपर जो उदयमें आये हुए द्रव्यकर्म हैं अथवा सत्तामें हैं वे बन्धके कारण नहीं हो सकते, इस कारण सम्यग्दृष्टिको अबँधक कहा है। इस आस्रवके सम्बन्धमें एक अपूर्व बात और समझोकि नवीन कर्म जो आते हैं उनका निमित्त कारण साक्षात् रागादिक विकार नहीं है, किन्तु उदयागत कर्मवर्णणायें हैं। नवीन कर्मोंका बुलाना, क्लेशोंका आना, यह मेरी ही जाति वालोंका काम है। ये चेतन जो विजातीय हैं, कर्मोंकी बिरादरी भिन्न हैं, नवीन कर्मोंके बन्धका कारण तो उदयमें आने वाले द्रव्य कर्म हैं।

नवीन कर्मोंको सीट देकर उदयागत कर्मोंका निकलना—जैसे कभी रेलमें ऐसा होता है कि किसी डिब्बेमें कोई मुसाफिर सीट पर बैठे हुए किसी मुसाफिरसे झगड़ा कर रहा हो, तुम मेरी जगहसे हट जावो, इस तरह लड़ाई करता है पर सीटपर बैठा हुआ पुरुष कुछ बलवान है तो उसको सीट नहीं देता और उस विवादमें बैठे हुए को इतना क्षोभ होता है कि वह यह संकल्प ही कर लेता है कि मैं इसे सीट न दूंगा। उठते समय किसी दूसरे मुसाफिर को बैठा करके जाऊंगा। जब स्टेशन आता है तो वह उतरनेमें थोड़ा विलम्ब भी करता है। गाड़ी तो १५ मिनट ठहरेगी। दो चार मिनट में कोई नया मुसाफिर आने वाला है, खिड़कीसे उसे बुला लिया और अपनी सीट पर बैठाल दिया और बैठालकर चल देता है इसी प्रकार इस आत्माकी सीटसे निकले हुए ये उदयागत कर्म नवीन कर्मोंको अपनी सीट देकर निकला करते हैं। तो नवीन कर्मोंके आस्रवरणका निमित्त हुए उदयागत पुद्गलकर्म।

नवीन कर्मोंके आस्रवरणके निमित्तके विषयमें प्रश्नोत्तर—प्रश्न ग्रन्थोंमें तो स्पष्ट यह लिखा हुआ है व इसी ग्रन्थमें आगे पीछे यह लिखा हुआ है कि नवीन कर्मोंके आस्रवका निमित्त है रागादिक विकार। उसका समाधान कैसे हो? उसका समाधान यह है कि नवीन कर्मोंके आस्रवरणके साक्षात् निमित्त तो उदयागत द्रव्यागत द्रव्य प्रत्यय ही हैं, किन्तु उन उदयागत द्रव्यप्रत्ययोंमें नवीन कर्मोंके आस्रवरणका निमित्तपना आ जाय इसके निमित्त होते हैं रागादिक विकार। अतः मूल तो रागादिक विकार ही हुए ना। उन रागादिक विकारका निमित्त पाकर उदयागत कर्मोंमें नवीन कर्मोंके आस्रव करनेका निमित्तपना आया। अतः यह बात प्रसिद्ध हुई कि नवीन कर्मोंके आस्रवका कारण रागादिक विकार हैं।

उदयागत कर्मों का जीवविकारमें नवीन कर्मबन्धमें निमित्तपना—ये उदयागत कर्म कैसा दुतर्फा काम कर रहे हैं? जैसे कोई दुष्ट पुरुष दुतर्फा लड़ाई लड़ता है, इसी प्रकार ये उदयागत कर्म आत्मामें रागादिक विकारोंके भी कारण बन रहे हैं और उन ही रागादिक विकारों का निमित्त पाकर नवीन कर्मोंका आस्रव करनेमें भी निमित्त बन रहे हैं। यों कर्मों का बन्धन इस जीवके बड़ा विचित्र लगा हुआ है।

अबन्धकताकी अपेक्षाये—यहाँ जो सम्यग्दृष्टिको अबन्धक कहा है वह अपेक्षासे कहा गया है। मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थान वाला सराग सम्यग्दृष्टि अबन्धक है, मिथ्यात्व में सभी प्रकृतियोंका बंध होता है, जो बंधयोग्य है, किन्तु सम्यग्दृष्टिके ४३ प्रकृतियोंका बंध नहीं होता, ४१ का तो संवर है। इस चतुर्थ गुणस्थान वालेके ४१ तो बंध बिछुप्तिवाले जिसको कि प्रथम और द्वितीय गुणस्थानवालेमें बताया है। ऐसे इन ४३ गुणस्थानोंका उनको बंध नहीं है। शेष प्रकृतिका बंध करते हुए भी वह सम्यग्दृष्टि जीव संसारका छेद करता है। संसार मेरा कटे ऐसी भावना उसके रहती है।

सम्यग्दृष्टिके संसारच्छेदके कारण—सम्यग्दृष्टिका संसार कटता है उसके बाह्य कारण क्या हैं? एक कारण तो है शास्त्रज्ञान द्वादशाङ्गका ज्ञान। यथार्थ ज्ञान तो कर्मबंध के विनाशका कारण

है ही। दूसरा कारण है देवकी तीव्र भक्ति होना, आत्मस्वरूपमें तीव्र अनुराग होना। तीसरा कारा है अनिवृत्ति परिणाम। जैसा कि ६ वें गुणस्थानमें होता है और सम्यग्दर्शन प्रकट होनेके समयमें अनिवृत्ति करण परिणाममें होता है। क्षायिक सम्यक्त्व होनेके समय भी अनिवृत्ति परिणाम होता है। अनन्तानुबंधीके विसंयोजनके समय भी अनिवृत्ति परिणाम होता है। वह अनिवृत्ति परिणाम भी कर्मोंका अबंधक है। एक मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यक्त्व उत्पन्न करता है उस समय उसका अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणाम होता है। वह जीव मिथ्यादृष्टि है अभी जब तक कि तीनों परिवाणाम चल रहे हैं। वह मिथ्यादृष्टि जीव ऐसे-ऐसे कर्मोंका बंध रोक देता है जिन कर्मोंका बंध सम्यग्दृष्टि मुनि भी छठवें में नहीं रोक पाता है। इस अनिवृत्तिकरण परिणामके बादमें सम्यग्दर्शन होनेपर छठे गुणस्थानमें उन कर्मोंका बंध चल रहा है और मिथ्यादृष्टि जीव अनिवृत्ति परिणामके समय उन कर्मबंधोंको रोक देता है। ऐसी है अनिवृत्तिकरण परिणामी विशेषता।

केवलीसमुद्घात—कर्मोंकी निर्जरा करनेका एक कारण है केवलीसमुद्घात। अरहंत भगवानके जब आयुकी थोड़ी स्थिति रह जाय बाकी कर्मोंके लाखों वर्षोंकी भी स्थिति हो उस समय स्वयं सहज उनके प्रदेश लोक भरमें फैलते हैं, बिखर जाते हैं उस समय वे कर्म उनकी स्थितिका घात होकर केवल आयुके बराबर रह जाते हैं। तो संसारकी स्थितिके घात का कारण यह भी है। उनमेंसे द्वादशांग श्रुतका ज्ञान तो है बहिर्विषयभूत, पर निश्चयसे रागद्वेष मोह रहनेमें केवल चैतन्य परिणामका अनुभव है। वही वास्तविक अवगम है। भक्ति की बात सम्यग्दृष्टि जीवके जो कि सराग सम्यग्दृष्टि हैं उनको तो पंचपरमेष्ठीकी भक्ति उत्पन्न होती है, पर निश्चयसे वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवके शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावना रूप भक्ति होती है और अनिवृत्तिकरण परिणाम करुणानुयोगी शैलीमें तो वह निश्चित ही है पर शुद्ध आत्मस्वरूपसे निवृत्ति न हो, एकाग्र शुद्धतत्त्वमें परिणति हो, इसको अनिवृत्ति परिणाम बोलते हैं।

श्रामण्यके भेदरूपमें दर्शन—निश्चय व्यवहार रूप द्वादशांगका अवगम, निश्चय व्यवहाररूप भक्ति और अनिवृत्तिकरण परिणाम ये सब क्या हैं? सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्ररूप ही हैं। सो मुक्तिका मार्ग क्या है? तो चाहे इन शब्दोंमें कहो द्वादशांगका ज्ञान, भक्ति और अनिवृत्तिका परिणाम, चाहे इन शब्दोंमें कहो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र और चाहे एक शब्दमें कहो श्रामण्य। यही मोक्षका मार्ग है। यह वृत्ति सम्यग्दृष्टिके अन्तरङ्गमें बराबर चल रही है। इसके कारण इस सम्यग्दृष्टिको अनन्त संसारका बंधक न होनेके कारण निरास्रव कहा है। सम्यग्दृष्टि अन्तरङ्गमें प्रभुताका स्पर्श करता हुआ ज्ञानदृष्टिका आनन्द लेता है। इससे कर्मोंका संततिका छेद होगा और विलक्षण अलौकिक शांति उत्पन्न होगी।

रागादिके अभावसे बन्धका अभाव—ज्ञानी जीवके पहिले समयके बँधे हुए कर्म यद्यपि पूर्वके हैं तो भी उन कर्मोंका कार्य रागद्वेष मोहरूपी नहीं हो रहा है। इस कारण आस्रवके अभावसे वे द्रव्यकर्म बंधके कारण नहीं होते। पहिले अज्ञानावस्थामें बहुतसे कर्म बंध गए थे, वे पिण्ड रूपसे

तबसे विद्यमान हैं क्योंकि उनका उदय जब उनकी स्थिति पूरी होगी तब होगा। सो जब तक उदयका समय नहीं आता तब तक वह सत्तामें ही रहता है, अपने सत्वको नहीं छोड़ता है तो भी ज्ञानी जीवके सर्व प्रकारसे रागद्वेष मोहका अभाव है। अतः नवीन कर्मोंका बंध नहीं हो पाता है।

ज्ञानमें बन्धनकी असम्भवता—अन्तरसे देखो ज्ञानी जीवके क्या अन्तरङ्गसे राग सम्भव है? नहीं। अन्तरसे राग ज्ञानी जीवके नहीं होता। जैसे किसीने पहिले जाना था रस्सीको देखकर कि साँप है तब तो उसे आकुलाहट थी, और जब जाना कि यह रस्सी है, इसके बाद भी यदि कोई कहे कि हम तुमको इनाम देंगे, तुम जैसे पहिले घबड़ाते थे उस तरहसे घबड़ानेका नाटक दिखा दो। तो वह घबड़ानेका नाटक दिखाये भी तो अन्तरमें सच्चा ज्ञान है कि यह साँप नहीं है, यह तो रस्सी है। तो क्या अन्तरसे उसे घबड़ाहट हो सकती है? नहीं। इसी प्रकार कर्मोदयकी प्रेरणासे यद्यपि बाह्य प्रवृत्ति ज्ञानी पुरुषके होती है किन्तु जैसे यह ज्ञात हो गया है कि मेरा तो मात्र मैं ही हूँ। मेरा जगतमें अन्य कोई नहीं है, ऐसा जिसके विश्वास है वह बाह्यकी कुछ भी परिणति हो, क्या उसके अन्दर शंका और भय हो सकता है? नहीं। यदि भय और शंका अंदरमें है तो समझो कि उसके सम्यक्त्व नहीं है। सम्यक्त्व गुणके कारण बन्ध नहीं होता है इस दृष्टिसे यह प्रकरण समझना। ज्ञानी जीवके रागद्वेष मोह होना असम्भव है और इसही कारण इस ज्ञानीके बंध नहीं होता, क्योंकि बंधका कारण तो रागद्वेष मोह ही होता है। इसी विषयमें अब दो गाथाओंको एक साथ कहेंगे।

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठस्स।

तम्हा आसवभावेण विणा हेदू रण पच्चमो होंति ॥ १७७ ॥

हेदू चहुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं।

तेसिंपि य रागादी तेसियभावेण वज्झंति ॥ १७८ ॥

चूँकि सम्यग्दृष्टि जीवके रागद्वेष मोहरूपी आस्रव नहीं होता है इस कारण आस्रव भावके बिना वे द्रव्यकर्म कर्मबंधके कारण नहीं होते हैं।

आस्रवके प्रकार और उनमें प्रधान मिथ्यात्व—जीवका आस्रव है चार प्रकारका मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। ये ४ प्रकारके आस्रव ८ प्रकारके कर्मोंके बंधके कारण कहे गए हैं। जीवमें जब मिथ्याबुद्धि होती है घर, मकान, वैभव, परिवार, चेतन, अचेतन सर्व संग होता है तो ये हैं तो इनसे अत्यन्त पृथक् होनेपर भी यह मानता है कि ये मेरे हैं, यह मैं हूँ इस प्रकारकी जो बुद्धि है उसे ही आस्रव कहते हैं। इसी प्रकार ये परिणाम कर्मबंधके कारण होते हैं ये मिथ्यात्व परिणाम हैं।

अविरति परिणाम—अविरति परिणाममें क्या है? जीवके हिंसाके त्यागका परिणाम नहीं होता, अन्धाधुन्ध चल रहे हैं, कोई चीज धरा उठाया तो बिना देखे, खान पान का विवेक नहीं, भक्ष्य अभक्ष्यका विवेक नहीं, कई दिनका आटा पड़ा हुआ है उसमें सूक्ष्म जीव भी पड गए हैं उसे खा रहे हैं, बाजारके दही पकवान खाते हैं, ये सब क्या हैं? अविरति भाव हैं। हिंसाके त्यागका परिणाम

नहीं होता है झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहके त्याग का परिणाम नहीं होता, ये सब अविरतिके परिणाम हैं, पंचेन्द्रिय हैं, ये अपने अपने कषायों में लग रहे हैं। स्पर्शन इन्द्रिय सुहावनी वस्तुके छूनेका इसका स्वभाव है अथवा कामादिक विषय हैं। रसना इन्द्रियका विषय है स्वादिष्ट खान पान, घ्राणेन्द्रियका विषय है इत्र, फूल आदि सुगंधित चीजोंका भोग करना। चक्षुरिन्द्रियका विषय है सुहावने रूपका अवलोकन करना, कर्णेन्द्रियका विषय है राग रागनी सुनना। इन विषयोंमें जो आसक्ति है, उसे छोड़ नहीं सकते हैं। इतना भी नहीं कि इन्हें धर्मके समय छोड़ दें। पर इन विषयोंमें ही दौड़ दौड़कर अपनी प्रवृत्ति करते हैं। यह अविरति परिणाम ही हैं। ऐसे परिणाम यदि मनकी स्वच्छन्दताके हो गए तो उनसे कर्मोंका बंध हुआ करता है।

कषायरूप भावप्रत्यय—कषाय परिणाम होता है क्रोध, मान, माया, लोभ करके। किसी भी पुरुषपर अपराध हो या न हो, क्रोध न आए, दूसरेके अपराधमें अपनेको कोई क्लेश न पहुँचता। जो अपराध करता वही दुःखी होता। इस अपने अन्दरमें बसे हुए प्रभुस्वरूपको न निरखकर किसी दूसरे जीवपर गुस्सा करते हैं तो यह अपनी ही हिंसा है। घमण्डके परिणाममें तो यह अपने को पा ही नहीं सकता। दूसरे जीवोंको तुच्छ देखना और अपनेको सबसे बड़ा समझना, यही तो अभिमान कषाय है। इस मान कषायमें यह जीव अपने आपके स्वरूपसे चिगा हुआ रहता है, मायाचार मनमें और है, वचनोंमें कुछ और कह रहे हैं और शरीरसे कुछ और प्रवृत्ति चल रही है। यह मायाचारपूर्ण प्रवृत्ति इस जीवकी सावधानी नहीं है। यह अपना ही बिगाड़ करता है। लोभ कषाय, धन वैभवके प्रति ऐसी भावना होना यही मेरा सब कुछ है। इसही से मेरा विस्तार है। यह नसझो कि सैकड़ों दिनोंका जीवन है। अरे किसी दिन यह दीपक बुझ जायगा, मृत्यु हो जायगी। फिर भविष्य में क्या होगा इसका ख्याल नहीं है क्या? और प्राप्त समागममें ही आसक्त बने रहना यह है लोभकषाय। सो ये चार प्रकारके कषाय कर्म बंधके कारण हैं।

योगरूप भावप्रत्यय—योगसे आत्माके प्रदेश हित जाते हैं, कंपते हैं। तो प्रदेश हिले और साथ ही कषाय हुआ तब तो होता है आस्रव और बंध दोनों। जब केवल प्रदेश ही हिल रहे हैं और कषाय रंच न हो तब वहाँ होता है केवल आस्रव, बंध नहीं होता है; अर्थात् ये मात्र योगपरिणमन कर्म बन्धकारी नहीं रह सकते। वे आयेंगे और जायेंगे, यह स्थिति होती है ११वें गुणस्थानमें। वहाँ किसी प्रकारका कषाय नहीं होता इस कारण वहाँ योग से आस्रव होता है पर बंध नहीं होता है। तो ये ४ प्रकारके जो भाव प्रत्यय हैं ये कर्मबन्ध कराते हैं।

अन्तःस्वरूपकी दृष्टि ही शरण—अहो! इस जीवका जगतमें है तो कुछ नहीं शरीर तक भी अपना नहीं है लेकिन यह अपने ही भीतरमें स्थित कितने ही प्रकारके विकल्प मचाता है, जिन विकल्पोंके कारण कर्मोंसे लदा चला जाता है। हम प्रभुकी भक्ति करें और जरा यथार्थ रूपमें करें, भगवानका जो अंतः स्वरूप है उस स्वरूपपर दृष्टि देकर करें तो अपना जीवन सफल किया अन्यथा मोहमें तो पशु पक्षी भी रहा करते हैं। जैसे हम आप पशु-पक्षियोंके जीवनको व्यर्थ समझते

हैं इसी प्रकार यदि केवल मोह भाव ही बर्तते रहे तो समझो कि हमारी जिन्दगी भी व्यर्थ है। उसमें कोई लाभ नहीं मिल सकता।

धर्ममर्मा साधु और श्रेष्ठिवधूके प्रश्नोत्तर—एक साधुने एक श्रावक के यहाँ आहार किया, आहार करके आंगन में बैठ गया। कुछ श्रावकोंसे बातें होने लगीं। सेठकी बहू बोली, महाराज आप इतने सवेरे क्यों आ गए? खूब धूप थी, १० बजनेका टाइम था फिर भी ऐसा अनोखा प्रश्न किया। सब लोग सुनकर दंग रह गए। वह साधु बोला कि बेटी समय की खबर न थी। अब तो और आश्चर्य होने लगा। इतने महान् पुरुष और समयकी खबर न थी। फिर साधुने पूछा कि बेटी तुम्हारी उम्र कितनी है? बहू बोली, महाराज मेरी उम्र ४ वर्षकी है। अब तो आश्चर्यका क्या ठिकाना? १० वर्ष विवाहके हो गए और बताती है कि उम्र चार वर्षकी है। और तुम्हारे पतिकी उम्र कितनी है? महाराज मेरे पति चार महीने के हैं। लो। अच्छा, और स्वसुर साहबकी कितनी उम्र है? महाराज स्वसुर तो अभी पैदा ही नहीं हुए हैं। और तुम आजकल ताजा खा रही हो या बासी? बहू बोली, महाराज ताजा कहाँ रखा है, सब बासी ही खा रहे हैं। इतनी बात होनेके पश्चात् साधु महाराज तो चले गए।

मार्मिक प्रश्नोत्तरोंका अर्थ—अब वह सेठ बहूसे लड़ने लगा कि तूने तो पागलपनकी बातें कीं, मेरे बड़प्पनमें बड़ा धक्का लगा तो बहू बोली चलो महाराज के पास और सबका अर्थ निकालें कि बात क्या है। तो निष्कर्ष सब क्या निकला। कुछ साधु महाराजने बताया, कुछ बहूने बताया। सबका सार यह निकला की बहूने पूछा था चूँकि मुनि छोटी अवस्थाके थे, सो पूछा था कि आप इतनी जल्दी कैसे आये, मतलब आप इतना जल्दी मुनि कैसे हो गए। साधुने कहा बेटी समयका ख्याल न था अर्थात् यह पता न था कि जिन्दगी कितनी है, कब मर जायेंगे, इसका पता न था तो सोचा कि जल्दी यह काम करना चाहिए। महाराज ठीक है। और जो बहूसे पूछा कि क्या उम्र है, तो उसने कहा कि मेरी उम्र चार वर्षकी है। इसका सार क्या निकला?

धर्मदृष्टिके समयसे ही वास्तविक जीवन—बहूने कहा कि मैं चार वर्षसे ही धर्ममें लगी, जबसे ही धर्मकी श्रद्धा हुई है, उतना ही हमारा वास्तविक जीवन है। धर्मकी श्रद्धा बिना जीवनको यदि जीवन समझा जाय तो सब व्यर्थ है, सब अनन्तकालके बूढ़े हैं। फिर क्यों कहते हो कि हमारी उम्र ४० वर्ष की है, ५० वर्षकी है। यह कहो कि मैं अनन्तकालका बूढ़ा हूँ। खैर, आगे क्या बात चली, पतिकी उम्र कितनी है। इनके चार ही महीनेसे धर्मकी श्रद्धा हुई है इसलिए वास्तविक उम्र इनके चार ही महीने की है। फिर यह बात चली कि स्वसुरकी उम्र कितनी है, तो स्वसुर अभी पैदा ही नहीं हुए। स्वसुर साहबने कहा कि यदि मैं पैदा ही नहीं हुआ तो यह लड़का और बहू कहाँसे आ गए? बहूने कहा, देखो महाराज यह अब भी लड़ रहे हैं। इनको अभी तक धर्मकी बात समझमें नहीं आई। इनको अभी क्या पैदा हुआ समझें?

ताजा-बासी खाया जानेका तात्पर्य—स्वसुरने कहा अच्छा, रोज घरमें ताजी रोटी बनानेके लिए ब्राह्मण लगा है, सारा आराम है और यह बहू कहती है कि अभी बासी खा रहे हैं इसका क्या

मतलब? बहू बोली, सेठ जीने पूर्वभवमें कुछ पुण्य कमाया था, अभी भी उस पुण्यको ही भोग रहे हैं और इस भवमें कोई नया काम नहीं कर रहे हैं, धर्म नहीं कर रहे हैं।

वास्तविक संकटोंसे बचनेका संकेत—सो भैया! अपनी जिन्दगी तबसे समझना चाहिए जबसे धर्मकी श्रद्धा हुई। खूब ध्यानसे सुनिये। ऐसे धर्मकी श्रद्धा होती है तो फिर समझ लो कि संसारके सारे संकटोंसे दूर हो जावोगे। पर इनको संकट मानते हैं कि कुछ आय कम हुई, धन कम हुआ, अथवा लड़का लड़की अपने भावोंके अनुकूल नहीं चलते अथवा लोकमें हमारी प्रतिष्ठा नहीं बढ़ी, इसे मोही पुरुष समझते हैं कि हमपर बड़ा संकट छाया है। अरे यह कुछ संकट नहीं है। तेरे ऊपर संकट तो है कर्मोंका विशिष्ट बन्धन, कर्मों का तीव्र उदय। क्रोधादिक कषायोंको लिए रहते हैं, यथार्थ वस्तुस्वरूपका पता नहीं पड़ता, घरके दो चार जीवोंको अपना मान लिया। जो हैं सो ये ही मेरे सब कुछ हैं और बाकी जीव तो कुछ नहीं हैं। अरे ये परिणाम तेरे पर संकट हैं। इन परिणामोंके कारण जब यह भव छोड़ेगा तो न जाने किस खोटी योनिका भव मिलेगा? बड़ी विपत्ति है। इस विपत्ति को तो तू देखता नहीं और वर्तमान समागम और वियोगका तू बखान करता है, मेरे पर बड़ा संकट है।

अपनी संभाल—अरे भैया! आत्मधर्मको संभालो, उस आत्माकी दृष्टि आने दो, तेरे पर कोई संकट न रहेगा। तू निःसंकट है। जिनकी हम पूजा करते हैं तीर्थकर देव, भरत बाहुबलि, राम आदि जिनका हम ध्यान किया करते हैं वे भी तो इस संसारमें थे और वे भी तो अनन्तकाल तक इस संसारमें रुले थे। उन्होंने भी पूर्व भवमें अपनी खोटी सृष्टि की थी, आज वे सब छोड़कर चले गए। न पैसा है, न परिवार है, न संसार है। तो क्या वे हम आपसे न्यून हैं? क्या छोटे हैं हम आपसे? अरे वे महान्से महान हैं। उन्होंने संसारके सब बंधनोंको तोड़ दिया, ऐसा उत्कृष्ट ज्ञानविकास हुआ है जिस ज्ञानविकासके द्वारा सारा लोकालोक हाथमें रखे हुए आवलेकी तरह स्पष्ट ज्ञान हो रहा है। ऐसा बड़प्पन पैदा करो ना, यहाँकी टूटी फूटी बातोंमें अपना सर्वस्व मानकर अपने बड़प्पनमें बहे जा रहे हैं, प्राप्त कुछ नहीं किया जा रहा है।

मोहीका भ्रम—मोही जीव जानता है कि मैं बड़ा लाभ कर रहा हूँ, अपना बड़ा वैभव बना रहा हूँ, गृहस्थी उत्तम कर रहा हूँ यह सोचना मात्र भ्रम है। यह जीव लाभ कुछ नहीं कर रहा है। बल्कि अपनी हानि ही कर रहा है। अभी तो अनन्त काल पड़े हैं परिणमन करनेके लिए। अगर शुद्ध परिणमन रहेगा तो शांति है अन्यथा शांति नहीं है।

सम्यग्दृष्टि जीवके रागद्वेष मोह भाव नहीं हैं। यदि रागद्वेष मोह भाव होता तो सम्यग्दृष्टि न कहलाता। जब रागद्वेष मोहका अभाव है तो पूर्वमें बंधे हुए जो द्रव्यकर्म हैं वे पुद्गलकर्मके निमित्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि द्रव्य प्रत्यय पुद्गल कर्मके हेतु होते हैं, उनमें हेतुपना रागद्वेष मोहके सद्भाव बिना नहीं हो सकता। तब क्या मतलब हुआ कि बंधके कारणका कारण नहीं है इसलिए सम्यग्दृष्टि

जीवके बन्ध नहीं होता। कर्मबन्धका कारण है कर्मोका उदय। और कर्मोके उदयमें नवीन कर्मबन्ध होनेका कारणपना बन जाय, इसका कारण है कि कर्मोदयके निमित्तसे हुआ रागद्वेष मोह भाव।

निरपेक्ष स्वरूपके आलम्बनका प्रताप—ज्ञानी जीव इन रागादिक विकारोंको अपनाता नहीं, क्योंकि उसे सहज शुद्ध स्वरूपका बोध होता है इस कारण वह कर्मोको नहीं बाँधता। इस प्रकार शुद्धनयकी दृष्टिसे अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको जो स्वीकार कर ले, वह पुरुष रागादिकसे मुक्त होकर परमात्मतत्त्वको निरखता है। देखिए जगतमें दृष्टियाँ दो होती हैं (१) सापेक्ष और (२) निरपेक्ष। इन दो अंगुलियोंमें हम सापेक्ष देखेंगे तो यह मालूम पड़ेगा कि यह छोटी है और यह बड़ी है। हम इस अंगुलीको सापेक्ष नहीं देख सकते, उस एकको एकमें देखा, उस एककी अपेक्षा दूसरोंमें न लगाया तो बतलावो यह अंगुली छोटी है या बड़ी? न छोटी है न बड़ी है। यह तो जैसी है तैसी ही है। इसे कहते हैं निरपेक्ष दृष्टि। इसी प्रकार और भी अंतरमें जाय तो प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे स्वयं जैसा है उसे निरखेंगे तो यह कहलाता है निरपेक्ष स्वरूपका दर्शन। और किसी दूसरेके संगसे कुछ प्रभाव पड़ता है तो उसे कहते हैं सापेक्ष दर्शन।

परमार्थभक्ति—भैया! जरा अपने-अपने आत्माके सब ओरसे विकल्प छोड़कर शरीरको भी न निरखकर परके संगसे होने वाले असरको भी न तककर केवल अपने आत्मको तो देखो कैसा है यह अंतरणमें, यदि यह बात समझमें आ गई तो समझ लो कि हम सच्चे जिनेन्द्र भक्त हैं। जिनेन्द्रदेवका जो उपदेश है उस उपदेशको तुम अपनेमें उतार लो। कैसा है यह मेरा स्वरूप? केवल ज्ञानमय, जाननमात्र। जो आत्माके कारण आत्मामें रहे वह तो हुआ मैं और जो परके कारण आत्मामें रहे वह मैं नहीं हूँ। तब तो भरोसा ही नहीं है कि मेरी आत्मामें सत्ता रहेगी।

रागादिकसे कल्याण असंभव—भैया! रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ बतलावो ये आत्माके कारण हुआ करते हैं कि किसी परद्रव्यके कारण हुआ करते हैं? जब कर्मोका उदय हो और परपदार्थों का आश्रय हो तब यह कषाय उत्पन्न होती है। यह कषाय पराधीन है। मेरे स्वरूपके कारण ही मुझमें ये कषाय नहीं उत्पन्न होते हैं, इतना विश्वास भी नहीं है। ये होते हैं और नष्ट हो जाते हैं, सदा नहीं रहते हैं और देखो इनसे भला न होनेका भी विश्वास नहीं है। ये मेरा कुछ हित कर देंगे क्या? तो ये रागादिक भाव मैं नहीं हूँ। शरीरकी तो कथा ही क्या, यह तो प्रकट जड़ है।

अन्य सबकी उपेक्षा करके ही निज प्रभुके दर्शनकी शक्यता—तब इस देहरूपी मंदिरके भीतर एक अमूर्त चैतन्य जो अपने स्वभावसे केवल ज्ञाताद्रष्टा होनेका काम करता है, ज्ञानज्योतिमात्र मैं आत्मा हूँ। ऐसे शुद्धनयका आलम्बन लेकर जब केवल अपनेको ज्ञानप्रकाशमात्र यह जीव अनुभव कर लेता है तो समझ लो इससे बढ़कर आत्मामें और कोई कार्य नहीं है। ये सब मायामय दृश्य हैं, सब मायारूप हैं। ये सदासे न आये हैं और न सदा रहेंगे। ये जब तक हैं तब तक शांति और संतोषका कारण नहीं है। ऐसा जानकर परद्रव्योंकी अपेक्षा करके एक अपने चैतन्यके ध्यानमें लगिए।

धर्मके समय धर्मका ही लक्ष्य भैया! कभी तो ऐसा स्वस्थ चित बनाओ कि जब तुम धर्म कर रहे हो तब धर्मके अतिरिक्त आपको कोई विकल्प न सताएँ। एक बार कोई राजा किसी दुश्मनसे लड़ाई लड़ने गया। उतने समयमें रानी गद्दी पर बैठी थी। एक दुश्मन ने आकर इसके राज्यपर आक्रमण कर दिया। तो रानीने सेनापतिको बुलाया और कहा देखो सेनापति अपनी सेना ले जाकर शत्रुका मुकाबला करो। कहा बहुत ठीक। सेना ठीक की ओर चल दिया शत्रुसे लड़ाई लड़ने। दो दिन चलनेका रास्ता था। रास्तेमें शाम हो गई। सेनापति जैन था। उसके सामायिक, आत्मध्यान करनेके लिए हाथीसे नीचे उतरनेका भी समय न था, सो हाथीपर बैठे ही बैठे सामायिक प्रतिक्रमण शुरू किया। आप तो जानते ही हैं कि प्रतिक्रमणमें क्या बोला करते हैं। पेड़, पत्ती, कीड़ा-मकोड़ा, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रियमें से किसीको भी मेरे द्वारा कष्ट पहुँचा हो तो मुझे क्षमा करो। सो क्षमापणके बोल बोलने लगा।

कर्तव्यपरायण सेनापतिके धर्मकी लगन एक चुगलने रानीसे जाकर कहा कि आपने ऐसा सेनापति भेजा जो कीड़े-मकोड़ोंसे भी माफी मांगता है। वह क्या शत्रुपर विजय पावेगा? ५ दिनके बादमें ही वह सेनापति शत्रुको जीतकर आ गया। रानी पूछती है कि हमने तो सुना है कि तुम पेड़ पत्तियोंसे, कीड़े-मकोड़ोंसे माफी मांग रहे थे। तुम लड़ाई जीत कर कैसे आये? वह सेनापति उत्तर देता है कि आपके राज्यका मैं २३ घंटे नौकर हूँ। उन २३ घंटोंमें यदि सो रहा हूँ तब भी यदि कोई ऑर्डर आ जाय तो मैं हाजिर हूँ, खाते-पीतेमें ऑर्डर आ जाय तो खाना पीना छोड़कर मैं तैयार हूँ, पर शाम-सुबह आध-आध घंटेका समय मैंने अपनी आत्मरक्षाके लिए रखा है। उस आत्मरक्षाके लिए ही मैं जगतके सब जीवोंसे क्षमा चाह रहा था। सब जीव मेरे स्वरूपके ही समान तो हैं। उन्हें कोई कष्ट मेरे स्वरूपके ही समान तो हैं। उन्हें कोई कष्ट मेरे द्वारा पहुँचा हो तो उनसे क्षमा मांगनेका अर्थ यह है कि मैं अपने उस शुद्ध स्वरूपको देखने योग्य बन रहा हूँ। और जब लड़ाईका समय आया उस समय मैं युद्धमें वीरताके साथ कूद पड़ा, यों जीत हुई।

आत्महितका अनिवार्य कार्य तो हम अपने परिवारके लिए २३ घंटेका समय बांध लें, पर एक घंटा सुबह शाम आध-आध घंटे अपने आत्मकल्याणके लिए रखें। यह सब परपदार्थोंका परिणमन है। जैसा होना हो, हो, किन्तु कुछ समय प्रभुस्वरूपका, आत्मस्वरूपका ही ध्यान रखो तो क्या होगा? आप बड़े अनर्थ सोच लें दुकान मिट जायगी, परिवारके लोग तितर बितर हो जायेंगे, धन न रहेगा, शत्रुता बढ़ जायगी, अपयश हो जायगा, बड़ासे बड़ा अनर्थ सोच लो, जो हो सबको स्वीकार करो। इनमें परपरिणमन हैं, इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, मैं तो एक शुद्ध ज्योतिमात्र आत्मप्रकाशको ही देखूँगा। और इस आत्मतत्वके ध्यानमें ही रत होकर अपने कर्मकलंकोंको जलाऊँगा। ये जीव मेरे कबसे साथी हैं, साथी हो ही नहीं सकते। किसको प्रसन्न करनेके लिए आकुलता मचाई? अपनी रक्षाके लिए तो आध-आध घंटेका समय ऐसा नियत हो कि उस समय किसी भी परद्रव्यका ख्याल न रखो तो अपनेमें यह ज्ञायकस्वरूप भगवान प्रकट होगा और आनन्दको प्राप्त करेगा।

शुद्धनयके आलम्बनकी महिमा—सम्यग्दृष्टि पुरुष शुद्धनयका आलम्बन लेकर सदैव अपने स्वरूपास्तित्वका एकाग्रतासे चिंतन किया करता है। शुद्धनय वह है जहाँ केवल निरपेक्ष वस्तु स्वभाव देखा जा रहा है। शुद्धनयको ही देखा जा रहा है। इसकी पहिचान यह है कि उस साधुमें बोध चिन्ह प्रबल हो जाता है। जो जीव शुद्ध नयका आलम्बन लेकर ज्ञानस्वभावी निज आत्मतत्वको एकाग्रतासे भाता है वह रागादिकसे मुक्त मन वाले होकर बन्धरहित समयसारको निरखता है, किन्तु जो पुरुष फिर शुद्धनयसे च्युत होकर रागादिकसे सम्बन्ध कर लेता है वह ज्ञानविमुख होकर फिर कर्मभावोंसे बन्ध जाता है। ये कर्मबन्ध पूर्वमें बन्धे हुए कर्मोंके आस्रवोंसे नाना प्रकारका विचित्र परिणमन करनेवाले हैं।

ज्ञानस्वभावसे च्युत उपयोगका परिणाम—जब तक शुद्ध नयमें उपयोग है तब तक यह जीव अबंधक है और सम्यग्दृष्टि भी है किन्तु शुद्धनयसे आज चिग गया, किसी बाहरी पदार्थोंमें उपयोग करने लगा तो फिर वह बंधक हो जाता है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीव भी दसवें गुणस्थान पर्यन्त निरन्तर बन्धक है लेकिन अबुद्धिपूर्वक बंधकी यहाँ गिनती नहीं की है। इस दृष्टिसे जब तक यह जीव अपने शुद्ध स्वरूपके उपयोगमें है तब तक यह अबंधक है और जब अपने शुद्ध स्वरूपकी दृष्टिसे चिगकर बाह्य पदार्थोंमें उपयोगी हो जाता है तब यह नाना प्रकारके बन्धनोंको कर लेता है। इसी सम्बन्धमें २ गाथाओं द्वारा ज्ञानसे चिगनेकी वृत्तिको बतलाते हैं

**जह पुरिसेणाहारो गहिओ परिणमइ सो अणेयविहं।
मंसवसारुहिरा ही भावे उयरगिनसजुत्तो ॥ १७९ ॥
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्प।
बज्झंते कम्मं ते णय परिहीणाउ ते जीवा ॥ १८० ॥**

बन्धविधि—जैसे किसी पुरुषके द्वारा ग्रहण किया गया आहार पेटकी अग्निसे संयुक्त होकर नाना प्रकारके मांस, मज्जा, खून आदि भावरूप परिणमता है उसी तरह ज्ञानी जीव के पूर्वमें रचा हुआ जो द्रव्यप्रत्यय है वह भावप्रत्ययसे संयुक्त होकर ज्ञानावणादिक नाना प्रकारोंमें पुद्गलकर्म को बाँधता है।

बन्धनमुक्ति विधि—भैया! यह जो कर्मोंका बंधन है वह शुद्धनयसे छूटेगा। अपने जीवनमें प्रेक्विकल भी यह बात करके देखलो, जब यह चित्त अपने आत्माको छोड़कर अन्य पदार्थोंमें विकल्प नहीं करता है, उनका ख्याल छोड़ देता है और स्वयं जिस स्वरूपमें है ज्ञानमय उस सहजस्वरूपमें जब अपनेको देखता है तो इसके ऊपर कोई संकट है क्या? कोई संकट नहीं है और जहाँ अपने आत्मस्वरूपके ध्यानसे चिगे और किसी भी बाहरी पदार्थ में चित्त लगा वहाँ चित्तमें शल्य संकट क्षोभ सब पैदा हो जाते हैं।

सहज आनन्दका सामर्थ्य—जब जरा अपना परिणाम तो देखो कि इस स्थितिमें किसी भी मिनट रह भी पाता है क्या? कि जब इसे अन्य पदार्थका भान न रहे, ख्याल न आए, केवल शुद्ध

ज्ञानस्वरूप ही उपयोगमें रहे ऐसा अवसर पाया कभी? जिसने ऐसा अवसर पाया वह धन्ध है। भाई सीधी बात तो यह है कि इन बाहरी पदार्थोंका विकल्प हटाकर केवल अपने शुद्ध ज्ञानप्रकाशमें उपयोग जाय, उसकी कोशिश करिये। किसी क्षण बैठकर, हिम्मत बनाकर कि जब सब भिन्न पदार्थ हैं, और किसी भी पदार्थसे हमारा रंच भी हित नहीं है तो भी विकल्प चार मिनट किसी भी परवस्तुका ख्याल न आने दें, फिर देखो अपने आपमें कितना अलौकिक ज्ञानप्रकाश उपयोगमें आता है और कितना अनुपम आनन्द प्रकट होता है। उस आनन्दमें ही ऐसी सामर्थ्य है कि भव-भवके बाँधे हुए कर्मोंको दूर कर देता है।

शुद्धनयसे च्युत होनेकी स्थितिमें गुजरने वाली घटना पर एक दृष्टान्त—जब शुद्धनयकी दृष्टिसे च्युत हो जाते हैं तो नाना प्रकारके कर्मोंको बंधन, चिंताएं, शल्य उत्पन्न हो जाते हैं, उसके लिए एक दृष्टान्त दिया गया है, मनुष्यने आहार किया, जब तक भोजन मुख में नहीं चबाया, न गलेसे गटका तब तक अपना सब प्रकारका वश है खायें चाहे न खायें। जो नुक्सान करने वाली चीज है उसे न खायें या कम खायें। सब प्रकारका वश है और जो खा लिया गलेसे नीचे चला गया, अब उसपर आपका क्या वश है? क्या ऐसा हो सकता है कि कोई रोग बढ़ाने वाली चीज खानेमें आ गई तो ऐसा सोचें कि यह न खाया हुआ हो जाय, यह तो खानेकी चीज न थी, तो क्या उसे हटाया जा सकता है? नहीं। कदाचित् उल्टी वगैरह भी कराकर हटाया जा सके तो वह हटाना है क्या? नहीं। या कुछ भी हो। जब तक भोजन नहीं किया तब तक स्वाधीन है, भोजन कर चुकनेके बाद उदाग्नि में पहुँचनेपर जैसा जो कुछ होना है, हो रहा है।

दृष्टान्तमें भोजनका प्रकृति और प्रदेशरूप बन्धन—वही भोजन कुछ मांसरूप परिणम जाता है, कुछ चर्बी बन जाता है, कुछ खून बन जाता है, कुछ मल बन जाता है, कुछ पसीना बन जाता है। भोजन तो किया एक ढंगका, पर उदराग्निका सम्बन्ध पाकर उस भोजनमें जैसी योग्यता है, शक्ति है उस रूप परिणम जाता है। यह तो उनकी प्रकृति हुई और स्कंध सम्बन्धमें यह हुआ उसका प्रदेशबंध।

परिणम चुका मांस, खून आदि रूपमें तो यह खून कितने दिन तक रहेगा? यह मल कितने दिन तक रहेगा? कोई १२ घंटे, यह मूत्र कोई ६ घंटे, यह पसीना कोई आध घंटे। गर्मीके दिनोंमें तो भोजन करते जाते हैं और वह भोजन पसीनेके रूपमें निकलता जाता है। तो जैसे पेटमें आए हुए भोजनका परिणमन है वह अपनी जुदा-जुदा स्थिति रखता है। कोई १० घंटे रह गया, कोई १२ घंटे रह गया, कोई आध घंटे रह गया, कोई २ घंटे रह गया तो ऐसी विचित्र स्थितियाँ हो जाती हैं।

दृष्टान्तमें भोजनस्कन्धकाअनुभाग बन्धन—उक्त तीन बन्धनोंके साथ ही कोई कम शक्ति देता है, कोई बड़ी शक्ति देता है, कोई शक्ति देता ही नहीं है। ऐसा अनुभाग बन्धन हो जाता है। जैसे इस भोजनका जो वीर्यरूप परिणमन है वह सबसे अधिक शक्ति देता है, जो मांसरूप परिणमन

है उससे कम, जो खूनरूप परिणमन है उससे कम, जो मलरूप परिणमन है उससे कम, जो पसीनारूप परिणमन है उससे कम शक्ति देने वाला है। तो भिन्न-भिन्न शक्तियाँ पड़ जाती हैं।

दृष्टान्त—इसी प्रकार जीवने जब तक रागद्वेष परिणाम नहीं किया तब तक तो इसका वश है, करे न करे कम करे, विवेकसे करे, किन्तु जहाँ मनसे स्वच्छन्द बनकर यह रागद्वेष मोहमें प्रवेश कर गया, परिणाम बन गये अब अपने ही आप ही विचित्र कर्मोंका बन्धन हो जाता है।

कर्मोंमें प्रकृतिबंधन व प्रदेशबंधन, स्थितिबंधन व अनुभागबंधनका कथन—जो नये कर्म बनते हैं उन कर्मोंमें ज्ञानावरण नामक, कुछ दर्शनावरण नामक कुछ वेदनीय, कुछ मोहनीय, कुछ आयु, कुछ नामकर्म, कुछ गोत्र, कुछ अन्तराय नामक नाना प्रकारके परिणमन बन जाते हैं। यह तो उनकी प्रकृति बनी और वे कार्माण परमाणु स्कंध जो जीवके साथ चिपटे हैं वह प्रदेशबंध हो गया। उसमें बुद्ध कर्ममें स्थिति पड़ जाती है कि वे सागरों पर्यन्त भिन्न स्थिति लेकर रहेंगे। ऐसी स्थिति बन जाती है, और साथ ही उन कर्मोंमें फल देनेकी शक्ति हो जाती है कि यह इतने दर्जेका फल देगा, यह कितने दर्जेका फल देगा, देख लो अपने आप पर कितना बड़ा संकट है?

वर्तमान परिणमन और यथार्थ कर्तव्य—जरासा पुण्य हुआ, वैभव हुआ तो लोकमें बड़ा कहलाना भूल नहीं सकते, अहंबुद्धि बनी रही, पर यह नहीं देखता कि इस जीवपर कितने संकट छाये हैं? कितना तो कर्मजाल बना हुआ है और कितने भवोंका संतान बना हुआ है। अभी मनुष्य हैं, मरकर और कुछ बन गए तो क्या कर लगे? कौन मित्र मदद कर देगा? इस संसारमें यह जीव अशरण है। इसे अपने ही परिणामोंसे पूरा पड़ता है। ये सब संकट किस अपराधसे आए हैं? वह अपराध है केवल एक। हमारा जो सत्य सहज स्वरूप है उस रूप हम अपनेको नहीं मान पाये, अपनेको नहीं मान पाये, अपनेको नानारूप मान बैठे, इतनी भर तो भूल है और इस भूल पर शूल इतने छा गए हैं कि जिनका बरदाश्त करना कठिन हो रहा है। एक एक भूल मिटे तो हमारे लिए वह मोह मार्ग खुला हुआ है। जिस मार्गपर चलकर अनन्त महापुरुष, परम आत्मा हुए हैं। जिनकी आज हम आराधना करते हैं, वैसे ही अपने स्वरूपपर दृष्टि देना है, अपने आपका अनुभव न करना है।

द्वन्द्वमें दंद-फंद—जैसे कोई बालक अकेला है तो अभी स्वतंत्र है, और जब शादी हो गई तो वह अपनेको मानने लगता है कि मैं स्त्री वाला हूँ। तो देखो उसके कितनी शल्य और चिंताएँ छा जाती हैं? ये आकुलताएँ आ गईं केवल इसलिए कि यह मान लिया कि मैं स्त्रीवाला हूँ। और कभी बच्चा हो गया तो यह मानने लगे कि मैं बच्चे वाला हूँ। अब उसकी मनुष्यतामें और भार आ गया। और मान लो बहुत अच्छी आय है, हर एक प्रकार का आराम है फिर भी चिंताएँ नहीं छोड़ सकते। हर्ष और मौजमें भी आकुलताएँ हैं सुख में भी आकुलताएँ हैं और दुःखमें भी आकुलताएँ हैं सांसारिक कोई भी सुख आकुलतारहित नहीं है। बहुत बढ़िया रुचिकर भोजन करते हैं फिर भी

शांतिसे भोजन नहीं करते हैं, भोजन करते हुए भी क्षोभ एकदम विदित हो जाता है। बिना आकुलतावोंके इस संसारमें कोई सुख भोग नहीं सकते। सर्वत्र आकुलताएँ ही आकुलताएँ हैं। यहाँ विश्वास करना धोखा है।

वर्तमान खतरा—यह सब तो बिना बुने हुए पलंगपर बिछा हुआ चादर है। जैसे बच्चे लोग बिना बुने हुए पलंगपर चादर तान देते हैं और कच्चे सूतसे उस पलंकी पाटीमें छोर बाँधकर उस पलंगको सजा देते हैं और किसी बच्चेको बुलाकर उस पलंगपर बिठाते हैं तो उसके बैठनेपर उसके पैर और सिर दोनों एक साथ हो जाते हैं। अपने चरणोंमें अपना सिरध धर लेता है। तो जैसे वह धोखेका पलंग है इसी प्रकार यह वैभव, सम्पदा, परिवारका संग जिसके लिए लौकिक जन हाले फूलों फिरते हैं ये सब खतरे वाले हैं। समयपर पापका उदय आये, सो आगे भी दुःख भोगना पड़ता है, कहीं शांति नहीं है, किन्तु मोही जीव इन परद्रव्योंका ही ख्याल करके मौज मानते हैं।

स्वप्नका सुख—एक लकड़हारा कुछ अपने साथी लकड़हारोंके साथ लकड़ी लेकर चला। धूपका समय था। रास्तेमें एक बड़ा वटका पेड़ मिला। पेड़के नीचे चारों ओर सब लोगोंने अपनी-अपनी लकड़ी टिका दिया और सोचा कि आराम कर लें। आराम करने लगे, इतनेमें नींद सभी के आ गई। उनमें जो मुखिया लकड़हारा था उसे गहरी नींद आई। जाना तो था ३ बजे और बज गए ४। सबकी नींद खुल गई, पर उस मुखियाकी नींद न खुली। वह नींदमें क्या देख रहा है कि मैं इन नगरका राजा बना दिया गया हूँ। सिंहासन पर बैठा हूँ। अब देखो पहिने तो है फटी लंगोटी जैसे कुछ थोड़े कपड़े, पर स्वप्नमें देख रहा है कि मैं राजा बन गया हूँ। बहुतसे लोग देख रहे हैं, मुझे नमस्कार कर रहे हैं, सबका मुजरा ले रहे हैं और लकड़हारोंने चूँकि देर बहुत हो गई थी सो उसे पकड़कर जगाया। चलो उठो चार बज गए। अब वह नींदसे उठा, जगाने वालोंसे लड़ने लगा, बड़ी गालियाँ देने लगा। तुमने मेरा खोज मिटा दिया, मैं एक राजा था और कितने ही दरबारियोंके बीचमें बैठा था, पर तुमने मेरा राज्य छीन लिया। सब लोग यह देखकर दंगरह गए कि मेरे मुखिया साहब क्या कह रहे हैं। तो वह तो था तीन मिनटका कल्पित राज्य और यह समझ लो मोह नींदका स्वप्न है २५-३० वर्षका।

मोह नींदके स्वप्नमें कल्पित मौजें या आकुलतायें—भैया! इस लोकके अनन्त काल के आगे ये २५-५० वर्ष क्या कीमत रखते हैं? यहाँ पर भी स्वप्न जैसा ही सारा काम हो रहा है। इसे जरा व्यापक दृष्टि लगाकर देखो। मैं आत्मा अनादिसे हूँ, अनन्त काल तक रहने वाला हूँ। इन अनन्त कालोंके आगे ये ४०-५० वर्ष तो स्वप्नवत् ही हैं। यह स्वप्न नहीं है तो और है क्या? इसमें मस्त मत हो। जैसे स्वप्नमें ही कोई चीज गुम जाय तो यह स्वप्नमें ही रोता है, इसी प्रकार इस मोहरूपी स्वप्नमें कोई चीज गुम जाय तो दुःखी होता है, रोता है, तो इस मोहकी नींदमें ही यह जीव हंसता है और मोहमें ही रोता है। वस्तुतः इस जीवका कुछ नहीं है। तो इसके परिणाममें इसे मिलता क्या है? केवल कर्मबंध और आकुलताएँ। हाथ कुछ नहीं आता।

रागद्वेष करने पर दुर्दशा न होने देनेका अनधिकार—तो जैसे जब तक न खाया तक तक अपना वश है और खा लेने पर उस भोजनका जो कुछ भी होना है स्वयमेव होगा। इसी प्रकार जब तक इसने रागद्वेष नहीं किया है तब तक स्ववश है, पर विकार करनेके बाद जो कुछ भी कर्मबंध होता है वह होकर ही रहता है। जैसे मुखसे वचन जब तक नहीं निकले तब तक तो इसके सामर्थ्य है कि वह सोच कर बोले, पर वचन मुखसे निकल जानेके बाद फिर वह चाहे कि ये वचन मुझे वापिस मिल जायें तो क्या यह हो सकता है? नहीं हो सकता। जैसे कोई लोग गाली दे देते हैं तो कहते हैं भैया! हमारे वचन हमें वापिस दे दो। तो क्या वे वचन मुट्ठीमें लेकर वापिस मिलेंगे? अरे वे वचन वापिस न हो सकेंगे, केवल एक कल्पना बना ले इतना ही हो सकता है। इसी प्रकार जब यह राग द्वेषमें उपयुक्त हो जाता है तब अपना पतन कर लेता है और दूसरोंकी बरबादीका भी निमित्त हो जाता है। रागद्वेष होनेपर तथा रागद्वेषवश चेष्टा हो जानेपर फिर पश्चात्ताप करनेसे वह परिणमन अपरिणमन नहीं बन जाता। “वह पाप मेरा मिथ्या होओ” ऐसी माफी मांगनेसे माफी नहीं मिलती। हाँ, यह बात अवश्य है कि सहजस्वभावमय अन्तस्तत्वके दर्शन होनेपर, उस स्वरूपकी उपासनाके होनेपर अन्तर्ध्वनि निकलती है कि अन्य सब दुष्कृत हैं, मिथ्या है, यहाँ कहाँ हैं? इस परम उपासनाके प्रसादसे कर्मकलङ्क क्षीण हो सकते हैं। अपना तो कर्तव्य है कि वीतराग ज्ञानस्वरूपकी भावनासे राग द्वेष पर विजय पाना चाहिये।

आस्रवसे दूर रहनेके लिये मन वचन कायकी सम्हालका अनुरोध—भैया! मुखसे निकले हुए वचन अपना कर्म करके ही रहते हैं। उनपर वश नहीं चलता। किसीको बुरा बोल दिया, किसीकी निन्दा कर दी, निकाल चुका वचन, अब तो उसका झगड़ा बन गया। उसपर अब वश नहीं रहा। जब तक वचन न निकले थे तब तक तो वश था। जैसे धनुष बाण धनुर्धारीके हाथमें है, जब तक बाण न छोड़े तब तक वश है, जब विचार कर लें और धनुष पर बाण लगाकर तानकर छोड़ दिया और फिर कहे कि अरे बाण! मैंने भूलसे छोड़ दिया, तू वापिस आ जा, तो क्या यह वापिस आ सकता है? नहीं आ सकता है। इसी प्रकार यह भी तो वचनबाण है। जब गुस्सेमें होकर बोलते हैं तो यह मुख धनुषकी तरह पसर जाता है। जैसा धनुषका आकार है वैसा ही इसका मुंह हो जाता है। मुंह फाड़कर देख लो, एक तरफ धनुषका डोरा-सा है और एक तरफ धनुषका डंडासा है। अगर यह तन गया और उससे वचनबाण निकाल दिया, तो फिर तुम्हारा वश नहीं है कि उसे वापिस कर लो। जिसपर वचनबाण छोड़ दिया उसके तो वह घाव करेगा ही, लेकिन जिसके यह वचन बाण बिधेगा वह कुछ कमजोर तो नहीं है। आखिर चेतन ही तो है, वह उपद्रव ढा देगा, झगड़ा और विवादमें पड़ जायगा। मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह तन, मन, वचन इन तीनों चीजोंका सदुपयोग करे। इस मनुष्यजीवनका दुरुपयोग न हो और तन, मन, वचनोंका दुरुपयोग न हो तो उससे आस्रवमें अन्तर पड़ जाता है। इसी कारण ग्रन्थकारोंने कहा है कि कायवाङ्मनःकर्मयोगः, स आस्रवः। काय वचन व मन इनका योग की आस्रव है। ये आस्रव नहीं हैं, पर आस्रवके निमित्तभूत

होनेसे उसका ही उपचार किया गया है। जब हम तन, मन, वचनको वशमें रखते हैं और अपने उपयोगको शुद्धनयके विषयमें लगाते हैं, आत्माके शुद्ध स्वरूपको देखते हैं तब तो अबंधक हैं और जैसे ही अपने स्वरूपसे चिगे कि विकट बंधनमें पड़ जाते हैं।

अपने भले-बुरेके लिये स्वयंपर जिम्मेदारी भैया! पलंगपर पड़े हैं तो क्या, घरमें बैठे हैं तो क्या, किसी भी जगह हैं तो क्या, चल भी रहे हैं तो क्या, उपयोग तो अपने आपके पास है। जैसे चलते फिरते मुम्बई और कलकत्ताका ख्याल किया है, तो ऐसा ख्याल किया जाता है कि रास्तेका पता भी नहीं पड़ता कि कैसे यहाँपर आ गए। तो जैसे चलते फिरते हम उपयोगमें एकाग्रतासे परवस्तुओंका विचार किया करते हैं, ऐसे ही हम इस प्रकार चलते फिरते, पड़े, लेटे, या खाते पीते भी अपने उपयोगसे अपने शुद्ध स्वरूपकी दृष्टि किया करें तो उसे रोकनेवाला कौन है? हम ही न करें तो हमारा अपराध है। करते तो हम अपराध है, अपने भावोंको ठीक हम नहीं रख सकते हैं, पर दोष देते हैं दुनिया भरको। अमुक भैयाने यों अपराध किया इसलिए मुझे नुक्सान हुआ। उसने मुझे यों कह दिया इसलिए ऐसा हो गया।

नाच न आवे आंगन टेढ़ा भैया! सब जीव स्वतन्त्र हैं, वे अपनेमें अपना परिणमन करते हैं। वे अपनी शांतिके लिए अपनी कषायकी चेष्टा करते हैं, हम आप अपनी ही कल्पनाएँ बनाकर अपने आपमें चिंता और शल्य बनाते हैं, और परका नाम लगाते हैं कि इसने मुझे दुःखी किया। जैसे एक कहावतमें कहते हैं नाच न आवे आंगन टेढ़ा। यह बहुत बढ़िया मंदिर बना है, नाप तोलसे कोई कसर तो नहीं है और इसमें नृत्य शुरू करा दिया जाय संगीत द्वारा। नाचने वाला कभी सफल होता है और कभी नहीं सफल होता है। यदि उसका नाच न जमे तो अपनी कलाका दोष छिपानेके लिए कहता है कि अजी आज तो नृत्य जमेगा नहीं। यह आंगन तो ढंगका नहीं है। यही है नाच न आवे आंगन टेढ़ा।

संकटसे बचनेका यत्न सो भैया! हम दुःखी तो होते हैं खुद अपने भ्रमसे, रागद्वेषोंसे और दोष दिया करते हैं दूसरोंको, घरके भैया बड़े बुरे हैं, अमुक पुरुषने मेरे साथ यों बर्ताव किया। अरे अपने ज्ञानस्वभावमें डुबकी लगा ले, तुझे कोई दुःखी नहीं करता। जैसे कभी गाँवके बाहर जाते हुए में मधुमक्खियाँ किसीके पीछे काटनेके लिए लग जायं तो वह दुःखी होता है। कैसे इनसे छूटें? क्या पेड़के नीचे जानेसे वे मक्खियाँ काटना बंद कर देंगी? नहीं। क्या घरमें घुस जानेसे या किवाड़ बंद कर देनेसे वे काटना बंद कर देंगी। नहीं। तो अब वह अशरण है। उसे केवल एक उपाय है उनसे बचनेके लिए कि पासमें जो एक तालाब है उसमें घुस जाय तो फिर वे मक्खियाँ क्या उसका कर लेंगी? जरा समझदार हो तो थोड़ा पानीके भीतर ही तैरकर २० हाथ दूर निकल जाय। लेकिन पानीमें कब तक रहेगा, दिल घबड़ा जायगा। वह पानीसे सिर निकालता है फिर उसे मक्खियाँ घेर लेती हैं। फिर डुबकी लगाकर १०-२० हाथ दूर निकल जाय तो वह बच जाता है।

शल्योंका लगाव और विलगाव इसी प्रकार जीव को ये सब चिंता शल्य इत्यादि घेरे हुए हैं, यह घबड़ा गया, अब इसको कोई उपाय नहीं दिखता। क्या पिताकी गोदमें बैठ जानेसे चिंताएँ

और शल्य मिट जायेंगी? नहीं। किसीको घरमें इष्टका वियोग हो जाय तो उसे समझानेके लिए कितने ही लोग आते हैं, प्रेमी रिश्तेदार आते हैं, साले, बहनोई आदि ये सब समझाते हैं, भैया दुःखी न हो, पर उसके अन्दर तो एक कल्पना उठ गई है। उस कल्पनाका शल्य कौन मिटा दे? उसका शल्य तो तब मिट सकता है जब कि वह ज्ञानसरोवर में डुबकी लगा ले।

प्राक् पदवीमें सम्यग्दृष्टिका पुनः-पुनः यत्न यत्न सम्यग्दृष्टिके कर्मविपाकवश जब चिंता और शल्य घर कर जाती हैं तो वह यही उपाय करता है कि दृष्टि झुकाकर अपने आपके शुद्धस्वरूपका अनुभव कर लेता है किन्तु इस पदवीमें ऐसे ज्ञानसरोवरके बीचमें कब तक डूबा रह सकता है? इसे घबड़ाहट उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि भीतरमें रागकी प्रेरणा हो गई तो फिर अपना सिर निकालता है, अपना उपयोग फिर बाहरमें लगाता है, थोड़ी देर फिर कुछ पूर्व अनुभवके संस्कारसे चैनसे रहा, फिर बेचैन हो जाता है। इस बेचैनी और शल्यको दूर करनेके लिए वह इस ज्ञानसरोवरमें डुबकी लगा जाता है। जब तक यह जीव बाह्य पदार्थोंसे हटकर केवल ज्ञानस्वरूप आत्मतत्वकी दृष्टिमें रहता है तब तक यह जीव अबंधक है, चिंता और शल्यसे दूर है।

शुद्धनयसे चिगनेपर बन्धन ज्यों ही वह शुद्धनयसे चिगा त्यों ही वे संकट फिर सामने आ जाते हैं। तो इस शुद्धनयसे चिगनेपर चूँकि इसके रागादिक भावका सद्भाव है सो पूर्वकालमें बाँधे हुए इन द्रव्य पुद्गल कर्मोदयोका अपने निमित्तके हेतुभूत रागादिकके सद्भावके कारण कर्मबंधनरूप कार्य होना अनिवार्य है। सो ये अन्य-अन्य प्रकारके ज्ञानावरणादिक पुद्गल कर्मोंके रूपसे परिणम जाते हैं। इसके लिए जो भोजनका दृष्टांत दिया है इससे बिल्कुल बात स्पष्ट हो जाती है।

बंधके प्रसंगमें हमारा विपरिणमनपर ही अधिकार भैया जैसे लोग केवल उस बने हुए पटाकामें आगे ही छुवाते हैं, पटाका फिर अपने आप फूटता है और जो सुरू देकर उठने वाला पटाका है, जो लाल, पीला, हरा रंग देते हैं। क्या उनको हम करते हैं? नहीं। केवल आग छुवा दी फिर काम स्वयमेव हो जाता है। इसी तरह हमने तो केवल रागद्वेष मोह किया, फिर शल्य होना, कल्पना होना, नवीन कर्मबंध होना, ये सारीकी सारी बातें इस जीवनमें अपने आप हो जाया करती हैं। इससे अपने आपमें सचेत रहना चाहिए, परिणामोंमें मलिनता कदाचित न आए तो यह सबसे बड़ी भारी सम्पत्ति है।

शुद्धनयसे च्युत न होनेकी भावना जो पुरुष वस्तुके सहज शुद्ध स्वरूपको देखता है वह कर्मोंसे नहीं बंधता। कर्मोंको बाँधने वाला भाव है दो द्रव्योंके परस्परमें सम्बन्ध तकने वाला भाव। जो शुद्धनयका आलम्बन करके वस्तुके एकत्वस्वरूपको देखता है वह पुरुष अबंधक है। यहाँ तात्पर्य यह लेना कि शुद्धनय हेय नहीं है। हे प्रभो! लौकिक विपंक्तियाँ चाहे कितनी ही आ जायें, सम्पत्तिकी कमी हो, लौकिक इज्जत भी नष्ट हो, सर्व परिचित लोग भी विपरीत परिणममें कुछ भी हो, यहाँ कोई आपत्ति नहीं है। यह तो परवस्तुका परिणमन है। जिसको जैसा परिणमना है परिणमता है,

किन्तु मैं अपने अन्तरमें अपने उपयोग द्वारा एक उस शुद्धनयका आलम्बन किए रहूँ। जिसके प्रतापसे कर्मोंका सम्बर और निर्जरण होता है।

शुद्धनयके आलम्बनके प्रतापसे सिद्धि भैया! शुद्धनयका त्याग न रहे, आस्रव रहे तो बंध नहीं होता और जहाँ शुद्धनयका त्याग हुआ कि बंध होने लगता है। देखो समस्त पदार्थोंको वे स्वयं अपने आपकी सत्ताके कारण जैसे अवस्थित हैं उस ही रूपमें उन्हें निरखें। सर्व सम्पत्तिसे उत्कृष्ट सम्पत्ति क्या है अन्तरमें शुद्धनयका आश्रय न छोड़ना। ऐसी भी विपदाएँ आवें कि जिनसे तीन लोकके प्राणी भी चलते हुए मार्गको छोड़ दें, फिर भी यदि उसके शुद्धनयका आलम्बन नहीं छूटा है तो वह नुकसानमें नहीं होता, लाभमें होता है। जिनते भी अभी तक महात्मा सिद्ध बने है। वे एक इस शुद्धनयका आलम्बन करके ही बने हैं।

उन्नत होनेवाले जीवका लक्ष्य जैसे कोई सीढ़ीसे चढ़कर ऊपर आता है तो जिस सीढ़ीपर चढ़ना है उस सीढ़ीको नहीं देखता है, आगेकी ऊपरकी सीढ़ीको देखता है। जिस सीढ़ीपर वह पैर रखता है उस सीढ़ीसे प्रेम नहीं करता, उसका प्रेम ऊपर आनेको है। इसी प्रकार रागादिक उदयवश विवेक जागृत होनेके कारण कुछ शुभ क्रियावोंमें प्रवृत्ति होनेपर भी शुभ क्रियावोंकी प्रवृत्ति सीढ़ी पर पैर रखनेके समान है। जिस सीढ़ीपर पैर रखा जाता उस सीढ़ीपर दृष्टि नहीं रहती है, ऊपर दृष्टि होती है, इसी प्रकार जिस प्रवृत्तिमें यह सम्यग्दृष्टि जीव होता है उस प्रवृत्तिमें इसका लक्ष्य नहीं रहता है, इसका लक्ष्य ऊपरकी ओर रहता है। वह कौन-सा पद है जिस पदकी दृष्टि इस ज्ञानी जीवके रहती है, वह है परमार्थ पद, वस्तु के सहज स्वभावका दर्शन।

शुद्धनयकी आदेयता कल्याणार्थी महापुरुषोंको शुद्धनय कभी भी न छोड़ना चाहिए, अपने आपके ज्ञानस्वरूपमें बँधा हुआ रहना चाहिए। अपने ज्ञानको स्थिरता और धीरतासे बाँधना चाहिए। यह हमारा बोध स्थिर है, गम्भीर है, शांत है, अक्षोभ है। यह हमारा ज्ञान उदार है, रागद्वेषमें ही अनुदारता सम्भव है। मात्र जाननमें अनुदारता कहाँसे आती है? वहाँ सर्व विश्वका ज्ञाताद्रष्टा रहता है। यह इसकी महिमा अद्भुत है। लोकमें सर्वस्व सार यही शुद्ध ज्ञानमात्र तत्वका दर्शन है। यह ज्ञानस्वभावी आनन्दनिधान आत्मा है। इसमें स्थिरता करना चाहिए। यह स्थिरता करना चाहिए। यह स्थिरता शुद्धनयके आलम्बनसे प्रकट होती है और इस स्थिरता के प्रभावसे फिर शुद्धनयका ग्रहण दृढ़ होता है।

शुद्धनयकी सर्वकषता यह शुद्धनय कर्मोंका सर्वकष है। जैसे सेवकसी कसनेका कद्दू आता है बारीक छेद वाला। यदि चाकूसे बनाया जाय तो उसके खण्ड-खण्डमें बड़े-बड़े अंश हो जाते हैं, पर कद्दूकसपर कसनेसे वहाँ सर्वकषता हो जाती है, कण-कण कस दियाजाता है। इसी प्रकार यह शुद्धनयकी दृष्टि, आत्माके सहज एकत्वस्वरूपकी दृष्टि सर्व प्रकारकी प्रवृत्तियोंको, कर्मोंको सर्वथा कस डालती है, बाहर कर देती है।

उद्देश्यसिद्धिसे कार्यसफलता भैया! भोजन बनानेका प्रयोजन तो भोजन खाना है। कोई भोजन तो खूब बनाया करे और खानेका काम ही न रखे तो उसे लोग पागल अथवा यह अविवेकी है कहने लगेंगे। इसी प्रकार हम लोग सारे काम तो करें, मंदिर आएँ, सुबह नहायें, पूजा करनेमें २ घंटे समय दें, स्वाध्याय करें, गुरु सत्संग करें, सब कुछ तो कष्ट करें, भोजन तो बनाएँ पर उसे खायें नहीं; अर्थात् इन सब कष्टोंके करनेके फलमें यह चाहिए था अनुभव कि एक आध मिनट सर्वविकल्पोको त्यागकर आत्माके शुद्ध सहज ज्ञानज्योतिका दर्शन करें, लौकिक आनन्दका ही भोग करें, यह करें। नहीं तो ये सर्व हमारे कर्म उसी प्रकार हुए कि भोजन बनाया और खाया नहीं।

अपना अन्तिम और उत्तम सहारा शुद्धनयका अवलम्बन इस लोकसे पार उतारने वाला कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है। मुझे किसीका कोई सहारा नहीं, इस लौकिक सुख सुविधा तकके लिए दूसरोंका विश्वास नहीं है तो मुक्तिके लिए तो विश्वास ही क्या है? वह तो एक अनैमित्तिक काम है। जितना भी मेरा अनष्टि हो सके, हो जितना भी मुझपर उपद्रव हो सकता हो, हो, सब इष्ट दूर हो जावें, और जितने भी उपद्रव उपसर्ग आ सकते हों, आयें, पर हे नाथ! एक शुद्धनयका आलम्बन मैं न छोड़ूँ। यह मैं शुद्धनयके प्रतापसे अपने आपमें गुप्त रहकर अपना गुप्त कल्याण कर लूँगा। किसी भी मुमुक्षु पुरुषको शुद्धनयका त्याग कभी भी नहीं करना चाहिए। यह शुद्धनय सर्वकर्मोंका सर्वकष है।

आत्माकेन्द्रकी स्थितिमें ज्ञानव्यक्तियोंका सिमटन ये सर्व व्यवहारधर्म उनको भूल जानेके लिए किया जाता है। तो कोई कहे कि यह व्यवहारधर्म इसी व्यवहारधर्मको भूल जानेके लिए किया जाता है तो हम पहिले ही न भूले रहें। सो भैया! इस प्रकारसे भूलनेके लिए नहीं कहा जा रहा है। व्यवहारधर्म करते हुएमें ऐसी अध्यात्म स्पिरिट लगावो कि वहाँ केवल आत्माके एकत्वस्वरूपका दर्शन हो, व्यवहाधर्मकी खबर ही न रहे। जो पुरुष आत्माके एकत्वके दर्शनरूप शुद्धनयमें स्थित हैं, ओहो वे अपने ज्ञानकी व्यक्तियोंको तत्काल समेट लेते हैं। कितना विशाल ज्ञान है ज्ञानी पुरुषका? गुणस्थानमें समय-समयकी बात तो आगम ज्ञानके प्रतापसे ज्ञात है। तीन लोक, तीन कालके पदार्थोंकी रचनावर्णोंका भी आगमज्ञानके उपायसे बड़ा ज्ञान हुआ है। सिद्ध लोक तककी जानते हैं, नीचे निगोद स्थान तककी जानते हैं। ३४४ घनराजू प्रमाण लोकमें कहाँ क्या है सबका ज्ञान है, किन्तु जब शुद्धनयका आश्रय करके यह ज्ञात आत्माके एकत्वका ज्ञान करता है तब सारे ज्ञानकी विशेषता सिमित जाती है, सिकुड़ जाती है।

ज्ञानवृत्तियोंके सिमितनेका परिणाम निर्विकल्प आनन्द उन समस्त ज्ञानकी वृत्तियों को समेटकर इन कर्मोंके चक्करसे बाहर निकले हुए ज्ञानघन निश्चल शांतरूप निजप्रतापका यह अन्तरात्मा अवलोकन करता है। व्यवहाका प्रवर्तन और निश्चयका अवलोकन इन दोनोंका जहाँ समन्वय हो रहा है, बात मिल रही है ऐसी ज्ञानी संतोंकी यह चर्चा है। वे अपने आप उस सहजस्वरूपका अवलोकन करते हैं। तात्पर्य यह है कि जब यह जीव केवल आत्माके सहजस्वरूपको देखता है तब समस्त ज्ञान विशेषको गौण करता है। जैसे भोजन जिस काल बनाया जा रहा है उस

काल नाना बुद्धियाँ होती रहती हैं। इसमें अच्छा घी डाला, खूब सेंका, बादाम भी डाला, इतना काम और करना था, चीज बहुत बढ़िया बन रही है, इसमें सारी मूल्यवान सामग्री डाली जा रही है। नाना विकल्प किए जाते हैं और पात्रमें परोसा तब तक विकल्प चलते हैं, पर जिस समय वह केवल उसका स्वाद एक चित्त होकर लेता है, तो इसमें क्या पड़ा है, कितना पड़ा है वह सब ज्ञान विशेष सिमित जाता है। केवल वह स्वादका आनन्द लेता है।

शाश्वत स्वाधीन आनन्द पानेकी अलौकिक वृत्ति—अलौकिक जनोंकी अलौकिक प्रवृत्ति होती है। वे सारे विश्वको जानते हैं। असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। उनमें कहाँ क्या रचना है, अधोलोक ऊर्ध्वलोक कहाँ है, इस प्रकार सर्जन कहाँ है, कैसे कर्म हैं, कैसे बंधन हैं, कैसे उदय होता है और समय-समयपर क्या स्थितियाँ बनती हैं? बड़ी गहन सूक्ष्म चर्चा ज्ञात है, इतना बड़ा ज्ञान है और इतना ज्ञान विकल्प इनके बहुत काल तक रहता है, किन्तु जब वे उन सब ज्ञानके फलरूप शुद्धनयकी दृष्टिरूप अनुभव करते हैं उस समय वह सब ज्ञान विशेष सिमित जाता है। वहाँ ठहरता नहीं है। और केवल एक वीतराग निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न हुआ शाश्वत निर्वाण स्वाधीन सहजानन्द अनुभूत होता है।

शुद्धनयकी अवक्तव्य महिमा—इस शुद्धनयको कौन वर्णित कर सकता है? सहस्र जिह्वयें भी हों तो भी इसका प्रताप कहा नहीं जा सकता है। हमारे सारे संकटोंको दूर करनेमें समर्थ है तो वह इस शुद्धनयका आश्रय ही है। अपने जीवनका एक लक्ष्य बनावो। वस्तुस्वरूप अपने आप सहज जैसा है उसके ज्ञाताद्रष्टा रहो। इस शुद्धनयके आलम्बनसे ही मुक्ति प्राप्त होती है। पर व्यवहारनयसे तो कुछ ज्ञान न करे और केवल शुद्धनयकी महिमा जानकर सीधा शुद्ध यमें प्रवेश करनेका साहस करे तो उसके शुद्धनयका आलम्बन होना कठिन है। अतः दोनों नयोंका परिज्ञान करके और विरोध न करके आत्महितके लिये शुद्ध नयका आश्रय करें। जो शुद्धनयको देखता है वह साक्षात् प्रभुके दर्शन करता है।

सहज परमात्मत्वके दर्शनका आनन्द या अनुभव वचनोंसे नहीं बताया जा सकता है। वचनोंसे तो किसी भी इन्द्रियका विषय नहीं बताया जा सकता है। कल सनिमामें किसीने जो कुछ देखा हो उसे आज बताये तो क्या बता सकता है? नहीं। कहीं से बहुत उत्तम राग रागनियोंका संगीत सुनकर कोई आया हो और बहुत ही ठाठका आनन्द जमा हो, उसको बादमें वचनोंसे बताना चाहेतो बता सकता है क्या? नहीं। अधिकसे अधिक इन शब्दोंमें कहेगा कि वहाँ बहुत आनन्द जमा था। किसी भोज्यवस्तुका स्वाद जो लेता है वह दूसरेको बताना चाहे तो क्या बातोंसे बताया जा सकता है? नहीं। इन्द्रिय विषयोंके अनुभवकी भी बात दूसरोंको वचनोंसे बताई जाना अशक्य है। उसका तो उपाय यही है कि वह वस्तु उसको खिला दी जाय तो जान जायगा। दूसरे दिन सनिमा दिखा दिया जाय तो समझ जायगा। इस शुद्धनयके आलम्बनसे जो एक विलक्षण दुर्लभ आत्मीय आनन्द प्राप्त होता है उस आनन्दको किसी प्रकार वचनों द्वारा बताया जा सकता है क्या? नहीं।

सहज आनन्दकी रुचिमें उसकी प्राप्तिकी सुगमता—उस सहज आनन्दके जाननेकी तो तरकीब इतनी है कि कुछ समय, महीनों या वर्षों आत्मज्ञान व आत्मसंयम करिये। अधिकसे अधिक समय निकालिए आत्मकल्याणके लिए, आत्मचिंतनके लिए। अन्य काममें फँसे होने की हालतमें संक्लेशसहित एक घंटा समय बचाकर धर्मध्यान करनेके लिए आयें तो वह धर्मका क्षण मिलना दुर्लभ है? समय ही धर्मके लिए ही सब ओर चल करके पछतावाका मन बना करके अन्य कामोंके लिए जाना पड़े, ऐसी धर्मकी रसीली स्थिति बने तो ऐसेमें आत्मानुभवका क्षण मिलना सुगम है। इस शुद्ध नयमें कोई अन्तर्मुहूर्त भी तो ठहर जाय, वहाँ शुक्ल ध्यानकी प्रवृत्ति होकर केवलज्ञान उत्पन्न हो सकता है। यद्यपि यह सामर्थ्य आजकल हम आपमें नहीं है किन्तु इसकी रुचि तो तीव्र होनी चाहिए।

अवसर चूकनेका दुष्परिणाम—भैया! धन वैभव, जिसके मिलनके कारण विवाद और संकट खड़े हो जाते हैं उनकी उपेक्षा करके प्रधानतया एक इस आत्मानुभवकेलिए तो कमर कसकर रहना चाहिए। अन्यथा हमें तुम्हें जानने वाला कौन है? इस समय तो यह सारा स्वप्न है। स्वप्नमें जैसे सारी बातें सत्य मालूम देती हैं इसी तरह मोहके स्वप्नमें सारी बातें सत्य मालूम होती हैं, सारी चीजें सत्य शरण मालूम होती हैं। यहाँसे हटे इस ३४३ धन राजू प्रमाण लोकमें न जाने किस जगह फिके, तो वहाँ शरण कौन होगा? एक निर्णय रखो, शरीर छिदता हो छिदे, विपत्तियाँ आती हों आँ, लोग विरुद्ध बनते हों बने, कितने भी उपद्रव आँ पर तुम्हारा काम तो एक अपने आपमें उस शुद्धनयका आश्रय लेना है। इस दुनियासे अपरिचित बन जावो। हमें दुनियामें कोई जानता ही नहीं। जिसको हम नहीं जानते उससे हमारा स्नेह नहीं होता, भय नहीं होता है, चिंता नहीं होती है। यह सारा जीव लोक मुझसे अपरिचित है, मैं किसीको नहीं जानता हूँ और न मुझे कोई जानता है। मोहकी नींदके स्वप्नमें यह सम्बन्ध माना जा रहा है।

भेषके ज्ञानमें भेषके प्रभावकी समाप्ति—अब यह आस्रव अधिकार पूर्ण हो रहा है। आस्रवके भेदमें जो ये पुद्गलकर्म इस उपयोगीरूपी रंगभूमिपर अपना नाटक कर रहे थे, इन दर्शकोंको उसके भेषका पता हो गया है। अब उसके इस भेषको देखकर रस नहीं आता है। जैसे किसी ड्रामा और नाटकमें दर्शक इस बातपर निगाह रखें कि यह तो अमुकका लड़का है। और अमुकका भेष बनाकर आया है। इस ज्ञानके होनेपर उस दर्शकको उस नाटकमें रस नहीं आ सकता है। इसी प्रकार इस सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषको आस्रवके भेषमें आए हुए इन पुद्गल स्कंधोंका पता है और आस्रवके भेषमें आए हुए इन जीवोंका पता है, इस कारण अब इसे आस्रवके नाटकमें रस नहीं आता। जानता है कि ये सारे भिन्न काम हैं। ऐसा ज्ञान होनेसे उस आस्रवके भेषमें आए हुए वे कर्म दूर हो जाते हैं अर्थात् अब सम्वरतत्त्व प्रकट होने वाला है।

नीरसतामें ड्रामा बेकार—ड्रामा करनेवालेको जब कोई उत्साह ही नहीं देता और ग्लानिभरी उपेक्षाभरी दृष्टिसे देखते हैं तो नाटक करने वाला या उसका मैनेजर किसी भी बहानेसे उस नाटकको

बंद कर देता है। यहाँ तो दर्शकोंको रस ही नहीं आ रहा है। यह मिथ्यात्व अविरति कषायरूप आस्रव इस प्रभुको अपना नाटक दिखा रहा है, किन्तु इस प्रभु को यथार्थ ज्ञान होनेके कारण इसमें रस ही नहीं आ रहा है। तो यह चिदाभास इसका मैनेजर मोहभाव इस नाटकको बंद कर देता है। ये जन बड़े प्रभावको देखना चाहता हैं, उन्हें इसमें रस नहीं आ रहा है तो नाटक कैसे दिखाया जाय, कहाँ किया जाय? इन रागादिक कषायोंके क्षणमात्रमें दूर होनेसे नित्य उद्योतमान यह परमतत्वका अवलोकन करने वाला ज्ञान बड़ी वेगसे फैलता है। अपने रसके प्रवाहसे समस्त लोक पर्यन्त समस्त भावोंको अपने अन्तरणमें मग्न करते हुए अब प्रकट होता है अर्थात् अब आस्रवका भेष समाप्त होता है और सम्वेतत्वका उदय होता है।

संवरतत्त्वके आगमनके समयका अनोखा वातावरण—यह प्रकारण आस्रवकी समाप्ति और सम्वरका प्रारम्भ करानेवाली संधिका है। इसमें वृत्ति और निवृत्तिरूप अनोखा वातावरण है। जैसे किसी बड़े ऑफिसरका तबादला होता है और नये ऑफिसरको चार्ज देना होता है तो चार्जके समय एक अनोखा वातावरण रहता है। यह परिवर्तित ऑफिसर अपना चार्ज दे रहा है, उसे अब इसमें ममता नहीं रही, सम्हालनेका मनमें संकल्प नहीं रहा। यह इन भावोंको रखते हुए चार्ज दे रहा है और नया ऑफिसर किसी उमंगको लेकर चार्ज ले रहा है। अब मुझे सब कुछ करना पड़ेगा यह सम्वरकारक ज्ञान बड़ी उमंग, बड़े जोश और कीर्तिके साथ इस ज्ञानीके उदित हो रहा है। जब यह ज्ञान उदित हुआ तो यह आस्रव अपना भेष बदलकर निकल जाता है। इस प्रकार यह अधिकार पूर्ण होता है।

॥ इति समयसार प्रवचन सप्तम भाग समाप्त ॥